भारत के
उदासीन सन्त



भारतके उदासीन सन्त

आचार्य्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी

प्रकाशक :
अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्,
काशी

●

मुद्रक :
सुदर्शन मुद्रक,
६३/४२, उत्तर बेनिया बाग,
वाराणसी-१

●

प्राप्ति-स्थान :
अखिल भारतीय विक्रम परिषद्,
काशी

●

विक्रम-संवत् २०२४

●

मूल्य : ५ रुपए

●

क्रमिका



कृतज्ञता

अखिल भारतीय विक्रम-परिषत्की स्थापना प्रातःस्मरणीय महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीने सम्वत् २००० वि० में विक्रम-द्विसहस्राब्दीके अवसरपर की थी। इस परिषद्के अनेक लक्ष्यों में एक लक्ष्य यह भी था कि संस्कृतके प्रसिद्ध ग्रन्थोंका अनुवाद कराया जाय और हिन्दीमें उच्च कोटिके ग्रन्थ लिखवाकर प्रकाशित कराए जायँ। तदनुसार परिषद्ने सर्वप्रथम मूल तथा अनुवाद-सहित कालिदास-ग्रन्थावली प्रकाशित कराई जिसका व्यापक स्वागत, अभिनन्दन और प्रचार हुआ तथा जिसके तीन संस्करण प्रकाशित कर दिए गए। इसके पश्चात् परिषत्के द्वारा अभिनव नाट्यशास्त्र तथा समीक्षा-शास्त्र जैसे विशाल ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ।

पिछले वर्ष परिषद्ने विचार किया कि भारतके उदासीन सम्प्रदायमें ऐसे बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान्, त्यागी, तपस्वी तथा लोकसंग्रही महापुरुष हो चुके हैं जिनकी विराट् परम्परा समस्त भारतमें व्याप्त है और जिन्होंने छोटे-बड़े अनेक स्थानोंमें संस्कृत-विद्याके ऐसे प्रबल गढ़ स्थापित कर दिए हैं जिनमें शिक्षा प्राप्त करके अनेक विद्या-वरेण्य जिज्ञासु, ब्रह्मचारी, साधु तथा महात्मा वेद, दर्शन, साहित्य आदिकी शिक्षा प्राप्त करके भारत भरमें अनेक आश्रम स्थापित करके सनातनधर्म, संस्कृत-विद्या, भारतीय संस्कृति और धार्मिक जीवनका प्रचार, प्रसार, संरक्षण और उपदेश कर रहे हैं।

यह कम आश्चर्य और गौरवकी बात नहीं है कि काशीके प्रसिद्ध सन्त, विद्वान् और मनीषी काष्ठजिह्व स्वामीने उदासीन-साधु-स्तोत्र लिखकर उदासीन साधुओंकी बड़ी महिमा गाई है। अतः, परिषद्ने यह निश्चय किया कि 'भारतके उदासीन सन्त' नामक विशाल ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय जिसमें उदासीन-सम्प्रदायकी परम्पराके क्रमानुसार प्राचीन कालसे लेकर अबतकके उदासीन सन्त-महात्माओंका ऐतिहासिक दृष्टिसे जीवन-परिचय दे दिया जाय।



[आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी]

इस महत्कार्यके लिये ऐसे प्रकांड विद्वान्की अपेक्षा हुई जिसका संस्कृत और हिन्दी साहित्यके साथ-साथ वेद, वेदांग, दर्शन तथा इतिहासपर भी पूर्ण अधिकार हो। सर्व-सम्मतिसे यह निश्चय

किया गया कि इस पांडित्य-प्रतिभा-साध्य कार्यके लिये प्रसिद्ध और सिद्ध ग्रन्थकार अभिनवभरत आचार्य सीताराम चतुर्वेदीजीसे निवेदन किया जाय। अपने स्वाभाविक शील और निश्छल उदारतासे उन्होंने अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी परिषत्का यह आग्रह स्वीकार करके बड़ी अनुकम्पा की और अनल्प कालमें ही यह ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया। इस प्रकारके ऐतिहासिक ग्रन्थ-निर्माणके लिये कितना परिश्रम, पांडित्य, समय और साधन अपेक्षित है यह प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति भली प्रकार समझ सकता है। आचार्य चतुर्वेदीजीके इस महत्त्वपूर्ण सहयोगके लिये परिषद् उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती है।

इतनी विशाल सन्त-परम्पराका परिचय किसी छोटे ग्रन्थमें दे सकना सम्भव नहीं हो समझा गया। अतः, यह विचार किया गया कि इसे दो खण्डोंमें प्रकाशित किया जाय क्योंकि उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिमतक फैले हुए इस विशाल • उपमहाद्वीपमें उदासीनोंके एक सहस्रसे भी अधिक आश्रम, पाठशाला, स्थान या डेरे हैं जिनमें न जाने कितने सहस्र उदासीन साधु विहंगम या गृहस्थ वेषमें उस उदात्त जीवन-चर्याका पालन कर रहे हैं जिसकी परम्परा इतिहास और पुराणोंमेंसे होती हुई श्री श्रीचन्द्राचार्यजी-द्वारा चार धूणों, छह वख्शीशों और दस उप वख्शीशोंमें बँधकर व्यवस्थित हुई और जिसमें न जाने कितने ऐसे विद्वान्, सन्त, महात्मा, तपस्वी और सिद्ध महापुरुष हुए जिनका गौरवमय तथा प्रेरणामय परिचय केवल उदासीन सम्प्रदायवालोंके लिये ही नहीं वरन् समस्त भारतीयों और भारतीय संस्कृतिके इतिहासकारोंके लिये भी महत्त्वपूर्ण निधि है।

तदनुसार उस विशाल ग्रन्थ-कदंबका यह प्रथम खण्ड प्रकाशित किया जा रहा है। यद्यपि भारतवर्षके सभी उदासीन आश्रमोंको यह सूचना भेज दी गई थी कि वे अपने-अपने आश्रमोंके सन्तों और महापुरुषोंका सचित्र जीवन-परिचय भेजनेका कष्ट करें किन्तु अभी-तक सब स्थानोंसे सूचना प्राप्त नहीं हो पाई और बहुतसे स्थानोंसे जो सूचना मिली भी वह बहुत अपर्याप्त, अधूरी और असंबद्ध थी। बहुतसे सन्तों और विद्वानोंका विवरण तो स्वयं लेखक महोदयको

अनेक स्रोतोंसे संग्रह करना पड़ा। किन्तु यदि द्वितीय खण्डके लिये सभी उदासीन आश्रमोंके अधिकारी कृपा करके अपने-अपने आश्रमोंके संस्थापकों और वहाँके प्रसिद्ध सन्तोंका तथा अपने आश्रमके अतिरिक्त अन्य उदासीन सन्तों या महात्माओंका परिचय भेज सकें तो परिषद् उनकी कृतज्ञ होगी।

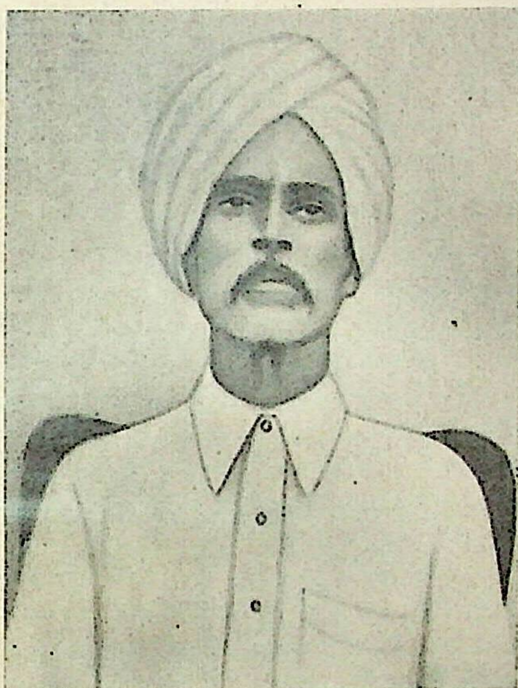
कुछ आश्रमों और उन आश्रमोंके महात्माओंका परिचय-विवरण इतने विलम्बसे प्राप्त हुआ कि उन्हें पीछे क्रम-भंग करके जोड़ना पड़ा। वे यह न समझें कि उनकी अवमाननाके लिये यह व्यत्यय किया गया। उदासीन सम्प्रदायके सम्बन्धमें कुछ ऐसे आवश्यक विवरण थे जैसे पंचायती अखाड़ेके निर्माणका इतिहास और उसकी नियमावली तथा उदासीन और सिक्खोंका विवाद और उसका निर्णय। ये सब विवरण परिशिष्टमें दे दिए गए हैं जिससे इस इतिहासकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है।

जिन अनेक सज्जनों, महात्माओं, आश्रमों और संस्थाओंने इस ग्रन्थके सामग्री-संचयमें सहायता की है, उनकी यह परिषद् ऋणी है। परिषद् विशेष रूपसे परम धर्मिष्ठ, उदार, लोक-सेवक तथा सन्त-प्रेमी श्री शालिग्राम गुरुदासमल खन्नाजीके प्रति विशेष कृतज्ञता व्यक्त करती है जिन्होंने कृपा करके अपनी पूज्या माताजी तथा पूज्य पिताजीकी पावन स्मृतिमें इस ग्रन्थके निर्माण और प्रकाशनका व्यय-भार ग्रहण करके परिषत्को उपकृत किया।

नाग-पंचमी
सं० २०२४ वि०

गयाप्रसाद ज्योतिषी
व्यवस्थापक
अखिल भारतीय विक्रम परिषद्,
काशी।

पावन स्मृति में —



जननी जने तो भक्त जन या दाता या शूर

भक्त

श्री गुरुदासमल हरिचन्द खन्ना

वक्तव्य • • •

इस परम पुनीत भारत-भूमिमें जहाँ स्वयं भगवान्‌ने अनेक अवतार धारण करके धर्मकी स्थापना की, अधर्मका विनाश किया और दुष्टोंका संहार करके साधु-पुरुषोंकी रक्षा की उन्हींके प्रदर्शित किए हुए पुण्य पंथका अनुसरण करते हुए और उनके बताए हुए मार्गपर चलते हुए अनेक संत, महात्मा, साधु महापुरुषोंने अपने उदात्त चरित्र, त्याग, तपस्या, लोकसंग्रह-वृत्ति और पीयूष-वर्षिणी वाणीसे निरंतर लोकजीवनको तृप्त, तुष्ट, आप्यायित और पवित्र किया। ऐसे महापुरुषोंमें जहाँ एक ओर अनेक एकान्त साधक और तपस्वी हुए हैं वहीं दूसरी ओर ऐसे भी महापुरुष हुए हैं जिन्होंने व्यष्टि या समष्टि रूपसे किसी विशेष सम्प्रदाय, पंथ, दल, पंक्ति, संघ या अखाड़ेके रूपमें सुसंघटित प्रयास करके लोक-मंगलके अगणित कार्य किए। इन्हीं व्यवस्थित संघटित लोक-मंगलकारी संप्रदायों या संघोंमें उदासीन-संप्रदायकी भी अत्यन्त श्लाघनीय, वंदनीय और उदात्त परम्परा है जिसने अत्यन्त सुव्यवस्थित रूपसे भारतीय वैदिक सनातनधर्म, हिन्दू-समाज और भारतवर्षकी व्यापक रूपसे सेवा भी की, उन्हें धर्म-पंथकी ओर प्रवृत्त भी किया और बिखरे हुए साधु-समाजको संघटित करके उनकी ऐकान्तिक साधना और लोक-सेवा-भावनाको निश्चिन्त करनेके लिये उनके योगक्षेमका भी समुचित प्रबन्ध किया। यद्यपि उदासीन-सम्प्रदायकी अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्रणवसे

ही मानी जाती है किन्तु पौराणिक और ऐतिहासिक युगमें ऐसे अनेक उदार, पुण्यशील ऋषि, मुनि, तपस्वी, महात्मा और महानुभावोंका विवरण मिलता है जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत पारमार्थिक साधना और तपस्याके साथ-साथ लोक-मंगलके कार्य भी किए। किन्तु संप्रदायके रूपमें इस प्रकारका संघटन करके श्री श्री-चन्द्राचार्यने अपने पिता नानकदेवके कल्पनात्मक ब्रह्मवाद या निर्गुणवादकेविरुद्ध भारतीय श्रौत चतुर्थाश्रमी पद्धतिका पुनः प्रवर्तन किया और निर्वाण प्रियतमदासजीने उसे पंचायती अखाड़ेके रूपमें सुव्यवस्थित किया।

बीसवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें दैव-संयोग-वश अँगरेज़ोंकी कूटनीतिके कारण सिक्ख-समाजमें एक ऐसा दल उठ खड़ा हुआ जिसने अपनेको हिन्दुओंसे भिन्न घोषित कर दिया। यह विलगावकी वृत्ति सामान्य रूपसे भारतके लिये और विशेष रूपसे हिन्दू और सिक्ख समाजके लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हुई जिसका भयंकर दुष्परिणाम आज हरियाणा और पंजाबी सूबेके रूपमें पंजाबका अत्यन्त अस्वाभाविक विभाजन है।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि अनेक अवसरोंपर गुरु नानकने स्वयं अपने मुखसे अपनेको हिन्दू कहा है जिसका प्रमाण १९६३ में लाहौरसे छपी हुई 'गुरु नानककी जन्मसाखी' नामक पुस्तकके पृष्ठ १०२ पर अंकित उनका वचन है। इतना ही नहीं, उसी पुस्तकके अनुसार गुरु नानकदेव गलेमें यज्ञोपवीत पहनते थे और सिर-पर शिखा रखते थे। पंच-प्रकाश-ग्रन्थ (पृष्ठ ११३) के अनुसार गुरु अमरदासजी तिलक लगाते थे और वेद, शास्त्र तथा पुराणकी कथा सुनते थे जिसका समर्थन खालसोंके प्रसिद्ध इतिहास-कार कवि संतोषसिंहने भी अपने 'सूर्य-प्रकाश' नामक ग्रन्थमें किया है। गुरु अर्जुनदेव तो शालिग्रमकी पूजा भी करते थे और उन्होंने अपने पुत्र हरगोविन्दका यज्ञोपवीत और विवाह भी वैदिक विधिसे ही कराया था। गुरु तेग़ बहादुरने तो हिन्दू धर्मके नामपर अपना बलिदान ही किया था। दशम गुरु गोविन्द सिंहजी भी नियमित रूपसे भागवतकी कथा सुना करते थे। उनके छोटे-छोटे बच्चोंको जब सरहिन्दके सूबेदार वज़ीर खाँने हिन्दू धर्म छोड़नेके

लिये कहा तब उसपर उन्होंने यही कहा था कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ किन्तु हम हिन्दू धर्म नहीं छोड़ेंगे। सत्य बात यह है कि आजसे सत्तर वर्ष पहले अर्थात् बीसवीं शताब्दीके प्रारंभ-तक सभी सिक्ख लोग हिन्दू-समाजके अंग थे और अपनेको हिन्दू कहते थे किन्तु न जाने किस कूट प्रेरणासे अकाली दलने अपनेको हिन्दू समाजसे अलग घोषित कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने तत्काल उदासीन आश्रमोंको सिक्खोंके आश्रम बताकर उन्हें भी हड़प लेनेका जघन्य प्रयास किया। यह विवाद लाहौरके हाईकोर्टसे लेकर लंदनकी प्रिवी कौंसिलतक चला और सभी न्यायालयोंने यही निर्णय दिया कि उदासीन लोग सिक्ख नहीं हैं।

[देखिए परिशिष्ट १२]

यह न्यायालय-कांड चल ही रहा था कि इसी बीच अमृतसरके स्वर्ण-मन्दिरके चारों ओर स्थापित समस्त हिन्दू देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ अचानक एक दिन सन् १६२० में लुप्त कर दी गईं। ये सब विवरण इस बातके साक्षी हैं कि सिक्ख-सम्प्रदाय किसी भी प्रकार हिन्दुओंसे अलग नहीं है और जिस रूपमें वह हिन्दू धर्मसे अलग माना जाता है उस रूपमें उदासीन-सम्प्रदायका सिक्ख सम्प्रदायसे कोई किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है।

उदासीन संप्रदायकी अत्यन्त प्राचीन पौराणिक परम्पराको जब संप्रदायके रूपमें श्री श्रीचन्द्राचार्यजीने चार धूणे स्थापित करके संघटित किया और उसके अनन्तर बख्शीश और उपबख्शीशके रूपमें उसका शाखा-प्रचार हुआ तब इस सम्प्रदायमें दीक्षित अनेक महापुरुषोंने भारतीय दर्शन और वैदिक साहित्यका गंभीर अध्ययन करके जहाँ अपनी विद्वत्तासे वैदिक साहित्य और दर्शनका अध्ययन और प्रचार करके दिग्गज विद्वान् उत्पन्न किए वहीं उन्होंने स्थान-स्थानपर आश्रम स्थापित करके एकान्त साधना, तपस्या, सेवा और लोक-मंगलकी साधना करते हुए आस-पासके लोक-जीवनको निष्पाप और सद्वृत्त बनानेकी चेष्टा भी की। इन महात्माओंमें बहुतसे ऐसे तपस्वी और सिद्ध पुरुष भी हुए जिनके अलौकिक चमत्कारोंकी अनेक कथाएँ भी उन प्रदेशोंमें प्रसिद्ध हैं।

अखिल भारतीय विक्रम परिषद्‌में गत वर्षने 'भारतके उदासीन संत' ग्रन्थका निर्माण करनेके लिये जो प्रस्ताव किया उसे मान्य-कर लेनेमें मेरी व्यस्तता बहुत बाधक थी। किन्तु महापुरुषोंके पुण्य जीवनचरित लिखकर सरलताके साथ परमार्थ-साधन करनेका लोभ मैं संवृत न कर सका और मैंने तत्परतापूर्वक यह भार स्वीकार कर लिया। इससे पूर्व मैं 'जगद्‌गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्य' तथा 'जय साधुवेला' नामक पुस्तकें लिख चुका था किन्तु वे साम्प्रदायिक ग्रन्थ थे जिनमे सम्प्रदायमें मान्य घटनाओं, विवरणों, चरित्रों, क्रमों और चमत्कारोंका ज्योंका त्यों वर्णन करना आवश्यक था किन्तु यह ग्रन्थ पूर्णतः ऐतिहासिक ग्रन्थ है। ऐतिहासिक ग्रन्थमें कोई भी बात तबतक मान्य समझकर नहीं ग्रहण की जाती जबतक उसके लिये प्रत्यक्ष (शिलालेख, अभिलेख, ताम्रपत्र, मुद्रा तथा अन्य पदार्थ) न उपलब्ध हो, जिसके संबंधमें कई सूत्रोंसे प्राप्त की हुई सामग्रीमें साम्य न हो अथवा जो अधिकारी या पक्षपात-रहित लेखकके द्वारा न लिखी गई हो। इतिहास-ग्रन्थमें चमत्कारों और सामान्यतः अविश्वसनीय घटनाओंका तबतक समावेश नहीं किया जाता जबतक उसके लिये कोई आप्त प्रमाण अथवा प्रामाणिक उल्लेख न प्राप्त हो। केवल लोक-प्रसिद्ध होना ही उसके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये इस ग्रन्थमें वर्णित सभी महापुरुषोंके जीवनकी चमत्कारी घटनाओंका समावेश नहीं किया जा सका। व्यक्तिगत रूपसे मैं यह मानता हूँ कि सिद्ध, तपःपूत महात्माओंकी अमृत-वाणीमें ऋतका वास होता है, सभी सिद्धियाँ उनकी दासी होती हैं इसलिये उनके लिये कुछ भी अदेय या अकरणीय नहीं होता फिर भी इतिहासकारकी मर्यादाका पालन करनेके लिये चमत्कारी घटनाओंको छोड़ना आवश्यक हो गया।

कभी-कभी इतिहासका नाम देकर साम्प्रदायिक लेखक ऐसी असङ्गत बातें लिख देते हैं जिनका समर्थन स्वयं इतिहास नहीं कर सकता जैसे—कुछ सज्जनोंने निर्वाण प्रियतमदासजीके जीवन-चरितमें लिख दिया है कि वे सम्वत् १७९३ विक्रमीमें घर छोड़कर कालकाका टिकट लेकर रेलगाड़ीपर चढ़कर चल दिए। किन्तु उन्होंने यह ध्यान

देनेका कष्ट नहीं किया कि भारतमें प्रथम रेलगाड़ी ही सन् १८५३ (सम्वत् १६१०) में चली किन्तु लेखक महोदयने रेलगाड़ी चलनेके १६७ वर्ष पहले ही उन्हें रेलगाड़ीपर चढ़ा दिया।

इतिहास-लेखनकी परम्पराके अनुसार किसी भी नामके साथ कोई विशेषण नहीं लगाया जाता जैसे महामण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, श्रीमहन्त, महन्त, महाराज आदि। किन्तु इस इतिहास-ग्रन्थमें महात्माओंका जीवनचरित है इसलिये हमने उनके नामोंके साथ श्री, जी या स्वामी जोड़ दिया है। अतः, किसी भी महानुभावको उनके नामके साथ उनकी उपाधि न लगे रहनेसे हमारे दुर्विनयकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इस प्रकारके ग्रन्थमें अनेक महापुरुषोंका विवरण समाविष्ट होता है इसलिये सब सामग्री यथासम्भव संक्षेपमें ही ग्रहण की जाती है। इस कारण इस ग्रन्थमें भी सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री यथासम्भव संक्षेपमें दी गई है किन्तु यह ध्यान अवश्य रक्खा गया है कि कोई महत्त्वपूर्ण बात छूट न जाय और अनावश्यक विषय आ न जाय।

इतिहासकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसमें जो कुछ लिखा जाता है वह सदाके लिये अकाट्य या शाश्वत सत्य नहीं होता। जैसे-जैसे नवीन प्रमाण मिलते चलते हैं, नवीन अनुसन्धान होते रहते हैं, नये लेख या ग्रन्थ अथवा अन्य कोई अभिलेख या प्रामाणिक सामग्री प्राप्त होती है वैसे-वैसे इतिहासमें संशोधन होता चलता है। अतः, यह नहीं समझना चाहिए कि इस ग्रन्थमें जो कुछ लिख दिया गया है वह अकाट्य और अपरिवर्त्तनीय है क्योंकि इतिहासकारको कभी किसी बातपर कष्टाग्रह नहीं होता। उसमें सदा यह विवेक बना ही रहना चाहिए कि जब जो बात असत्य प्रतीत हो तत्काल उसका सुधार कर दे। अतः, इस ग्रन्थमें यदि कहींपर भी कोई बात असत्य, अप्रमाणिक अथवा असङ्गत हो वह तत्काल मुझे सूचित करनेका कष्ट करें जिससे अगले खण्डमें उसका समुचित समाधान किया जा सके। कहीं-कहीं कुछ महानुभावोंके सम्बन्धमें हमें बड़ी विरोधी सामग्री प्राप्त हुई। ऐसी स्थितिमें हमने स्वयं व्यक्तिगत रूपसे सत्यका अन्वेषण करनेका प्रयत्न किया और तदनुसार उल्लेख किया। फिर भी

मनुष्यकी कृतिमें त्रुटि, दोष और प्रमाद होना स्वाभाविक है। अतः, जो महानुभाव कहींपर भी कोई सप्रमाण त्रुटि दिखलावेंगे उनके हम कृतज्ञ होंगे।

परिशिष्टमें जो अनेक आश्रमों और महन्तगणके नाम दिए हैं उनकी प्रामाणिकता यही है कि पञ्चायती अखाड़ेसे ही वह सूची प्राप्त हुई है। यदि उसमें किसी स्थान या महन्त महोदयके नाममें कोई अशुद्धि हो तो कृपया तत्काल सूचित देनेका कष्ट करें जिससे दूसरे खण्डमें उसका समुचित परिष्कार कर दिया जा सके। उस सूचीमें बहुलसे महन्त महोदयोंके नामोंके साथ यदि जी या श्री लगना छूट गया हो तो हम क्षमा-प्रार्थी हैं और उनकी साधुताके बलपर ही हमें विश्वास है कि इस प्रमादको वे उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे।

इस इतिहास-ग्रन्थमें विवेचन-पद्धतिका क्रम यह है कि प्रत्येक महापुरुषके पूर्वाश्रमका जन्म-स्थान, कुल, परिवार, विरक्त होनेका कारण, विरक्त हो जानेपर गुरु-पद्धति, अध्ययन, तपस्या, लोक-मंगल-कार्य, आश्रम-स्थापन आदिका परिचय दिया गया है। साथ ही यदि किसी महापुरुषकी कोई व्यक्तिगत विशेषताएँ हों तो उनका भी यथासम्भव संक्षेपमें उल्लेख कर दिया गया है। प्रायः प्रत्येक उदासीन सम्प्रदायवादी महापुरुषका सम्बन्ध चार धूणे, छह बख्शीश, उपबख्शीश अथवा उदासीन बड़े पञ्चायती अखाड़े या नये अखाड़ेसे है। अतः, जिसका जहाँसे जिस प्रकारका सम्बन्ध है उस पद्धति और अखाड़ेका भी यथाप्राप्त परिचय दे दिया गया है।

जिन महापुरुषोंने इस सम्प्रदायमें अपनी तपस्या, सङ्घटन-प्रवृत्ति, अन्य लोक-संग्रही वृत्तियोंके कारण अथवा विशेष गुणके द्वारा विशेष ख्याति पाई उनका परिचय तथा उनके द्वारा स्थापित आश्रमोंका परिचय कुछ विस्तारसे दे दिया गया है। विवरणका विस्तार या सङ्कोच इस बातपर अवलम्बित रहा है कि कहाँसे कितनी विवरण-सामग्री प्राप्त हुई है। जहाँसे अधिक सामग्री प्राप्त हुई है उनका विवेचन स्वभावतः कुछ लम्बा हो गया है।

परिचय भेजनेके लिये इस कार्यालयसे जो अनेक पत्र भेजे गए थे उनमें यह भी निवेदन किया गया था कि विवरणके साथ चित्र भी भेज दें। किन्तु अनेक महानुभावोंने चित्र ही नहीं भेजे, कुछने रङ्गीन चित्र भेजे जिनका छापा बनवाना सम्भव नहीं था। यही कारण है कि हम जिस पूर्णताके साथ उनका परिचय देना चाहते थे वह इच्छा और साधन रहते हुए भी सम्भव न हो सका।

'भारतके उदासीन सन्त' नामक ग्रन्थका यह केवल प्रथम खण्ड है। अतः, जिन महानुभावों, महात्माओं अथवा विद्वानोंका इसमें नाम नहीं आ पाया है उन्हें या उनके प्रशंसकोंको इत्यलम् नहीं समझ लेना चाहिए। यह ग्रन्थ कितने खण्डोंमें निकलेगा यह भारतवर्ष भरमें फैले हुए सहस्रों आश्रमोंके व्यवस्थापकोंके सहयोगपर निर्भर है। मुझे विश्वास है कि वे उदासीन सम्प्रदायकी वरिष्ठ परम्पराके प्रामाणिक इतिहासके निर्माणमें सक्रिय सहयोग देनेका अवश्य कष्ट करेंगे।

वर्त्तमान युगके जिन अनेक सन्तों, महात्माओं, विद्वानों और लोकोपकारी महापुरुषोंके उदात्त चरित्रका यहाँ गुण-कीर्त्तन किया गया है वे तो उदासीन सन्त-विद्वत्परम्पराके कुछ थोड़े-से दिव्य रत्न हैं। इनके अतिरिक्त अभी अनेक ऐसे साधु, महात्मा, महापुरुष और विद्वान् उदासीन समाजमें विद्यमान हैं जिनमेंसे कुछका प्रसंगवश नामोल्लेख मात्र ऊपर आ गया है, कुछके संबंधमें अधूरा विवरण प्राप्त हुआ है और कुछके सम्बन्धमें अभी विवरण प्राप्त करना अवशेष है। इस प्रसंगमें जो विभिन्न क्षेत्रों, आश्रमों और स्थानोंसे विवरण प्राप्त हुए हैं या होते जा रहे हैं उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि उदासीन सन्तोंकी बड़ी विशाल, विराट् और महिमामयी परम्परा है जिसका सूक्ष्म अध्ययन करनेपर ऐसे अनेक सन्तों और महात्माओंका परिचय प्राप्त हो सकता है जिन्होंने अपनी एकान्त साधना और तपस्याके द्वारा अद्भुत सिद्धियाँ हस्तगत कर ली थीं, अध्यात्म-तत्त्वके गूढ रहस्य जान लिए थे और अपनी परम सत्त्वस्थ वृत्तिके कारण निरन्तर लोक-

कल्याण करते हुए जनताके हृदयपर अखंड तथा निर्बाध अधिकार प्राप्त कर लिया था

इस ग्रन्थमें जिन अनेक विद्वान् उदासीन महात्माओंका परिचय दिया गया है उनके अतिरिक्त इस समाजमें जिन अनेक विद्वानोंने अपने अद्वितीय पांडित्य और शास्त्रज्ञताके कारण व्यापक लोक-सम्मान और ख्याति प्राप्त की उनमें हवेलीवाले पंडित गंगारामजी वैयाकरण, भाषा-पंचदशी-कार पंडित आत्मस्वरूपजी, सरस्वती-पुत्र स्वामी ज्योतिःस्वरूपजी, कनखलके स्वामी गौरदेवजी, शिकारपुरके स्वामी जयरामदासजी तथा स्वामी हरिनामदासजी, कनखलके स्वामी अमरदासजी वृद्ध, अस्सीघाट काशीके स्वामी अमरदासजी, खंडन-खंड-खाद्यके व्याख्याता स्वामी मोहनलालजी, उदासीन पंचायती बड़े अखाड़ेके स्वामी ब्रह्मानन्दजी, तर्कवागीश भट्टाचार्यजी, पं० मोलारामजी, स्वामी त्रिलोकरामजी, उनके शिष्य स्वामी अनन्तानन्दजी विरक्त, अमृतसरके स्वामी स्वरूपदासजी, साधुबेला (सक्खर) के स्वामी हरिप्रसादजी, स्वामी वालरामजी, स्वामी रामप्रकाशजी, स्वामी जगदीश्वरानन्दजी तथा स्वामी कृष्णानन्दजी, स्वामी माधवानन्दजी, स्वामी रामप्रसादजी, स्वामी प्रकाशानन्दजी, निर्वाण पंडित नारायणदासजी, स्वामी हरिदासजी, निर्वाण पंडित यमुनादासजी, स्वामी हरिनामदासजी ज्ञानी, स्वामी आत्मानन्दजी, साधुबेला (सक्खर) के स्वामी जयरामदासजी, हृषीकेशके स्वामी स्वयंज्योति भिक्षु, रिविलगंज (छपरा) के स्वामी विशुद्धानन्दजी, वृन्दावनके स्वामी गोपालदासजी, स्वामी हरिप्रसादजी, वरेलीके स्वामी ब्रह्मकुशलदासजी, हरिद्वारके स्वामी अरविन्दानन्दजी (कमलदासजी), खैरपुर मीर (सिन्ध) के पंडित संगतदासजी, जुगतरामजी, अस्सीघाट काशीके पंडित सच्चिदानन्दजी, कनखलकी अवधूत चेतनदेवकी कुटियाके अवधूत मयारामजी, कनखलके पंडित जगतरामजी, साधुबेलाके पंडित गुरुप्रसादजी, अस्सीघाट काशीके पंडित जुहारदासजी, अवधूत शालिग्रामजी, पेशावरके स्वमी परमानन्दजी, वरुण घाट काशीके स्वामी रघुनाथदासजी षट्शास्त्री, पंडित चतुरदासजी, पंडित सुरेश्वरानन्द-

जी षट्शास्त्री, पंडित सदानन्दजी व्याख्यानकर्त्ता, दिनकरीवाले पंडित हरिनामदास, गिरधर-कुण्डलियावाले पंडित हरिदासजी, पटनेवाले पंडित कृष्णदासजी, पंडित नानकप्रकाशजी, नाभाके पंडित भक्तानन्दजी, काशी उदासीन संस्कृत विद्यालयके संस्थापक स्वामी पूर्णानन्दजी, अमृतसरके पंडित हरिप्रकाशजी, गुरु श्रीचन्द्र संस्कृत कालेजके स्वामी दर्शनानन्दजी, गुजराँवालाके न्यायाचार्य स्वामी रत्नदासजी, स्वामी शांतानन्दजी, वेदान्ताचार्य पंडित असङ्गानन्दजी, स्वामी ईश्वरानन्दजी अकालियाँ, स्वामी जीवन्मुक्तजी, स्वामी स्वरूपानन्दजी नैयायिक बराज टाउन, सक्खरवाले, स्वामी संत प्रकाशजी, स्वामी अनन्तदेवजी, हरिद्वारके स्वामी अद्वैतप्रकाशजी, गुजरातके स्वामी परमानन्दजी, डेरा इस्माइल खाँके स्वामी परमानन्दजी, वैदिक मुनि स्वामी हरिप्रसादजी, काशीके स्वामी कृष्णानन्दजी, काशीके स्वामी बुद्धिप्रकाशजी, दर्शनरत्न स्वामी सर्वानन्दजी, शिकारपुरके स्वामी प्रभुदासजी, स्वामी साधुरामजी विरक्त, पटियालेके कवि अर्जुनमुनिजी, निर्वाण रामदासजीके शिष्य स्वामी परमात्मानन्दजी, गुरु सङ्गत संस्कृत महाविद्यालय मीरघाट काशीके सञ्चालक स्वामी केशवानन्दजी, स्वामी अद्वैतानन्दजी, स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी, राजगृह पटनाके स्वामी हंसमुनिजी, स्वामी अर्जुनमुनिजी, माझीके पण्डित कृष्णदासजी, स्वामी धर्मावतारजी, वेदान्ताचार्य स्वामी विशुद्धानन्दजी, कश्मीरके पण्डित गोविन्दानन्दजी, पण्डित ध्यानस्वरूपजी, पण्डित कृष्णानन्दजी, अमृतसरके स्वामी रामनारायणजी शास्त्री आदि उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित अगणित महानुभावोंने वेद, दर्शन तथा अन्य विद्याओंमें पारङ्गत होकर व्यापक सम्मान और यश अर्जित किया। इनमेंसे जिन थोड़ेसे महापुरुषोंका जीवनचरित हमें प्राप्त हो पाया वह बहुत पर्याप्त नहीं कहा जा सकता फिर भी इतिहासकी पुस्तकमें जितना विवरण संग्रह किया जाना सम्भव था उस दृष्टिसे उसे सन्तोषजनक माना जा सकता है। किन्तु यह आवश्यक है कि इन अनेक विद्वान् पण्डितों, दार्शनिकों, अध्यापकों तथा सन्तोंके सम्बन्धमें

अधिकसे अधिक सामग्री विशेषत: उनकी जीवन-पद्धति, साधना, सदाचार, गुरु तथा शिष्य-परम्परा, विद्या तथा धर्म-प्रचार, लोकसेवा आदि अङ्गोंपर यदि विशेष विवरण संग्रह किया जा सकता तो यह इतिहास और भी अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रेरणादायक तथा लाभकर सिद्ध होता। हमें विश्वास है कि इन अनेक महापुरुषोंके सम्पर्कमें या उनकी शिष्य-परम्परामें आनेवाले सज्जन उनके सम्बन्धमें विशेष विवरण भेजनेका कष्ट करेंगे जिससे अगले खण्डमें विस्तारसे उनका परिचय दिया जा सके।

इतिहासकारको सदा पक्षपात-रहित होना चाहिए। यह बहुत सम्भव है कि मनुष्यकी स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक दुर्बलताके कारण कहीं किसी प्रकारके पक्षपातकी गन्ध आ गई हो। पाठकोंसे निवेदन है कि इस प्रकारकी भूलें भी सूचित करनेका कष्ट करें जिससे उसका परिमार्जन करके आत्म-तुष्टि की जा सके।

इस ग्रन्थके प्रारंभके अंशमें इतिहासकारकी अपेक्षा दर्शनकार बनकर कुछ विस्तारसे दार्शनिक विवेचन करनेकी आवश्यकता पड़ गई अन्यथा इतिहास-ग्रन्थमें प्रणव, ईश्वर और त्रिदेवका समावेश व्यर्थ समझा जा सकता था। उदासीन सम्प्रदायने प्रणवसे ही क्यों अपने सम्प्रदायका श्रीगणेश माना है इसे इसलिये विस्तारसे सप्रमाण समझानेकी आवश्यकता पड़ गई कि जिस उदात्त भूमिकामें सम्प्रतिष्ठित होकर उदासीन महात्मा अपनी परम सिद्धि मानते हैं वह तभी उनके लिये ध्येय और ज्ञेय हो सकता है जब उससे उनका किसी न प्रकारका परम्परागत आध्यात्मिक और पारमार्थिक सम्बन्ध हो और जिसे हमारे देशके मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों, मुनियों, दार्शनिकों और तत्त्वज्ञानियोंने निरन्तर एक स्वरसे सम्पूर्ण सृष्टिका आदि तत्त्व, एक मात्र ज्ञेय और ध्येय माना है। उन सभी तत्त्वदर्शियोंने जब उस प्रणवको इस प्रकार परम तत्त्व निर्धारित किया तो उन्होंने अपने विचारकी पुष्टिके लिये पर्याप्त कारण भी प्रस्तुत किए और बड़ी सर्वमान्य युक्तियों और तर्कोंसे यह पूर्णत: सिद्ध कर दिया कि वास्तवमें विश्व भरमें जितना कुछ अनुभूयमाण और दृश्यमान है सबका एक मात्र मूल तत्त्व प्रणव है। इसीलिये इस ग्रन्थमें

प्रणव, ईश्वर और त्रिदेवके सम्बन्धमें दार्शनिक दृष्टिसे विचार करके यह समझानेका प्रयत्न किया गया कि उदासीन लोग क्यों प्रणवको ही अपने सम्प्रदायका आदि मानते हैं।

इसके अनन्तर जिन अनेक पौराणिक महापुरुषोंको इस उदासीन परम्परामें स्मरण किया गया है उनके सम्बन्धमें जितना कुछ विवरण मिलता है वह ऐतिहासिक दृष्टिसे अपर्याप्त भी है और अप्रामाणिक भी। ऐसी परिस्थितिमें उनका जितना परिचय इतिहास-ग्रन्थकी दृष्टिसे अपेक्षित था वह दे दिया गया है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस सम्पूर्ण परम्पराको इस प्रकार उपेक्षित छोड़ दिया जाय। इसके लिये यह आवश्यक है कि सभी पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रन्थोंका आलोडन और मन्थन करके उनके सम्बन्धमें यथासंभव ऐसे समस्त प्रामाणिक विवरण एकत्र कर लिए जा सकें जिससे उदासीन समुदायकी मान्यताके अनुसार परम्परामें निर्दिष्ट महापुरुषोंकी शृंखला पूर्ण कर दी जाय।

इस ग्रन्थके प्रणयनमें जिन अनेक महानुभावोंने सामग्री-सञ्चय करनेमें विशेष सहयोग दिया है उनमें श्री साधुवेला उदासीन आश्रमके प्रशंसनीय महन्त स्वामी गणेशदासजी, उदासीन पंचायती वड़े अखाड़ेके दक्षिण पंगतके महन्त श्री हरिहरानन्दजी अखाड़ा सङ्गलवाला तथा विद्वद्वर स्वामी किशोरदासजी विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अनेक स्रोतोंसे उदासीन समाजके आश्रमों और महापुरुषोंका जीवन-चरित सङ्कलित करनेमें अत्यधिक उदारताके साथ सहयोग दिया है। श्री साधुवेला आश्रम, उदासीन सम्प्रदायका अत्यन्त प्रसिद्ध, समृद्ध और प्रगतिशील गढ़ है जिसकी ओरसे सक्खर (अब पाकिस्तानमें), सिन्धु नदकी धारामें समवस्थित साधुवेला तीर्थके अतिरिक्त काशी, बम्बई, पटियाला, हरिद्वार, उत्तर काशी तथा राजपुर (देहरादून) में ऐसे दिव्य आश्रम बने हुए हैं जहाँ साधुओं और महात्माओंके अतिरिक्त विद्वानोंका निरन्तर सत्कार होता रहता है, भजन-कीर्त्तन होता रहता है, औषधालयोंके द्वारा निःशुल्क चिकित्सा होती रहती है, पुस्तकालयोंके

द्वारा ज्ञानका विकास कराया जाता रहता है, पाठशालाओं और विद्यालयों-द्वारा वेद, वेदांग, दर्शन और साहित्यके शिक्षणकी व्यवस्थाके द्वारा विद्वान् पंडित उत्पन्न किए जाते रहते हैं और अनेक ग्रन्थोंके प्रकाशनके द्वारा ज्ञानका निर्बाध स्रोत वहाया जाता रहता है। इन समस्त प्रवृत्तियोंका श्रेय वर्त्तमान महन्त स्वामी गणेशदासजीको अप्रतिम प्रतिभा, प्रबन्ध-कुशलता, व्यवस्था-वृत्ति, सुरुचि और परिष्कृत संस्कारको है जिन्होंने अपने गुरु स्वामी हरिनामदासजीसे उक्त सभी गुण रिक्थमें प्राप्त किए हैं। उदासीन सम्प्रदायकी श्रीवृद्धिमें उनकी कितनी उत्कट अभिरुचि है वह इसी एक घटनासे प्रमाणित है कि जब अखिल भारतीय विक्रम परिषद्ने उनसे अनुरोध किया कि आप उदासीन सम्प्रदायके सन्तोंका जीवन-चरित संग्रह करनेमें सहयोग दें तो उन्होंने अत्यन्त तत्परतापूर्वक इस कार्यमें सहयोग दिया, आश्रमोंके ठिकाने लिखवाए, विवरण एकत्र कराए, पत्र लिखे, उदासीन पंचायती अखाड़ेसे सब आश्रमों और महन्तोंकी सूची बनवा-कर दी, प्राचीन साम्प्रदायिक इतिहास-ग्रन्थ दिए तथा अन्य अनेक प्रकारसे इस ग्रन्थको यथासंभव अधिक प्रामाणिक तथा पूर्ण वनानेमें सक्रिय सहयोग दिया। मैं यही मंगल कामना करता हूं कि वे चिरायु हों जिससे वे उदासीन संप्रदाय, हिन्दू समाज तथा भारतीय संस्कृतिके साथ-साथ भारतकी अधिकसे-अधिक सेवा करनेका पुण्य और यश अर्जित कर सकें।

मैं पुनः उन सब महानुभावोंके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थकी रचना, सामग्री-सङ्कलन, प्रकाशन और सम्पादनमें निश्छल सहयोग दिया है। मैं सर्वदर्शनाचार्य, काव्यतीर्थ स्वामी किशोरदासजीका विशेष रूपसे आभारी हूँ जिन्होंने अपने शोध-प्रबन्धके सम्पादनमें अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी इस ग्रंथके मुद्रण-कार्यमें अनवरत सहयोग प्रदान करके मुझे उपकृत किया।

उत्तर बेनिया बाग,
काशी
नाग पंचमी, सं० २०२४

—सीताराम चतुर्वेदी

भारत के उदासीन सन्त

प्रथम खण्ड

प्रथम प्रकरण

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

भारतके उदासीन सन्त

प्रस्तावना

सम्पूर्णं विश्वमें समय-समयपर प्रत्येक देश और कालमें मानव-जातिके प्रत्येक वर्गमें ऐसे महापुरुष निरन्तर जन्म लेते रहे हैं जिन्होंने उच्च स्तरकी अथवा अधिक विद्या भले ही न प्राप्त की हो किन्तु जिन्होंने अपनी उदात्त लोकसंग्रही जीवन-पद्धतिसे अपने समाजका नैतिक और पारमार्थिक कल्याण तथा नेतृत्व करते हुए लोक-मङ्गलका परम पावन पन्थ प्रशस्त किया। ऐसे महापुरुषोंने केवल मौखिक उपदेशोंके द्वारा ही नहीं, वरन् कभी-कभी तो अपने नैतिक और उदात्त चरित्र तथा अपनी लोक-मङ्गल-कारिणी वृत्तिका पोषण करनेके लिये अपने प्राण-तक दे डाले किन्तु अनेक तर्जनों, प्रलोभनों, तथा भयसे कभी अपने

सत्पथसे विचलित नहीं हुए। महाभारतके उद्योग-पर्वमें भगवान् श्रीकृष्णने धर्ममें अपनी सात्त्विक निष्ठा और दृढ आस्थाका परिचय देते हुए कहा है—

नाहं कामान्न संरंभान्न द्वेषान्नार्थकारणात्।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथंचन॥

[काम, क्रोध, द्वेष, धन, लोभ, कलह अथवा अन्य किसी प्रलोभनसे भी मैं धर्मको नहीं छोड़ सकता।]

धर्मराज युधिष्ठिरने भी इसी बातकी पुष्टि करते हुए भगवान् कृष्णके विषयमें कहा है—

यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात्।
अन्याय्यमनुवर्त्तेत स्थिर - बुद्धिरलोलुपः॥
धर्मज्ञो धृतिमान्प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः॥

[काम, भय, लोभ अथवा धनके कारण जो कभी अन्यायका आश्रय नहीं लेते, जिनकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है और जिनमें लोभका लेश नहीं है वे धर्मज्ञ, धैर्यशील, सब प्राणियोंसे अधिक विवेकशील, सब जीवोंके स्वामी श्रीकृष्ण ही देवताओंके भी देवता और परम सनातन पुरुष हैं।]

महापुरुषोंकी सदा यह विशेषता रही कि उन्होंने स्वयं अपने शरीरको कष्ट और असुविधामें डालकर भी, अनेक प्रकारकी यातनाएँ सहकर भी दूसरोंका कल्याण किया। इतना ही नहीं, उन महापुरुषोंने निरन्तर यही चेष्टा की कि हमारे शरीर, शक्ति और वैभव आदि सबसे निरन्तर दूसरोंका हित होता रहे। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि-सम सबकर हित होई॥

ऐसे ही महापुरुषोंको विश्व-भरने सदा सब देशोंमें 'सन्त' की उपाधिसे विभूषित किया गया है।

चार प्रकारके मनुष्य

संस्कृतके एक सूक्तिकारने विभिन्न प्रकारके मनुष्योंकी तुलनात्मक व्याख्या करते हुए कहा है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये ।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ॥
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

[एक तो ऐसे सत्पुरुष होते हैं जो अपना स्वार्थ छोड़कर निरन्तर दूसरोंका हित करते रहते हैं। दूसरे सामान्य लोग ऐसे होते हैं जो अपने स्वार्थकी रक्षा करते हुए दूसरोंका हित करते रहते हैं। तीसरे ऐसे मनुष्य-राक्षस होते हैं जो अपने स्वार्थके लिये दूसरेका अहित करनेमें नहीं चूकते। किन्तु जो लोग विना कारण ही दूसरोंका अकल्याण करते रहते हैं, उन्हें क्या कहा जाय, यह हम नहीं जानते।]

उपर्युक्त व्याख्याके अनुसार मनुष्योंके चार विभिन्न प्रकार-में सर्वाग्रणी पुरुष वे ही माने गए हैं जो अपना कल्याण, अपना हित और अपना स्वार्थ छोड़कर निरन्तर दूसरोंके कल्याणमें निरत रहते हैं। व्यावहारिक दृष्टिसे ऐसे सभी पुरुषोंको सांसारिक लोग विशेषतः वर्तमान युगके भौतिकवादी लोग मूर्ख तथा अव्यावहारिक कहते आए हैं। उनका उद्देश्य यह है कि पहले घरमें दिया जलाकर तब मसजिदमें जलाओ। 'पहले आत्मा फिर परमात्मा' भी ऐसे ही लोगोंका उपदेश है।

सन्तकी प्रकृति

किन्तु सन्त महापुरुषोंकी प्रकृति ही यह है कि वे न तो कभी अपने स्वार्थका विचार ही करते हैं न चिन्ता। इतना ही नहीं, अपना अहित करके भी यदि अपनेसे किसीका हित हो जाता हो तो वे अपने मनमें अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। परोपकारसे उन्हें ऐसा

आह्लाद होता है मानो दूसरेका कल्याण करना ही उनका परम इष्ट हो। ऐसे सन्तोंका व्याख्या करते हुए कहा गया है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूसपूर्णा-
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं,
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

[जिन महापुरुषोंके मन, वचन और कर्म सदा पुण्यके अमृतसे भरे होते हैं और जो निरन्तर उपकारकी परम्पराओंसे दूसरोंका कल्याण करते हुए तीनों लोकोंको तृप्त किए रहते हैं, जो सदा दूसरोंके अत्यन्त सूक्ष्म गुणको भी बहुत बड़े पर्वतके समान विशाल बनाते हुए उस गुणसे इतने प्रभावित होते हैं कि निरन्तर अपने हृदयमें उसे स्मरण कर-करके मुग्ध और मग्न हुए रहते हैं, ऐसे सन्त संसारमें हैं कितने ?]

तात्पर्य यह है कि केवल दूसरोंका कल्याण करना मात्र ही सन्त होनेके लिये पर्याप्त नहीं है वरन् सन्तके लिये यह भी आवश्यक है कि वह दूसरोंका कल्याण करनेके साथ-साथ उस कल्याणकी भावनासे स्वयं तृप्त, तुष्ट और आह्लादित भी होता रहे भले ही उससे उसका स्वयं अपना अहित हो गया हो। गोस्वामी तुलसीदासजीने राम-चरित-मानसमें अनेक प्रसङ्गोंमें सन्तोंके गुण तथा सन्त और असन्तका अन्तर बताया है; उसकी व्याख्या की है और उसकी विशेषताएँ समझाई हैं। बालकाण्डके प्रारम्भमें ही उन्होंने सन्तोंकी वन्दना करते हुए कहा है—

बन्दौं सन्त समान-चित, हित-अनहित नहिं कोय।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोय॥

समचित्तता

इस परिभाषामें गोस्वामीजीने संतका एक और भी लक्षण बता दिया कि संत लोग समचित्त होते हैं। वे न किसीको अपना मित्र समझते हैं न शत्रु। उनकी दृष्टिमें जो उनका अकल्याण

करे वह भी उन्हें वैसा ही प्रिय है जैसा उनकी सेवा करनेवाला। जिस प्रकार अंजलिमें फूल लेनेपर उसकी सुगन्धि समान रूपसे दोनों हाथोंमें व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार संत लोग शत्रु और मित्र सबका समान रूपसे कल्याण करते रहते हैं।

सन्त और असन्तमें भेद

संत और असंतका भेद बताते हुए उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु सुन्दर पहचान प्रस्तुत कर दी है और कहा है कि संत और असज्जन दोनों ही दुःखप्रद होते हैं किन्तु दोनोंसे प्राप्त होने वाले दुःखमें भेद होता है—

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं, मिलत एक दुख दारुन देहीं।

सज्जनसे दुःख तब प्राप्त होता है जब उससे वियोग होता है किन्तु दुष्टसे तो मिलते ही दुःख प्राप्त होने लगता है।

सन्तका गुण

संतोंकी सरलता और सहनशीलताके गुणका परिचय देते हुए गोस्वामीजीने कहा है—

तुलसी संत सुअंब-तरु, फूलि फलहिं पर हेत।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत॥

तुलसीदासजीके मतानुसार संत तो सुन्दर आमके वृक्षके समान हैं जो दूसरोंके हितके लिये फूलते और फलते हैं यहाँतक कि जो लोग उस वृक्षपर ढेला भी मारते हैं उसे भी वे मीठा फल देते हैं। इसीलिये उत्तर कांडमें संतके उदयको गोस्वामीजीने संतत सुखकारी, निरन्तर सुख देनेवाला बताया और कहा है—

संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी।

संतोंका उदय या उद्भव निरन्तर सबको उसी प्रकार सुख देनेवाला होता है जैसे अन्धकारको हरण करनेवाले चन्द्रमाका उदय संसार-भरको सुख देनेवाला होता है।

सन्तका स्वरूप

संतोंके स्वरूपका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने भक्त उद्धवसे कहा है—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥

[श्रीमद्भागवत ११।११।२९-३१

[हे उद्धव ! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैर नहीं करता। वह सब प्रकार के सुख-दुःख अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है, सत्यको जीवनका सार समझता है; उसके मनमें कभी किसी प्रकारकी पाप-वासना नहीं उठती, वह सर्वत्र समदर्शी और सबका अकारण उपकार करनेवाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह इन्द्रियविजयी, कोमल स्वभाववाला और पवित्र होता है, उसके पास अपनी कोई भी वस्तु नहीं होती। किसी भी वस्तुके लिये वह कभी चेष्टा नहीं करता, वह परिमित भोजन करता है और सदा शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। वह केवल मुझपर ही आश्रित रहता और निरन्तर मननशील रहता है। वह कभी प्रमाद नहीं करता। वह गम्भीर स्वभाववाला और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—इन छहों गुणोंपर वह विजय प्राप्त कर चुका है। वह स्वयं कभी किसीसे किसी प्रकारका मान नहीं चाहता वरन् उलटे दूसरोंका सम्मान करता रहता है। वह भगवत्सम्बन्धी बातें समझनेमें बड़ा निपुण होता है। उसके हृदयमें करुणा भरी रहती है और भगवत्तत्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है।]

सन्तका स्वभाव

भगवान् कपिलदेवने अपनी माता देवहूतिसे भी सन्तोंके स्वभावकी व्याख्या करते हुए लगभग ये ही बातें दुहराई हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसंगविवर्जिताः ।
संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते ॥

[श्रीमद्भागवत ३।२५।२१-२४

[जो सुख-दुःखमें सहनशील, करुणापूर्ण हृदयवाले, सबका अकारण हित करनेवाले, किसीके प्रति कभी भी शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्त स्वभाववाले, साधु भाववाले, साधुओंका सम्मान करनेवाले हैं; मुझमें अनन्य भावसे सुदृढ भक्ति करते हैं, मेरे लिये समस्त कर्म तथा स्वजन-बन्धुओंका भी त्याग कर चुके हैं, मेरी पवित्र कथाओंको सुनते, मुझमें मन और चित्त सदा लगाए रहते हैं, उन भक्तोंको संसारके विविध प्रकारके ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते। साध्वि ! ऐसे सर्वसंग- परित्यागी महापुरुष ही संत होते हैं। आपको उन्हींके सत्संगकी इच्छा करनी चाहिए, क्योंकि वे आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले सभी दोष हरनेवाले होते हैं।

योगीश्वर हरिजीने राजा निमिसे सन्तके चरित्रका प्रतिपादन करते हुए यही बताया—

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥
न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥
न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः।
भगवत उरुविक्रमांघ्रिशाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

[श्रीमद्भागवत, ११।२। ४८–५५

[जो श्रोत्र-नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्द-रूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है परन्तु अपनी इच्छाके प्रतिकूल विषयोंसे न द्वेष करता और न अनुकूल विषयोंके मिलनेपर हर्षित होता है वरन् यही समझता है कि यह सब हमारे भगवान्‌की माया-लीला है, वही उत्तम भागवत है। संसारके धर्म हैं—जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट और भय-तृष्णा। ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं। जो पुरुष भगवान्‌की स्मृतिमें इतना तन्मय रहता है कि इनके बार-बार होते जाते रहनेपर भी उनसे मोहित नहीं होता, पराभूत नहीं होता, वही उत्तम भागवत है। जिसके मनमें विषय-भोगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और उन्हें उपजानेवाली

वासनाओंका उदय नहीं होता और जो एक मात्र भगवान वासुदेवमें ही निवास करता है; वही उत्तम भगवद्भक्त है। जो सत्कुलमें जन्म, तपस्या आदि कर्म तथा वर्ण, आश्रम एवं जातिका कोई अहङ्कार इस शरीरमें नहीं करता है, वह निश्चय ही भगवान्का प्यारा है। धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें जो अपने-परायेका भेदभाव नहीं रखता, समस्त प्राणि-पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता रहता है; समभाव रखता है तथा प्रत्येक स्थितिमें शान्त रहता है, वही भगवान्का परम भक्त है। बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं ऐसे भगवान्के चरण-कमलोंसे जो आधे क्षणके लिये भी नहीं हटता, जो निरन्तर उनके चरणोंकी सेवामें ही लगा रहता है, यहाँतक कि त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मीका लोभ देनेपर भी जो भगवत्स्मृतिका तार नहीं तोड़ता, उस राज्य-लक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता; वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है। रासलीलाके अवसर-पर नृत्य-गतिसे भाँति-भाँतिके पद-विन्यास करनेवाले निखिल-सौंदर्य-माधुर्य-निधि भगवान्के भक्तजनोंके हृदयका विरहजनित संताप जिनके हृदयसे एक बार दूर हो चुका है, वह उनके हृदयमें फिर कैसे आ सकता है? विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण पाप-राशिको नष्ट कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षण-भरके लिये भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरण-कमलोंको हृदयमें बाँध रक्खा है, ऐसा ही पुरुष वास्तवमें भगवान्के भक्तोंमें प्रधान होता है।]

सन्तोंके गुण

रामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे नारदजीको यही कहलाया है—

सुनु मुनि सन्तन्हके गुन कहऊँ। जिन्हते मैं उन्हके बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख-धामा॥
अमित बोध अनीह मित-भोगी। सत्यसार कबि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मद-हीना। धीर धर्म-गति परम प्रवीना॥

गुनागार संसार दुख-रहित विगत-सन्देह।
तजि मम चरन-सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। पर-गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप व्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द बिप्र पद-प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद-प्रीति अमाया॥
विरति विवेक विनय विग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहि सदा मम लीला। हेतु-रहित पर-हित-रत-सीला॥
मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

सन्तके लक्षण

रामचरितमानसमें ही भगवान रामचन्द्रजीने भरतजीसे भी सन्तका लक्षण यही बताया—

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान विख्याता॥
संत असंतन्हिकै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

तातें सुर सीसन्ह चढ़त, जग-वल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु-बदन यह दंड॥

विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख, सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित्त दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज-पद-प्रीति धर्म जनयत्री॥

ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहि डोलहिं। परुप बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद-कंज।
ते सज्जन मम प्रान-प्रिय, गुन-मंदिर सुख पुंज॥

× × ×

संत-हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह पै कहइ न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख-द्रवइ संत सुपुनीता॥

× × ×

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी॥

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायमें स्थितप्रज्ञके नामसे संतके लक्षण बताते हुए कहा गया है—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

× × ×

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता॥

× × ×

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

[जो मनुष्य मनकी सब कामनाएँ छोड़ देता है और अपनेसे ही अपनेमें संतुष्ट हुआ रहता है वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जो दुःखमें उद्विग्न नहीं होता, सुख प्राप्त करनेके फेरमें नहीं पड़ता और राग, भय तथा क्रोधको छोड़ चुका है वही स्थिर-बुद्धि है। जो किसीसे स्नेह नहीं रखता और अच्छी वस्तु प्राप्त होनेपर सुखी तथा बुरी वस्तु प्राप्त होनेपर दुखी नहीं होता वही स्थितप्रज्ञ है। जैसे कछुआ अपने सब अंग भीतर समेट लेता है वैसे ही जो अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेट लेता है उसी की बुद्धि स्थिर होती है। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है। जो सब इच्छाओंको छोड़कर निःस्पृह, ममत्वहीन और निरहंकार होकर विचरण करता है उसे ही शान्ति मिलती है।] वही शान्त चित्तवाला पुरुष ही संत है।

आगे चलकर प्रिय भक्तके नामसे भी भगवान् कृष्णने सन्तके ही लक्षण बताते हुए कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नो द्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुख-दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

[गीता अध्याय १२

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

[किसी भी प्राणीसे वैर न करनेवाला, सबसे मित्रता करनेवाला, सबपर दया करनेवाला, ममत्वहीन, निरहङ्कार, सुख-दुःखोंको समान समझनेवाला, क्षमाशील, निरन्तर सन्तुष्ट, एकाग्र मनवाला, संयमी, दृढ सङ्कल्पवाला, सदा मुझमें (भगवान्‌में) मन और बुद्धि लगाए रखनेवाला, किसीको उद्विग्न न करनेवाला, किसीसे उद्विग्न न होनेवाला, हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेगसे मुक्त, कामनाहीन, पवित्र, चतुर, उदासीन, व्यथासे परे, सब कार्योंका आरम्भ छोड़ देनेवाला, भक्तियुक्त, शत्रु-मित्रका भेद न रखनेवाला, मान-अपमानको समान समझनेवाला, गर्मी-सर्दी और सुख-दुःखको एक-सा माननेवाला, किसीसे कोई लगाव न रखनेवाला, निन्दा और स्तुतिसे प्रभावित न होनेवाला, सदा मौन रहनेवाला, सभी दशाओंमें सन्तुष्ट, कहीं घर बनाकर न रहनेवाला और स्थिर बुद्धिवाला मेरा भक्त मनुष्य ही मुझे प्रिय है ।]

महाभारत तथा प्रायः सभी पुराणोंमें सन्तोंका विशद वर्णन इन्हीं शब्दों, विशेषणों और लक्षणोंके साथ किया गया है ।

सन्त क्या करते हैं ?

परमात्माको प्रिय लगनेवाले ऐसे उदासीन सन्त स्वयं अपनी निःसङ्ग मानसिक शान्तिसे ही कृतार्थ नहीं होते, वे संसार-सागरमें डूबते हुए असंख्य प्राणियोंका उद्धार करके उन्हें भी परमात्माके परम धाममें पहुँचानेके लिये सुदृढ जलयान बन जाते हैं । उनका सत्सङ्ग करके तथा उनके वचनानुसार आचरण करनेसे ही सबका उद्धार होता है । इतना ही नहीं, उनके स्मरण मात्रसे केवल स्मरण करनेवालेका मन ही नहीं, उसके परिवार-तकके प्रियजन-परिजन तत्काल विशुद्ध हो जाते हैं । महाराज परीक्षितने मुनिवर शुकदेवजीसे कहा है—

येषां संस्मरणात् पुंसः सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥

[मुनिवर ! आप-जैसे महात्माओंके तो स्मरण-मात्रसे ही गृहस्थोंके घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं। फिर दर्शन, स्पर्श पाद-प्रक्षालन और आसनादि प्रदान करनेका उन्हें सुअवसर मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है ?]

ऐसे उदासीन संत-महात्माओंका संसारमें निवास और विचरण चेतन प्राणियोंको ही नहीं—जड, जल, मृत्तिका और वायु आदिको भी पावन बना देता है। धर्मराज युधिष्ठिरने महात्मा विदुरजीसे यही कहा था—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥

[श्रीमद्भागवत १।१३।१०

[प्रभो ! आप-जैसे भागवत (भगवानके प्रिय भक्त) स्वयं ही तीर्थ रूप हैं। आप लोग अपने हृदयमें विराजमान भगवान्के (नाम-मात्रके) द्वारा तीर्थोंको सच्चे तीर्थ बनाते हुए अर्थात् उक्त तीर्थस्थलोंमें जानेवाले लोगोंका उद्धार करनेकी शक्ति उन तीर्थोंको प्रदान करते हुए विचरण करते हैं।]

उच्च कोटिके संत

ऐसे साधन-सिद्ध संतोंके अतिरिक्त परमात्मा जीवोंके प्रति दयालु होकर कभी-कभी उच्च कोटिके संतोंको, अपने विशेष पार्षदों या आधिकारिक शक्तियों भी संसारके दुखी जीवोंका उद्धार करनेके लिये भेज दिया करते हैं। इस सम्बन्धमें उन्होंने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगन्तव्यं मम तेजोंशसंभवः ॥

[संसारमें जो विशेष विभूति, श्री, तथा ऊर्जितासे युक्त पुरुष दिखाई दें, उन्हें मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न समझो।]

वे महापुरुष त्रितापकी अग्निसे जले हुए जीवोंको समझा-बुझाकर—उनके सामने परम विशुद्ध आदर्श स्थापित करके उनकी यथायोग्य सेवा करके उनके हृदयोंमें परमात्माके स्वरूपको जाननेकी जिज्ञासा और परमात्माको प्राप्त करनेकी उत्कट आकांक्षा उत्पन्न कर देते हैं और फिर उनको भगवत्साक्षात्कारके योग्य बनाकर कृतार्थ कर देते हैं।

भगवान्‌ने स्वयं श्री उद्धवजीसे कहा है—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
संतो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य संतोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
संतो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः संतः संत आत्माहमेव च॥

[श्रीमद्भागवत, ११।२६।३१–३४

[जिसने ऐसे संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी कर्म-जडता, संसारसे भय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। जिसने अग्नि भगवान्‌का आश्रय ले लिया उसे क्या कभी शीत, भय अथवा अन्धकारका दुःख सता सकता है? जो इस संसार-सागरमें डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त-स्वभाववाले संत वैसे ही एक मात्र आश्रय हैं जैसे जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये दृढ नौका। जैसे अन्नसे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा होती है, जैसे मैं आर्त प्राणियोंका एक-मात्र आश्रय हूँ, जैसे मनुष्यके लिये परलोकमें धर्म ही एकमात्र पूँजी है, वैसे ही संसारसे भयभीत लोगोंके लिये सन्तजन ही परम आश्रय हैं। जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नेत्र-दान करता है वैसे ही संत-पुरुष भी अपनेको

तथा भगवान्को देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। संत पुरुष अनुग्रहशील देवता हैं, संत अपने हितैषी सुहृद् हैं, संत अपने प्रियतम आत्मा हैं। अधिक क्या कहें, संतके रूपमें स्वयं मैं ही प्रकट हूँ।]

भगवान्के भजनीय सन्त

संत लोग केवल भगवान्के स्वरूप ही नहीं, उनके भजनीय भी हैं। भगवान् कहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः॥

[श्रीमद्भागवत, ११।१४।१६

[जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मननमें तल्लीन रहता है, जो कभी किसी भी प्राणीसे वैर नहीं रखता, जो सर्वत्र समदृष्टि है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर इस विचारसे घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मुझपर पड़े और मैं पवित्र हो जाऊँ।]

इस प्रकारके उच्च कोटिके संतोंकी इतनी विशाल लम्बी और उदात्त परम्परा है कि उन सभीका पूरा जीवन-चरित देना असाधारण कार्य है किन्तु इस प्रकारके संत-समाजके प्रत्येक वर्गमें अनेक महापुरुष अपने लोक-कल्याणकारी कार्य, अपनी निःस्पृहता, निरहंकार-भावना तथा अपने पुण्य चरित्रसे विश्वके सम्मुख मानवताके उच्चत्तम आदर्श उपस्थित कर गए हैं।

महर्षि दधीचि

महर्षि दधीचिने घोड़ेका मुँह लगाकर अश्विनी-कुमारोंको ब्रह्म-ज्ञानका उपदेश देकर इन्द्रका वैर मोल ले लिया। इन्द्रने जब उनके उस घोड़ेके मुखको अपने वज्रसे काट दिया तब अश्विनी-कुमारोंने अपने आयुर्वेदिक कौशलसे उनका सिर पुनः जोड़ दिया। उसी इन्द्रको जब वृत्रासुरने स्वर्गसे निष्कासित कर

दिया तब वृत्रासुरसे इन्द्रकी रक्षाके लिये देवताओंकी प्रार्थना-पर उन्होंने गौओंसे अपना शरीर चटवाकर वृत्रासुरके वधके लिये वज्र बनानेके निमित्त अपनी हड्डी दे डाली और यह प्रसिद्ध उक्ति चरितार्थ कर डाली—

जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोकों फूल के फूल हैं, वाको है तिरसूल॥

जिस इन्द्रने उनका वध कर डालना चाहा था उसी इन्द्रकी रक्षाके लिये उन्होंने अपने प्राण और अपना शरीर भी दे दिया। यही उनकी महत्ता थी। यही उनके संतत्वका प्रमाण है।

महर्षि वशिष्ठ

विश्वामित्रजीने अपने क्षत्रियत्वके मदमें आकर वशिष्ठजीसे बलपूर्वक अपनेको ब्रह्मर्षि कहलाना चाहा था किन्तु सत्यनिष्ठ वशिष्ठजीने ने तो अपने पुत्रोंकी हत्या कर दिए जानेपर भी उन्हें ब्रह्मर्षि ही कहा और न विश्वामित्रजीके प्रति अपने मनमें किसी प्रकारकी द्वेष-भावना आने दी। किन्तु विश्वामित्रजी क्षत्रिय थे। उन्होंने निश्चय किया कि यदि वशिष्ठजी सीधे नहीं मानेंगे तो शस्त्रके बलसे उन्हें विवश करूँगा। अतः, वे शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर वशिष्ठके आश्रममें दबे पाँव जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि चाँदनी रातमें साथ बैठे हुए वशिष्ठजीसे उनकी धर्मपत्नी अरुन्धतीजी कह रही हैं—देखिए, कितनी दुग्धधवल सुहावनी चाँदनी छिटकी हुई है। उसपर वशिष्ठजी उत्तर देते हैं—हाँ, यह चाँदनी वैसी ही सुन्दर है जैसी विश्वामित्रजीकी तपस्या। जिन वशिष्ठजीके प्रति विश्वामित्रजी द्वेष-भावना लेकर आए थे उनके मुखसे इस प्रकार अपनी तपस्याकी प्रशंसा सुनकर विश्वामित्रजी पानी-पानी हो गए और झट सब शस्त्र डालकर उनके चरणोंमें आ गिरे। वशिष्ठजीने 'आओ ब्रह्मर्षि' कहकर उन्हें उठाकर गले लगा लिया। यही वशिष्ठजीके संतत्वकी पराकाष्ठा थी।

रन्तिदेव

महाराज रन्तिदेवने दुष्कालके समय अपना और अपने परिवारका सारा भोजन अपने यहाँ आए हुए अतिथियोंको, चाण्डालको और कुत्तेको दे डाला था।

पुराणोंमें एक पुण्यात्मा राजाकी कथा आती है कि अपने पुण्यके कारण जब वे स्वर्ग जाने लगे तो नरककी ओर होकर उन्हें जाना पड़ा। उस समय उनके पुण्यके कारण नरककी ज्वालासे दग्ध, संतप्त और पीडित सब प्राणी पुकार-पुकारकर कहने लगे कि अभी थोड़ी देर और रुक जाइए क्योंकि आपके आनेसे हमारा ताप कम हो गया है। उस पुण्यात्माने कहा कि मुझे अब स्वर्ग नहीं चाहिए। मैं यहीं नरकमें रहना चाहता हूँ जिससे कि इन आर्तनाद करते हुए दुखी प्राणियोंको सुख प्राप्त होता रहे। यह है संतकी विशेषता।

सन्त तुकाराम

संत तुकारामकी कथा तो प्रसिद्ध ही है कि एक दिन जब वे अपने खेतसे ईख काटकर बच्चोंको बाँटते हुए केवल एक ईख लेकर घर पहुँचे तो उनकी कलहप्रिया पत्नीने क्रोधमें आकर वह ईखका दण्ड ही उनकी पीठपर दे मारा जिससे उसके दो टुकड़े हो गए। किन्तु संत तुकारामने यही कहा कि चलो अच्छा हुआ, तुमने ही ईखके दो टुकड़े कर दिए, अन्यथा मुझे परिश्रम करना पड़ता।

सन्त एकनाथ

इसी प्रकार संत एकनाथजी की कथा प्रसिद्ध है कि वे जब गोदावरीसे स्नान करके आते थे तो एक पठान उनके ऊपर कुल्ला कर दिया करता था और उन्हें पुनः स्नान करने जाना पड़ता था। इस प्रकार कभी-कभी उन्हें सात-सात, आठ-आठ बार स्नान करना पड़ जाता था। एक बार तो उस पठानने ऐसा हठ

ठान लिया कि उसने संत एकनाथजीपर १०८ बार कुल्ला किया जिससे एकनाथजीको १०८ वार स्नान करना पड़ा। उनकी इस सहिष्णुतासे पठान अत्यन्त लज्जित हुआ और उसने अपने दुष्कृतके लिये उनसे क्षमा माँगी।

संत एकनाथजीके सम्वन्धमें ही घटना प्रसिद्ध है कि जव एक वार वे काँवरमें गंगाजल लेकर भगवान्‌को चढ़ाने चले जा रहे थे तो मार्गमें मरणासन्न गदहेको प्यासा देखकर उन्होंने काँवरका जल उसे पिला दिया। जव अन्य साथियोंने कहा कि यह जल तो भगवान्‌पर चढ़ानेके लिये था तो उन्होंने कहा कि मेरे भगवान् तो मुझे यहीं मिल गए हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर

संत लोग आत्मवत्सर्वभूतेषुके सिद्धान्तको पूर्णतः साध लेते हैं। संत ज्ञानेश्वरकी कथा प्रसिद्ध ही है कि जव कुछ दुष्टोंने भैंसेकी पीठपर चाबुक मारा तो संत ज्ञानेश्वरजीकी पीठपर उसकी नीली साटें उपड़ आईं।

नामदेवजी

इसी प्रकार एक दिन जव नामदेवजीकी रूखी रोटियाँ कुत्ता ले भागा तो वे घी लेकर यह कहते हुए उसके पीछे-पीछे दौड़ चले कि भगवन्! ये रोटियाँ रूखी हैं, मैं घी चुपड़ना भूल गया था। यह घी लीजिए! और उन्होंने कुत्तेके लिये घी भी ले जाकर रख दिया।

त्यागी सन्त राँका

संतोंमें निर्लोभिता और निःस्पृहता भी पराकाष्ठाकी होती है। त्यागी राँकाकी कथा प्रसिद्ध है कि वे स्वभावसे बड़े निर्लोभी थे। उनकी परीक्षाके लिये किसीने मार्गमें कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ ले जा रक्खीं। राँकाकी पत्नी भी पीछे-पीछे चली आ रही थी। राँकाने समझा कि ऐसा न हो कि मेरी पत्नीका चित्त स्वर्ण-राशिको

देखकर चंचल हो जाय। इसलिये वे उसपर मिट्टी उठा-उठाकर डालने लगे। किन्तु उनकी पत्नी तो उनसे भी अधिक निर्लोभिनी थी। उसने कहा कि यह आप क्या मिट्टीपर मिट्टी डाले चले जा रहे हैं।

सन्त हरिदास

बंगालके निवासी संत हरिदासजी मूलतः मुसलमान थे। संयोगसे उन्होंने हिन्दू संतोंका सत्संग किया था और उन्हींके रंगमें रँग गए थे। यह देखकर वहाँके मुसलमान उनसे अत्यन्त चिढ़ गए और वहाँके काज़ीने उनके लिये यह दण्ड-विधान किया कि इन्हें नंगा करके सारे नगरमें पीटते हुए घुमाया जाय। स्वामी-हरिदासजी पिटते रहे, उनके शरीरसे रक्तकी धारा भी वहती रही किन्तु वे निरन्तर 'हरि बोल, हरि बोल' कहते ही रहे। इस प्रकार क्षमाशीलता भी संतोंका बड़ा भारी गुण रहा है।

गोस्वामी तुलसीदास

इन सब अनेक गुणोंके कारण और विश्वात्म या परमात्मके साथ पूर्ण एकात्मता स्थापित करनेके कारण उन्हें अपनी रक्षाकी चिन्ता नहीं रहती क्योंकि स्वयं भगवान् उनकी रक्षाके लिये चिन्तित रहते हैं। एक वार गोस्वामी तुलसीदासजी निश्चिन्त होकर सोए पड़े थे कि उनके यहाँ कुछ चोर आ घुसे। वहाँ पहुँचकर वे देखते क्या हैं कि धनुषवाण-धारी दो श्यामल-गौर युगल वीर (राम-लक्ष्मण) उनके यहाँ खड़े पहरा दे रहे हैं।

नरसी मेहता

नरसी मेहताकी तो कथा सर्वविदित ही है कि एक वार जव उन्हें अपनी पुत्रीके यहाँ भात (विवाहके समय भेंट) देनेका समय आया तो वे अपना थोड़ा-वहुत दारिद्रचपूर्ण सामान गाड़ीपर लादकर चल दिए। उन्हें स्वयं यह चिन्ता हो रही थी

कि इतनी तुच्छ सामग्री लेकर मैं वहाँ क्या जाऊँ। यह सोचकर और अपने मानापमानकी सब चिन्ताएँ छोड़कर वे बैठकर भगवान्‌का कीर्तन करने लगे। उधर भगवान् स्वयं नरसी मेहताके मुनीम सामल शाह बनकर इतनी सामग्री, इतने आभूषण और इतने वस्त्र लेकर जा पहुँचे कि नरसी मेहताकी कन्याके ससुरालवाले देखकर दंग रह गए। इसीलिये व्यास कविने भक्तिके आवेगमें सत्य ही कहा था—

काहूके बल भजनको, काहूके आचार।
व्यास भरोसे रामके, सोवत पाँव पसार॥

रहीमने भी इसीका समर्थन करते हुए कहा था —

कहु रहीम का करि सकैं, ज्वारी चोर लबार।
जाको राखनहार है, माखन-चाखनहार॥

भगवान्‌का भरोसा

इसीलिये सन्त लोग पूर्णतः भगवान्‌को आत्म-समर्पण करके अपने शुद्धान्तःकरणके द्वारा निरन्तर लोक-मङ्गल और लोक-कल्याण करते रहते हैं क्योंकि उनका उदय ही विश्वके कल्याणके लिये होता है। वे अपने और पराएका भेद नहीं करते, किसीको शत्रु और मित्र नहीं मानते। जो उनका अहित भी करता है, उन्हें कष्ट भी देता है, उसका भी वे निरन्तर कल्याण करते रहते हैं और अपने स्वार्थका पूर्ण परित्याग करके निरन्तर दूसरोंका हित करनेमें ही अपने जीवनकी सार्थकता समझते और उसे ही अपने सात्त्विक आनन्दका स्वाभाविक स्रोत मानते हैं।

लोक-कल्याणकी वृत्ति

इस प्रकारकी परोपकार-भवति एकनिष्ठ परार्थ वृत्ति सब मनुष्योंमें सम्भव नहीं हो सकती किन्तु जो पुरुष पिछले जन्मके सुकृत लेकर संसारमें आते हैं अथवा जो योगभ्रष्ट तपस्वी

अपनी तपस्या पूर्ण करनेके लिये पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं अथवा जो पुरुष अपने माता-पिता अथवा किसी प्रदेशकी प्रजाके पुण्यसे जन्म लेते अथवा धर्मकी रक्षाके लिये दिव्य ईश्वरीय शक्ति या परम पुरुषका तेजःपूर्ण अंश लेकर अवतरित होते हैं वे सामान्य पुरुषकी अपेक्षा विशेष सात्त्विक गुणोंसे पूर्ण होते हैं। उनके हृदयमें पर-सेवा, परहित, दया, क्षमा, उदारता आदि उदात्त गुणोंका इतना अधिक समावेश होता है कि उनके कारण उनकी सभी रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियाँ पूर्णतः लय हो जाती हैं और केवल उनकी सात्त्विक वृत्ति इतनी अधिक प्रबल हुई रहती है कि उनकी उदार भावना, परार्थ-भावना और लोक-संग्रह-भावना उनकी उस सत्त्व-वृत्तिका निरन्तर पोषण करती रहती है। ऐसे ही महापुरुष विश्व भरमें सन्तके रूपमें निरन्तर लोक-कल्याण करते रहते हैं।

एकान्तवाससे विरक्ति

इस प्रकारकी सात्त्विक सन्त-वृत्तिके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे घर-द्वार छोड़कर, मूँड़ मुँड़ाकर संन्यासी हो जायँ, एकान्तवास, अरण्यवास या पर्वत-वास करने लगें और सम्पूर्ण मानव-समाजसे अलग होकर केवल आत्म-चिन्तनमें ही लगे रह जायँ। ऐसे लोग पलायनवादी होते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसे लोगोंके लिये कहा गया है —

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेको
नान्यत्तदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

[प्रायः बहुतसे देवता और मुनि अपनी मुक्तिकी इच्छासे एकान्त वनमें मौन होकर विचरण करते हैं और तनिक भी दूसरोंके कल्याणका ध्यान नहीं रखते। किन्तु कुछ ऐसे लोग

अवश्य होते हैं जो संसारके दुखी प्राणियोंको दुःखमें मग्न छोड़कर मुक्त भी नहीं होना चाहते ।] ऐसे ही महापुरुष वास्तवमें सन्त होते हैं जो यही कामना करते हैं—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

[न तो मैं राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मुक्ति चाहता हूँ । मैं तो यही चाहता हूँ कि किसी भी प्रकार दुखी प्राणियोंके कष्ट दूर करता रहूँ ।]

सन्तोंकी विश्वात्मीयता

ऐसे सन्तोंकी न कोई जाति होती है, न उनका कोई देश होता है और न कोई वर्ग होता है । संसार-भरके सभी प्राणी उनके आत्मीय होते हैं । केवल यह धरित्री ही नहीं, वरन् त्रिभुवन और सारा विश्व ही उनका कार्यक्षेत्र होता है और सामान्य सामाजिक भावनाके अनुसार वे जिस भी परिस्थिति या वृत्तिमें प्रतिष्ठित होते हैं, उससे निर्लिप्त रहकर वे निरन्तर लोक-कल्याण करते रहे हैं । ऐसे सन्तोंमें अनेक राजा, तपस्वी, गृहस्थ, त्यागी, अवधूत, लोक-सेवक, देश-सेवक, साधु तथा अन्य अनेक प्रकारकी जीविका-वृत्तियोंमें लगे हुए पुरुषों और स्त्रियोंकी विशाल परम्परा संसारके सभी देशोंमें व्याप्त है । इन सब विभिन्न प्रकारके सन्तोंमें उदासीन सन्तोंकी अत्यन्त उदात्त, श्लाघनीय, वन्दनीय और प्रशस्त परम्परा हमारे देशमें विद्यमान रही है । अनेक विद्वानोंने समय-समयपर अनेक भारतीय तथा विदेशी भाषाओंमें अपने-अपने देशोंके संतोंकी परम्पराओं तथा संतोंके लोकसंग्रही कार्योंका विस्तृत विवरण पुस्तक-रूपमें प्रस्तुत किया है किन्तु भारतके उदासीन सन्तोंकी और उनकी वरिष्ठ परम्पराका कोई विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास नहीं लिखा गया ।

उदासीन सन्त

उदासीन शब्दकी व्युत्पत्ति अनेक प्रकारसे की भी गई है और की भी जा सकती है। शब्दार्थकी दृष्टिसे इनका अर्थ हुआ वह व्यक्ति जो ऊपर बैठा हो (उत् ऊर्ध्वं आसीनः), लक्षणासे इसका तात्पर्य हुआ वह व्यक्ति, जो सर्वाग्रणी हो, सबका मूर्धन्य समझा जाता हो। व्यंजनासे इसका अर्थ होगा साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप, ब्रह्मस्थित या ब्रह्मनिष्ठ। भारतीय मान्यताके अनुसार चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) में चतुर्थ आश्रम (संन्यास) ही सबसे मुख्य माना गया है। इनमें भी वे चतुर्थाश्रमी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने गए हैं जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण मानस वृत्तियाँ अतीन्द्रिय होकर ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये एकाग्र कर दी हों। व्यापक अर्थमें उदासीनका अर्थ है वह व्यक्ति जो सुख-दुःख, राग-द्वेष, लोभ-मोह, अपना-पराया आदि सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे परे होकर सबको अपना आत्मीय समझता हो। यहाँतक कि जो उससे शत्रुता रखते हों, उसे हानि पहुँचाते हों उनका भी निरन्तर हित-चिन्तन करता रहे, जो सदा सर्व-भूत-हिते रत रहे। ऐसा ही पुरुष उत् आसीन (सबसे अलग, सबसे ऊपर) समदृष्टि रखकर बैठा हुआ (समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च) उदासीन कहलानेका पात्र होता है। अतः, उदासीनता मूलतः वह सात्त्विक वृत्ति है जो मनुष्यको समदृष्टि प्रदान करके उसे सबसे अलग, सबसे ऊपर वहाँ प्रतिष्ठित कर देती है जहाँसे वह निर्लिप्त होकर सबपर अपनी कृपाकी निरंतर वर्षा करता रहता है।

ऋषि और मुनि

ऐसे ही उदासीन साधक ऋषि और मुनि भी कहलाते हैं। वैदिक साहित्यमें मन्त्रोंका दर्शन करनेवाले मंत्र-द्रष्टा महापुरुषोंको ऋषि कहा गया है जिनमें कुछ ऋषि तो ऐसे भी थे जो सपत्नीक भी साधना करते थे। सप्तर्षियोंमें वशिष्ठजी इसके प्रमाण हैं जिनकी धर्मपत्नी अरुन्धतीने भी मन्त्रोंका

दर्शन किया था और जो ऋषि पदपर प्रतिष्टित थीं। ब्रह्म या परम तत्त्वका मनन करनेवाले तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंको मुनि कहा जाता था। यों ऋषि और मुनिके जीवन-व्यवहारमें कोई विशेष अन्तर नहीं हैं किन्तु कुछ विद्वानोंका मत है कि जो प्रारम्भसे ही शुकदेवजीके समान चतुर्थाश्रममें प्रविष्ट हो जायँ वे मुनि कहलाते हैं और जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंके पश्चात् संन्यास अथवा चतुर्थ आश्रम ग्रहण करते हैं वे ऋषि कहलाते हैं। व्याकरणके अनुसार ऋषिका अर्थ है ज्ञानके द्वारा संसारको पार कर जानेवाला (ऋषति गच्छति संसारपारम्, ऋष्-इन्-कित्)। ये ऋषि सात प्रकारके-होते हैं—महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि राजर्षि और काण्डर्षि। प्रत्येक मन्वन्तरमें सात-सात प्रधान ऋषि या सप्तर्षि होते रहे हैं।

सप्तर्षि

स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ; स्वारोचिष मन्वन्तरमें ऊर्ज, स्तम्भ, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ, निश्चर तथा चार्ववीर; उत्तम मन्वन्तरमें वशिष्ठके सातों पुत्र (रजः, गात्र, ऊर्ध्ववाहु, सवन, अनघ, सुतपा और शुक्र); तामस मन्वन्तरमें ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वलक एवं पौरव; रैवत मन्वन्तरमें हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्ध्ववाहु, वेदवाहु, भूधामा, पर्जन्य तथा वशिष्ठ; चाक्षुष मन्वन्तरमें सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उन्नत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु, वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तरमें अत्रि, वशिष्ठ विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज और कश्यप; सावर्णिक मन्वन्तरमें अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज और कश्यप; सावर्णिक मन्वन्तरमें गालव; दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यश्रृंग तथा व्यास; दक्षसावर्णिक मन्वन्तरमें मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सरल एवं हव्यवाहन; ब्रह्मसावर्णिक मन्वन्तरमें

आप, भूति हविष्मान्, सुकृती; सत्य, नाभाग और वशिष्ठके पुत्र अप्रतिम; धर्मसावर्णिक मन्वन्तरमें हविष्मान्, वरिष्ठ, ऋष्टि, आरुणि, निश्चर, अनघ, एवं विष्टि; रुद्रसावर्णिक मन्वन्तरमें द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्त्ति, तपोरति तथा तपोधृति; देवसावर्णिक मन्वन्तरमें धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा एवं निष्प्रकम्प; इन्द्रसावर्णिक मन्वन्तरमें अग्नीध्र, अग्निवाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शुक्र और अजित।

मुनि

मुनि शब्दकी व्युत्पत्ति व्याकरणके अनुसार यह की गई है कि जिसने मनन करके ज्ञान प्राप्त किया हो उसे मुनि कहते हैं (मनुते जानाति यः इति मन इन्)। नैषध-चरितमें मुनि-वृत्तिका परिचय देते हुए कहा गया है—

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।

[नैषध १।१३३

[मेरी जीवन-चर्या मुनियोंके समान वृक्षोंके फल, मूल तथा जलसे चल जाती है।]

मुनिका लक्षण बताते हुए भगवान कृष्णने अर्जुनसे कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

[गीता २।४५

[जो महापुरुष दुखःमें घबराता नहीं; सुखकी कोई कामना नहीं करता, जिसे राग, भय और क्रोध छू-तक नहीं गए हैं, वही मुनि है।]

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणके ब्रह्मखंडमें लिखा है कि अनेक मुनि ब्रह्माके अनेक अंगोंसे उत्पन्न हुए थे—

पुलस्त्यो दक्षकर्णाच्च पुलहो वामकर्णतः।
दक्षनेत्रात्तथात्रिश्च वामनेत्रात् क्रतुः स्वयम्॥
अरणिर्नासिकारन्ध्रात् अङ्गिराश्च मुखाद्रुचिः।
भृगुश्च वामपार्श्वाच्च दक्षो दक्षिण-पार्श्वतः॥

छायया कर्दमो जातो नाभेः पञ्चशिखस्तथा ।
वक्षसश्चैव वोढुश्च कण्ठदेशाच्च नारदः ॥
मरीचिः स्कन्धदेशाच्च आपस्तम्बस्तथा गलात् ।
वशिष्ठो रशनादेशात्प्रचेता अधरोष्ठतः ॥
हंसश्च वामकुक्षेश्च दक्षकुक्षेर्यतिः स्वयम् ।
सृष्टिं विधातुं च विधिश्चकाराज्ञां सुतानपि ॥

[ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखंड अ० ८

[ब्रह्माके दाएँ कानसे पुलस्त्य, बाएँ कानसे पुलह, दाईं आँखसे अत्रि, वाईंसे ऋतु, नाकसे अरणि और अङ्गिरा, मुखसे रुचि, वाम पार्श्वसे भृगु, दक्षिण पार्श्वसे दक्ष, छायासे कर्दम, नाभिसे पञ्चशिख, वक्षसे वोढु, कण्ठसे नारद, स्कन्धसे मरीचि, गलेसे आपस्तम्ब, जीभसे वशिष्ठ, ओष्ठसे प्रचेता, वाम कुक्षिसे हंस तथा दक्षिण कुक्षिसे यति नामक मुनि उत्पन्न हुए।]

वायुपुराणमें विवरण आया है कि जब ब्रह्मा गयासुरके सिरमें यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे तब उन्होंने यज्ञका निर्वाह करनेके लिये अपने मनसे निम्मांकित मुनियोंकी मानस सृष्टि की थी—अग्निशर्मा, अमृत, शौनक, जाजलि, मृदु, कुमुखि, वेद-कौण्डिन्य, हारीत, कश्यप, कृप, गर्ग, कौशिक, वाशिष्ठ, भार्गव, वृद्धपाराशर, कण्व, माण्डव्य, श्रुतिकेवल, श्वेत, सुताल, दमन, सुहोत्र, कक्ष, लौगाक्षि, जैगीषव्य, दधि, पञ्चमुख, ऋषभ, कर्क, कामायन, गोभिल, उग्र, जटामाली, चाट्टहास, दारुण, आत्रेय, अङ्गिरस, औपमन्यु, गोकर्ण, गुहावास, शिखण्डी, सुपालक, गौतम और वेदशिरा।

उदासीन-परम्परा

इनके अतिरिक्त वेद, शास्त्र, उपनिषत्, आरण्यक, ब्राह्मण तथा पुराणोंमें अनेक ऋषियों और मुनियोंके नाम आए हैं। उनके लक्षण वे ही बताए गए हैं जो ऊपर उदासीन सन्तोंके बताए गए हैं। अतः, उदासीन साधु पुरुषोंकी परम्परा उतनी ही

प्राचीन है जितने वेद और वेदविहित समाज। काव्यों और नाटकोंमें मुनियोंके आश्रमोंका उल्लेख करते हुए बताया गया है कि वहाँ मुनियोंके प्रभावसे हरिण निश्चिन्त होकर घूमते हैं; वानर चपलता छोड़कर ऋषि-मुनियोंकी सेवा करते हैं; व्याघ्र, सिंह, व्याल आदि अपनी स्वाभाविक हिंसा-वृत्ति छोड़कर रहते हैं; मुनि-कन्याएँ और मुनि बालक आश्रमकी सेवा करते हैं, गो-पालन करते हैं, कुश; समित् और जल लाते हैं। वहाँ यज्ञ-धूम व्याप्त रहता है, अध्ययन-अध्यापन तथा तपस्याका क्रम चलता रहता है। इस प्रकार उदासीन वृत्तिवाले ऋषि-मुनियोंकी, उनकी लोक-मङ्गलकारी जीवन-चर्याकी और उनके राग-द्वेष-विहीन सात्त्विक जीवनसे पूर्ण आश्रमोंकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन कालसे हमारे देशमें प्रतिष्ठित रही है।

वृत्ति तथा संस्कार—भेद

उदासीन साधुओंके वृत्ति-भेद तथा संस्कार-भेदके अनुसार तीन रूप होते हैं—मुनि, ऋषि और सेवक। जो व्यक्ति किसी उदासीन मुनि अथवा ऋषिसे कोई गुरुमंत्र लेता है और उनका चरणामृत पीकर शिष्य बन जाता है, किन्तु न तो किसी दूसरेको शिष्य बनाता है, न मंत्रोपदेश देता है; वह उदासीन सेवक कहलाता है। यह सेवक अन्य गृहस्थोंके समान गृहस्थाश्रमके धर्म पालता चलता है।

जो गृहस्थ तपस्या करता हुआ दैवी संपत्का पूर्णतः अनुष्ठान करता हुआ किसी उदासीन मुनिसे अद्वैत-बोधक गुरु-मन्त्र लेकर शास्त्रके तत्त्वोंका प्रचार करता हुआ स्वयं ब्रह्मनिष्ठ होनेका प्रयत्न करता और वैदिक नियमका भी पालन करता है, उसे ऋषि कहते हैं। वह गृहस्थ होते हुए भी चतुर्थ आश्रमके नियमोंका पालन करता हुआ लोक-कल्याण करते हुए असंख्य मनुष्योंको दीक्षा देकर, शिष्य बनाकर धर्मके तत्त्वोंका घूम-घूमकर प्रचार करता है।

किन्तु जो परलोकका भी परित्याग कर देता है वह विदेह जनकके समान मुनि कहलाता है।

चतुर्थाश्रम पद्धतियाँ

इस चतुर्थाश्रमकी तीन पद्धतियाँ हैं, जिनमेंसे प्रथम श्रौत पद्धति है, जिसमें वेदके अनुसार चतुर्थ आश्रमवाले प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। यह प्रव्रज्या अलिङ्ग होती थी अर्थात् इसमें किसी प्रकारका कोई बाह्य चिह्न नहीं धारण करना पड़ता था। दूसरी अवस्था स्मार्त्त-पद्धति की थी, जिसके अनुसार स्मृति अथवा धर्मशास्त्रोंमें वर्णित विधिके अनुसार बाह्य चिह्न धारण किए जाते थे। तीसरी वर्तमान पद्धति है, जिसके अनुसार श्रौत और स्मार्त पद्धतिके अतिरिक्त नयी प्रव्रज्याकी परिपाटी चली, जिसमें तांत्रिक नियमोंका समावेश हुआ। मूलतः इन तीनों पद्धतियोंमें विशेष अन्तर न होते हुए भी साधना-पद्धति और बाह्याचारमें पर्याप्त अन्तर हो गया, फिर भी तीनों पद्धतियाँ अलग-अलग चलती रहीं। इनमेंसे उदासीन साधु श्रौत पद्धतिका ही पालन करते हैं और अलिंग होकर ही व्रत-साधना करते हैं।

श्रौत परिव्राजक

ऊपर बताया जा चुका है कि श्रौत परिव्राजक अलिंग होता है अर्थात् वह किसी प्रकार कोई बाह्य चिह्न नहीं धारण करता फिर भी उस उदासीन श्रौत परिव्राजकके कुछ लक्षण तो निश्चित थे ही। पद्मपुराणके पाताल-खण्डमें उसका लक्षण बताया गया है कि वही द्विजोत्तम उदासीन कहलाता है जो सदा उदासीन अर्थात् निर्लिप्त भावसे व्यवहार करता हो, जो न किसीको कुछ देता हो न किसीसे कुछ लेता हो; जो न किसीपर क्रोध करता हो न किसीपर प्रसन्न होता हो और जो संसारके पदार्थोंका त्याग करके भी उन्हें छोड़कर न भागा हो। वैदिक नियमके अनुसार चतुर्थ आश्रमका चिह्न दण्ड है, किन्तु उदासीन लोग दण्ड भी नहीं धारण करते। उसका कारण वे यही बताते हैं कि हमारे

विचार ही हमारे दण्ड है। इसलिये हमें वेणुदण्ड धारण करनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कहा भी है—

> वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः।
> यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायती ॥
> [नारद-परिव्राजकोपनिषद्]

> वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
> यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
> [मनुस्मृति अ० १२]

[जिसने अपनी वाणी, क्रिया और मनपर दण्ड या अंकुश स्थापित कर लिया है अर्थात् उन्हें वशमें कर रक्खा है, वही त्रिदण्डी है।]

उदासीनोंके प्रकार

चतुर्थाश्रमी उदासीन साधुओंमें छह प्रकारके महात्माओंका विवरण मिलता है—कुटीचक, वहूदक, हंस; परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। साधारणतः उदासीन साधु सदा कौषेय वस्त्र पहनकर, सिर मुँड़ाकर या शिखा रखकर, परिग्रह छोड़कर त्रिदण्ड (कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड) धारण करके अर्थात् शरीर, वाणी और मनको अपने वशमें रखकर सदा ध्यान-योग करता रहता है। किन्तु ऊपर जो भेद बताए गए हैं उनके अनुसार उसके आचरणमें भी थोड़ा भेद हो जाया करता है।

कुटीचक

कुटीचक साधु शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु; कौपीन, तथा कन्था (गुदड़ी) धारण करता है, माता-पिता और गुरुकी आराधना करता है; तीन समय स्नान करके, तिलक लगाकर देवार्चन करता और मन्त्र जपता है, अभ्यागतों और साधुओंका सत्कार करता है; कथा-वार्ता और धर्म-प्रवचन करता है, सब सांसारिक सुखोंका त्याग करके अपने पुत्र-पौत्रोंकी

सम्पत्ति और ममतासे मन हटाकर उनके साथ रहते हुए भी, उनके लिये किसी प्रकारकी चिन्ता न करते हुए भी अपने आवास, ग्राम या नगरमें ही कुटिया बनाकर अपना जीवन-निर्वाह करता है।

बहूदक

बहूदक साधु वह है जो शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करके, तिलक लगाकर, देवपूजन, मन्त्र और जपका अनुष्ठान करता हुआ तितिक्षा और सदाचारके साथ तीर्थोंमें घूमता हुआ धर्मोपदेश करता है और जितेन्द्रिय होकर अपने सब बन्धु-बान्धवोंका त्याग करके प्राणायाममें तत्पर रहता है। कुटीचक उदासीन भी यदि कुटी छोड़कर भ्रमण करने लगे तो वह भी बहूदक हो जाता है और यदि बहूदक साधु भ्रमण छोड़कर कुटी बनाकर बैठ जाय तो वह भी कुटीचक हो जाता है।

हंस

हंस उदासीन साधु वह है जो जटा बढ़ाए रखता हो, कौपीन पहनता हो, तिलक लगाता हो, एक समय स्नान करता हो, करपात्री हो अर्थात् हाथमें ही खाता-पीता हो, वीतराग, शान्त, जितेन्द्रिय और परोपकारी हो तथा गाँवमें एक रात, नगरमें पाँच रात और क्षेत्रमें सात रातसे अधिक न ठहरता हो। ऐसा साधु शरीर त्याग करनेके पश्चात् तपोलोकमें जाता है। आजकल ऐसे साधुको नागा या निर्वाणी कहते हैं। ये लोग भस्म रमाए रहते हैं।

परमहंस

परमहंस उदासीन वे कहलाते हैं जो शिखा और यज्ञोपवीत छोड़कर केवल कौपीन धारण करते हों, जिन्होंने सर्वस्व-त्याग कर दिया हो अर्थात् दण्ड, कमण्डलु, भोजन, वस्त्र आदि कुछ भी पास न रखते हों और शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमानसे ऊपर उठ गए हों। परमहंसके लिये स्नानका भी

बन्धन नहीं रह जाता है। वे सब जीवोंको आत्मवत् समझते हैं और शरीर छोड़नेके पश्चात् सत्य-लोकमें जाते हैं।

तुरीयातीत (तुरीयावस्थापन्न)

तुरीयातीत उदासीन वे कहलाते हैं जिनकी गोमुख-वृत्ति होती है अर्थात् जो कन्द-मूल-फलपर निर्वाह करते हैं, शरीर धारण करनेके लिये तीन घरोंसे भिक्षा लेते हैं, नग्न रहते हैं, ऋतु (दो मास) में एक बार क्षौर कराते हैं, निरन्तर महावाक्योंका उपदेश देते हैं और निदिध्यासनके द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करते हैं। ये शरीर त्याग करनेके पश्चात् आत्माको परमात्मामें लीन करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

अवधूत

अवधूत उदासीन वायु-स्नान करते हैं तथा सोऽहम् भावनासे प्रणव-रूपी ब्रह्मके ध्यानमें तन्मय होकर जीवन्मुक्त होकर विचरते हैं। उन्हें शरीर-धर्मकी कोई चिन्ता नहीं रहती। किसीने खिला दिया खा लिया, नहला दिया नहा लिया। ये लोग पूर्ण जीवन्मुक्त होते हैं।

कुटीचकके भेद

ऊपर जिन छह प्रकारके साधुओंका वर्णन किया गया है इनमेंसे कुटीचकोंके तीन भेद होते हैं—एक कुटीमें रहनेवाले, दूसरे स्थानधारी, तीसरे मठाधीश। कुटियामें रहनेवाले कुटीचक वे होते हैं जो एक स्थानमें कुटी बनाकर एकाकी रहकर एकान्तवास करते हैं।

स्थानधारी कुटीचक ऐसा स्थान बनाकर रहते हैं जहाँ अभ्यागतों, अतिथियों तथा समागत सज्जनोंका आदर-सत्कार हो सके और जहाँ धर्मोपदेश अथवा भजन-कीर्त्तन आदिका प्रबन्ध होता रहता हो। ऐसे स्थानोंको सिन्धमें ठिकाना, पञ्जावमें डेरा और उत्तर प्रदेशमें सङ्गत कहते हैं। ऐसे स्थानधारी साधुको ही मुनीश्वर या महन्त कहते हैं।

तीसरे प्रकारके कुटीचक वे उदासीन साधु होते हैं जो ऐसा मठ बनाकर रहते हों; जहाँ अनेक साधुओंके लिये नित्य भोजन, निवास और अध्ययनाध्यापनकी समुचित व्यवस्था हो, समागत अतिथियोंका आदर-सत्कार हो सकता हो और कथा, प्रवचन, धर्मोत्सव आदिकी योजना भी होती रहती हो। ऐसे स्थान या मठके अध्यक्षको महामुनीश्वर या मठाधीश कहते हैं। महन्त या मठाधीशको मठकी सम्पूर्ण सम्पत्तिपर पूर्ण और निर्बाध अधिकार होता है।

मठ-प्रणाली

धार्मिक जीवन तथा धर्म-भावनाको निरन्तर उद्दीप्त बनाए रखनेके लिये ही प्राचीन कालमें मठ स्थापित किए गए थे, जिससे उनके द्वारा विद्वानों, विद्यार्थियों, तत्त्वज्ञों, विरक्तों और विचारकोंका समुचित पोषण हो सके, अच्छे सुव्यवस्थित विद्यालयोंकी स्थापना करके विद्याका प्रचार किया जा सके और इस प्रकार ज्ञानका प्रसार करके निर्बाध रूपसे लोक-कल्याण और धर्म-प्रचार किया जा सके। इसीलिये उदासीन सम्प्रदाय-द्वारा ऐसे स्थानोंके जो महन्त चुने जाते हैं उनके विषयमें इस बातका भी विचार किया जाता है कि वे पूर्ण सदाचारी, संयमी, परोपकारी, सुशील, कर्मठ, विद्या-विचक्षण; दूरदर्शी, उदार और धर्मात्मा भी हों। ऐसे ही महन्तोंमें साधारण जनताकी ही नहीं वरन् विद्वानों तथा विशिष्ट राज्याधिकारियोंकी भी श्रद्धा होती है।

श्रीमहन्त

महन्तोंमें भी जिसका सम्मान प्रान्त भरके महन्त करते हों, जिसे सब भेंट-पूजा देते हों, वह श्री-महन्त कहलाता है। जिस विद्या-विभव-सम्पन्न महात्माके साथ दस-बीस साधु अध्ययन करते हों और जो अपने इन अध्ययनशील साधुओंको साथ लेकर उनके भोजन-वस्त्रका प्रबन्ध करता हुआ देश-देशान्तरमें धर्म-प्रचार

करता हुआ भ्रमण करता हो, उसे मण्डलेश्वर कहते हैं। जो महात्मा अपने साथ सौ-पचास साधुओंको लेकर उन्हें वेदाध्ययन कराता हुआ और उनके भोजन-वस्त्रका प्रवन्ध करता हुआ अपने अधीन कई मण्डलेश्वरोंके द्वारा धर्म-प्रचार कराता हो उसे महामण्डलेश्वर कहा जाता है।

महन्त-परिपाटीका महत्त्व

जिस प्रकार देशमें सुव्यवस्था और शान्ति बनाए रखनेके निमित्त शासन-व्यवस्था प्रौढ और सुदृढ होनी चाहिए वैसे ही लोक-जीवनको सुखी और धर्मनिष्ठ बनाए रखनेके लिये भी कोई व्यवस्था होनी चाहिए। इसी व्यवस्थाके निमित्त हमारे यहाँ मठ और महन्त-प्रणाली चली जिससे लोक-मङ्गलकारी साधु-संन्यासी महात्माओंको भोजन-वस्त्र तथा योग-क्षेमकी चिन्तासे मुक्त रखकर उन्हें वेद-शास्त्र-विहित धर्मानुष्ठानकी प्रेरणा देनेके लिये सब प्रकारसे निश्चिन्त कर दिया जाय और साथ ही यह भी देखते रहा जाय कि उनके आचार, व्यवहार या विचारसे जन-जीवनमें उद्वेग या क्लेश न उत्पन्न हो और वे उत्पीडित न कर सकें।

द्वितीय प्रकरण

उदासीन सम्प्रदाय और उसकी परम्परा

उदासीन सम्प्रदायके आचार्योंकी मान्यताके अनुसार प्रणव (ॐ) ही आदि उदासीन तत्त्व है। उसी प्रणवसे नाद, नादसे बिन्दु, बिन्दुसे ईश्वर, ईश्वरसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामक त्रिदेव, उनसे हंस और हंससे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार हुए सनकसे श्रीचन्द्राचार्यतक जो परम्परा चली उसमें क्रमशः नारद, कपिल, दुर्वासा, पराशर, जमदग्नि, परशुराम; कुशिक, विश्वामित्र, सुप्रभ, श्रीवर्द्धन, वत्समुनि; सुखदर्शन, कनकमुनि; भास्कर, महेन्द्रमुनि, मार्तण्ड, अरविन्द, मकरन्द, हेमाद्रि, तपोनिधि, सर्वेश्वर, स्वर्णबिन्दु, पद्माक्ष, रत्नमुनि, हरियश, चन्द्र, मतङ्ग, चिमन, त्रिलोचन, प्रभाकर, दुःखमोचन, द्राभर, प्रतापवान्, पद्म, सुषेण, चन्द्रगुप्त, श्रुति, माधवमुनि, आचरण, हरिनारायण, चन्द्रचूड, हरदत्त, रमेश, कृपाराम, वाल्हीक, दिनेश, निजानन्द, ब्रह्मानन्द, सच्चिदानन्द, हारीत, त्रिलोकराम, वररुचि, कुण्डल, सुरथ, सुचेत, उदयप्रकाश, स्वतःसिद्ध, लक्ष्मीदास, सुमेरदास, हरिगम्भीर, रामऋषि, चतुर्भुज, भाष्यमुनि, रत्ता..., अतीतमुनि, वेदमुनि, अविनाशीराम तथा श्री श्रीचन्द्राचार्यकी गणना होती है।

उदासीन सम्प्रदायकी व्यवस्था

व्यवस्थित रूपसे उदासीन सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा करनेका श्रेय श्रीचन्द्राचार्यको ही है जिन्होंने चार धूणे और छह बख्शीश (वरदान) की वरिष्ठ परम्परा प्रारम्भ की जिसमें अनेक तपस्वी महापुरुषोंने अपने लोक-मङ्गल कार्योंसे जनताका कल्याण किया, ज्ञान-विज्ञानका प्रचार किया तथा गृहस्थों और सदाचारियोंको अपनी कृपा और वरदानसे तृप्त, तुष्ट और पुष्ट किया।

जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्यजीके आदेशानुसार जो चार धूणे स्थापित हुए उनके अधिकारी क्रमशः अलिमत्ताजी, बालहासजी (बालू हसनाजी), गोविन्ददेवजी और पुष्पदेव (फूलदेव) जी नियुक्त हुए। इनमेंसे बालहास (बालूहसना) जीके शिष्य लालदास हुए और पुष्पदेवजी (फूल साहबजी) के शिष्य चरणशाह हुए। अलिमत्त (अलमस्तजी) और गोविन्ददेवजीकी परम्परा नियमित रूपसे चली। अलमस्तजीको परम्परामें मखूचन्द्र, मीठाराम, नत्थाराम, नैपालवाले सद्गुरु वनखण्डीजी, जौरा तथा भौंरा हुए। गोविन्ददेवजीकी परम्परामें कमलनयन, गुरुमुखिया, चिन्तामणि, नन्दलाल सोहिना, मींहाँ, मलम, सन्तोषी, सङ्गतदास, गुरुमुखदास, गुरुदयाल, श्यामदास, भगतराम, रत्नदास, मेलाराम तथा साधुबेला तीर्थके संस्थापक सद्गुरु श्रीवनखण्डीजी महाराज हुए।

उदासीन सन्तकी महत्ता

पिछले प्रकरणमें उदासीन शब्दकी व्युत्पत्ति विस्तारसे की जा चुकी है। सामान्यतः उदासीनका अर्थ है मध्यस्थ, उपेक्षक तथा ब्रह्मसंस्थ। यहाँपर जिस उदासीन सम्प्रदायका वर्णन किया जा रहा है उसके अनुसार उदासीनका अर्थ है वह ब्रह्मसंस्थ पुरुष जो स्वार्थ छोड़कर लोक-कल्याणकी भावनासे, संपूर्ण रागद्वेषसे परे होकर, सबको आत्म-स्वरूप, परमात्म-स्वरूप और ब्रह्ममय मानता हो, जिसके मनमें यह भावना

व्याप्त हो कि सारा विश्व हमारा बन्धु, आत्मीय और अपना सगा है तथा 'सियाराममय सब जग जानी' की भावना ही जिसकी मूल वृत्ति हो।

उदासीन शब्दमें दो शब्द आते हैं—एक उत् और दूसरा आसीन अर्थात् जो सबसे ऊपर स्थित हो—'उत् सर्वोत्कृष्टे सर्वपाप-विनिर्मुक्ते वा ब्रह्मणि आस्ते निषीदति इति उदासीनः'—जो पूर्ण रूपसे सर्वश्रेष्ठ, सब पापोंसे मुक्त, निष्कलुष और ब्रह्ममें स्थित हो उसे उदासीन कहते हैं। जिन अन्य अनेक प्रकारोंसे उदासीन शब्दकी व्याख्या की गई है उन सबका उद्दिष्ट यही है कि उदासीन वह महापुरुष है जो सामान्य लोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक विशिष्ट हो, जो अपने चरित्र, विद्या तथा बुद्धिसे लोकमंगल-कार्य, लोक-संग्रहकी भावना और सब प्राणियोंके हितकर कार्योंमें प्रवृत्त रहता हो।

ब्रह्मसंस्थ

छान्दोग्य - उपनिषद्में ब्रह्मसंस्थकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

त्रयो धर्मस्कन्धाः, यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य-कुलेऽवसादयन् सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थाऽमृतत्वमेति।

[धर्मके तीन स्कन्ध बताए गए हैं—यज्ञ करना, वेद पढ़ना, और दान देना तो पहला स्कन्ध है, तप करना दूसरा स्कन्ध है और तपोमय जीवन बिताते हुए ब्रह्मचारी बनकर आचार्यके साथ निवास करना तीसरा स्कन्ध है। ये तीनों स्कन्धवाले लोग पुण्यलोकके अधिकारी होते हैं और जो ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाला ब्रह्मसंस्थ होता है वह अमृतत्व या मोक्ष प्राप्त करता है।] यहाँ भी ब्रह्मसंस्थका अर्थ उसी पुरुषसे है जो पूर्ण रूपसे ब्रह्म या विश्वात्मके साथ एकात्मभूत हो गया हो।

आश्रम-व्यवस्था

भारतीय आर्य-जीवन-व्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक यनुष्यका यह कर्त्तव्य वताया गया है कि वह चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म; अर्थ, काम, मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्तिका प्रयत्न करे। इन पुरुषार्थोंकी प्राप्ति और साधनाके लिये हमारे यहाँ आश्रम-व्यवस्था निर्धारित कर दी गई थी जिसके अनुासर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमोंमें उन आश्रमोंके धर्मोंका पालन करते हुए इहलौकिक सुख तथा मुक्तिका प्राप्ति करना ही जीवनका परम लक्ष्य माना जाता था। २५ वर्षकी अवस्थातक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये आवश्यक होता था कि वह गुरुकुलमें रहकर विद्याध्ययन करे। उसके पश्चात् गृहस्थ-जीवन स्वीकार करके ५० वर्षकी अवस्थातक अन्य तीनों आश्रमोंका पालन करता हुआ संतति उत्पन्न करे तथा धर्म, अर्थ और कामको साधना करे। उसके पश्चात् वानप्रस्थ आश्रममें पूर्णतः वैराग्यकी साधना करके चतुर्थाश्रम अथवा संन्यास आश्रममें प्रविष्ट होकर मुक्तिकी साधना करे और योगके द्वारा शरीर छोड़कर ब्रह्मलीन हो जाय।

उदासीन प्रकृति

चतुर्थ आश्रममें दीक्षित महापुरुषोंके लिये संन्यासी शब्दके अतिरिक्त यति, उदासीन, विरक्त आदि अनेक शब्दोंका प्रयोग होता है जिसमें विशेप रूपसे संन्यासी, यती और उदासीन शब्दका अधिक प्रयोग होता है। सम्यक् या पूर्ण रूपसे जो ब्रह्ममें न्यस्त या लीन हो गया हो उसे संन्यासी कहते हैं। जिसने समस्त सांसारिक पदार्थोंका त्याग करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगा दी हो और संसारका सब कार्य करते हुए भी उन सबसे निःसंग होकर कार्य करता हो उसे यति कहते हैं और जिसने ब्रह्मका अनुभव कर लिया हो या, यह समझ लिया हो कि—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानारित किंचन।

[यह सब जो कुछ है सब ब्रह्म है। यह जो अनेक रूपों और नामोंसे भरा हुआ संसार है यह सब कुछ नहीं है।] इस प्रकार जिसने सबको आत्मवत् समझ लिया हो वही उदासीन है। सामान्य अर्थमें भी उदासीनका अर्थ यही है कि जो सबसे अलग, किसीसे कोई सम्बन्ध न रखनेवाला, विरक्त, उपाधिहीन तथा सर्वगत हो वही उदासीन कहला सकता है। उदासीनता वह मनोवृत्ति है जिसमें स्थित होनेपर कोई भी व्यक्ति विश्व भरके किसी व्यक्ति या पदार्थके प्रति किसी प्रकारका न तो राग-भाव रखता है न तो द्वेष-भाव, वरन् सबको ब्रह्ममय या आत्ममय समझनेके कारण वह निरन्तर सब प्रकारका स्वार्थ-भाव छोड़कर सबका कल्याण करनेमें दत्तचित रहता है। ऐसी वृत्ति अत्यन्त असाधारण होती है। केवल परम योगकी अवस्थामें ही यह वृत्ति उत्पन्न होती है कि कोई मनुष्य पूर्ण रूपसे संसारके प्रति निर्लिप्त होकर संसारमें रहता हुआ भी लोक-कल्याणकी भावना बनाए रक्खे।

मनपर शासन

पतञ्जलिने अपने योगसूत्रमें योगकी व्याख्या करते हुए यही कहा है—'चितवृत्ति-निरोधः योगः' [मनकी सब वृत्तियोंको वशमें-कर लेना ही योग है] किन्तु मनकी वृत्तियोंको रोक रखना कोई साधारण कार्य नहीं है। अर्जुनने भगवान् कृष्णसे यही प्रश्न किया था और शंका भी की थी—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

[हे कृष्ण! यह मन अत्यन्त चंचल, बलवान् और दृढ है। मैं समझता हूँ कि जैसे वायुको वशमें करना अत्यन्त कठिन है वैसे ही मनको भी वशमें कर लेना कठिन है।] इसका उत्तर देते हुए भगवान् कृष्णने कहा था—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

[हे महाबाहु अर्जुन ! निश्चय ही यह मन अत्यन्त चंचल और दुर्निग्रह अर्थात् बड़ी कठिनाईसे वशमें आनेवाला है। किन्तु हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! अभ्यास और वैराग्यसे इसे अवश्य वशमें किया जा सकता है। इतिहासमें ऐसे महापुरुषोंकी कोई कमी नहीं है जिन्होंने अपने मनको वशमें करके इस प्रकार अपनी वृत्तिको साध लिया था कि राग और द्वेषसे परे होकर तथा सम्पूर्ण लौकिक प्रपंचसे विरक्त होकर भी वे लोक-कल्याणका कार्य निरन्तर करते रहे। श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायमें भगवान् कृष्णने स्वयं कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

[जिस पुरुषका अन्तःकरण अपने वशमें है, वह पुरुष राग और द्वेषरहित तथा अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा सब विषयोंमें विचरण करता हुआ भी सात्त्विक आनन्द अर्थात् अन्तःकरणकी प्रसन्नता या स्वच्छता बनाए रखता है।] जिस पुरुषने अपने अन्तःकरण और अपनी इन्द्रियोंको पूर्णतः अपने वशमें कर लिया है वह यदि सांसारिक व्यवहारमें प्रवृत्त भी रहता हो तब भी उसका आत्मा शुद्ध और निष्कलंक ही बना रहता है।

उदासीनकी वृत्ति

उदासीनकी भी यही वृत्ति रहती है कि उसका अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध रहता है, उसकी समस्त इन्द्रियाँ उसके वशमें रहती हैं और ऐसी स्थितिमें जब वह निःसंग होकर लोक-कल्याणका कार्य करता है तो वह किसी प्रकार भी उसमें लिप्त नहीं होता। उसका आत्मा निरन्तर शुद्ध और निष्कलंक बना रहता है। अतः, यह नहीं समझना चाहिए कि उदासीन वही है जो सारे संसारसे विरक्त होकर एकान्तसेवी होकर किसी वन या पर्वतकी गुफामें तपोनिरत होकर अपनी ही मुक्तिकी साधना

करता रहता हो। उदासीन तो वास्तवमें वह है जो पूर्ण आत्म-निग्रह और इन्द्रिय-निग्रहके द्वारा आत्मवशी होकर सारी सृष्टिका कल्याण करते हुए सबसे निःस्पृह और निर्लिप्त होकर कार्य करता रहता हो।

उदासीन परम्पराके तीन वर्ग

इस प्रकार उदासीन महापुरुषोंकी जो उदात्त परम्परा हमारे यहाँ चली आई है और उदासीन सम्प्रदायके लोग जिस वरिष्ट परम्पराका सम्मान करते आए हैं उसमें कुछ तो दैवी शक्तियाँ हैं जैसे प्रणव, नाद, विन्दु, ब्रह्मा, विष्णु महेश और ईश्वर; कुछ ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनका कोई क्रमागत ऐतिहासिक विवरण प्राप्त नहीं है किन्तु जिनकी साधनाकी परम्पराका और जिनके लोकमंगलकारी कार्योंका वर्णन पुराणोंमें स्पष्ट उल्लिखित मिलता है; तीसरी श्रेणीमें वे महापुरुष आते हैं जिन्होंने स्पष्ट रूपसे उदासीन सम्प्रदायकी दीक्षा लेकर, उस सम्प्रदायके नियमों तथा परिपाटियोंका पालन करते हुए निरन्तर लोक-कल्याणका कार्य किया। अतः, इस भारतीय उदासीन-सन्त-मालामें प्रथम तथा द्वितीय श्रेणीके दैवी तत्त्वों तथा पौराणिक संतोंका विवरण संक्षेपमें और सम्प्रदायानुगत उदासीन संतोंका परिचय विस्तारसे देनेका प्रयास किया गया है। इसीके साथ-साथ इस विवरणमें उन महापुरुषोंका जीवनवृत्त भी अधिक विशदताके साथ अंकित किया गया है जिन्होंने अपने लोकसंग्रही उदात्त चरित्रसे विश्वका कल्याण किया और जिनके लोक-मंगलकारी कार्योंकी गाथाका हमें स्पष्ट प्रमाणिक विवरण प्राप्त होता है।

ग्रन्थकी आवश्यकता

इस प्रकारके संतोंका विवरण देनेकी आवश्यकता इसलिये अधिक पड़ गई कि जहाँ भारतके अन्य वर्गोंके सन्तोंने अपने-अपने प्रदेशोंमें अपनी-अपनी साधना, तपस्या और सब प्राणियोंके हितकी भावनासे कार्य किया और अपने समाज तथा प्रदेशको अपनी कल्याणकारी प्रवृत्तियोंसे पुष्ट और तुष्ट किया वहाँ उदासीन

महात्माओंने हिन्दू धर्म-विरोधी यावन प्रदेशोंमें अपने केन्द्र बनाकर हिन्दुओंके धर्म, उनकी संस्कृति, उनके आचार-विचार, उनके देवी-देवता, उनके साहित्य और धर्मग्रन्थ सबकी व्यापक रूपसे रक्षा की और अपने चरित्र तथा वलसे सभी विधर्मियों और विरोधियोंको निस्तेज करके हिन्दू धर्मका यश भी उज्ज्वल किया और उसका संघटन भी किया।

महापुरुषोंकी गाथासे लाभ

महपुरुषोंकी गाथाको लिपिबद्ध करने और उसका प्रचार करनेसे सबसे प्रमुख लाभ यह होता है कि वर्त्तमान तथा आगे आनेवाली पीढ़ियोंके पथ-प्रदर्शनके लिये मार्ग प्रशस्त हो जाता है, उन्हें कार्य-अकार्यका निर्णय करनेके लिये ज्योति मिलती है और उनके पद-चिह्नोंका अनुसरण करनेकी सात्त्विक प्रेरणा मिलती है। इस प्रकारकी प्रेरणासे ही लोक-जीवनमें नैतिकताकी स्थापना, नैतिक जीवन व्यतीत करनेके लिये वल, नैतिक जीवन व्यतीत करते समय प्राप्त होनेवाले कष्टोंको सहन करनेकी शक्ति तथा उससे प्राप्त यशसे तृप्ति होती है जो समाजको नीति-भावित और सत्य-भावित बनाए रखनेके लिये नितान्त आवश्यक और अपेक्षित है।

इस प्रकारकी गाथाओंसे दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह होता है कि मनमें अस्थिरता, लोभ और पाप-वासनाका प्रवेश नहीं होता, पाप-कर्मसे विरति और भीति होती है; ईश्वरमें अखंड विश्वास होता है तथा लोक-मंगल कार्य करने तथा परहित करनेकी भावना उद्दीप्त होती है। आज हमारे देशमें और विश्व-भरमें जो भ्रष्टाचार व्याप्त है उसका कारण केवल भौतिकवादका प्रचार-मात्र ही नहीं है वरन् ईश्वरमें अविश्वास ही इस अनैकतिताका मूल कारण है। अतः, देशमें सुख, समृद्धि तथा नैतिकताके विकासके लिये भी महा-पुरुषोंकी गाथाका गायन लोक-हितकी दृष्टिसे आवश्यक और अनिवार्य है।

तृतीय प्रकरण



भारतीय जीवन-दर्शन और उदासीन

पीछे विस्तारसे बताया जा चुका है कि उदासीन महापुरुषकी प्रकृति क्या होती है, उनके लक्षण क्या होते हैं, उनका स्वभाव कैसा होता है और उनके आचार-विचार किस प्रकारके होते हैं। उसी प्रसंगमें समझाया जा चुका है कि उदासीन महापुरुष सामान्य जनोंकी अपेक्षा उनके चरित्रसे कहीं अधिक ऊपर उठा हुआ वह महापुरुष है जिसने अपनी सम्पूर्ण वृत्तियाँ ब्रह्ममय बना ली हों, जिसने अपना मन सब ओरसे हटा लिया हो और सबको वह निरपेक्ष भावसे देखता हुआ भी सबके मंगलकी सिद्धिमें निरत हो। पद्म-पुराणके पाताल-खंडमें उदासीनका यह लक्षण दिया गया है—

ददाति नैव गृह्णाति न च कुप्यति तुष्यति।
नो वा प्रयाति संत्यज्य उदासीनो द्विजोत्तमः॥

[जो व्यक्ति न देता हो न लेता हो, जो न क्रोध करता हो न प्रसन्न होता हो, जो न संसारमें आसक्त हो न संसारसे

पृथक् हो, वह जलमें रहनेवाले कमलपत्रके समान उदासीन कहलाता है।]

[पद्मपुराण, पाताल खंड ८८।२३

उदासीनोंकी परम्परा

उदासीनोंकी परम्परा अत्यन्त उदात्त तथा पौराणिक कालसे भी बहुत पूर्वसे चली आई है जिसमें सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमारसे लेकर हंसावतार, नारद, वाभ्रव्य, दाल्भ्य, जयमुनि, सञ्जीवन, विधिदेव, श्रुतिदेव, श्रुतिसिद्ध, देवेश, सुरत्न, संजय, अभय, रोचिष्णु, महेश, हारीत, लोकप्रिय तथा अविनाशी मुनि जैसे एकसे एक बढ़कर सिद्ध, तपस्वी तथा दिव्य-शक्ति-सम्पन्न महापुरुष हो चुके हैं। उसी परम्परामें दीक्षित होकर श्री चन्द्रमुनिने भी उदासीन सम्प्रदायकी पुनीत परिपाटीका प्रतिपालन करके लोक-कल्याणका प्रशंसनीय पथ प्रशस्त किया। उन्होंने अपने सदुपदेशोंसे अनन्त जीवोंका जो कल्याण किया उसके अतिरिक्त व्यवस्थित रूपसे उन्होंने चतुर्थाश्रमवादकी उस लुप्तप्राय श्रौत शाखाको पुनरुज्जीवित किया जो निर्गुणवादके उस आडम्बरपूर्ण वाग्जालसे विकम्पित हो चुका था जिसके सम्बन्धमें गोस्वामी तुलसीदासजीको भी खीझकर कहना पड़ा था—

बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुमतें कछु घाटि।
ब्रह्म जे जान ते विप्रवर, आँख दिखावहिं डाँटि॥

उदासीन सम्प्रदायकी व्यवस्था

निर्गुणवाद और ब्रह्मवादके नामपर देश-भरमें जो इस प्रकारकी अमर्यादित अराजकता व्याप्त थी और जिसने वर्णाश्रम-मर्यादाको छिन्न-भिन्न कर दिया था, उसे पुनः उन्होंने उसके गौरव-पदपर प्रतिष्ठित कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने चार शिष्य—अलिमत्त (अलमस्त), बालहास (बालू हसना), पुष्पदेव (फूल साहब) और गोविन्ददेवजीके चार धूणोंके साथ बँधी हुई ऐसी दृढ शिष्य-परम्परा स्थापित की जो आजतक भी

अत्यन्त तेजस्विता तथा अध्यवसायके साथ धर्मोद्धारके कार्यमें दत्तचित होकर लगी हुई है।

समन्वयकी आवश्यकता

उन दिनों शैव और वैष्णवोंका कलह इस तीव्र वेगसे देशमें व्याप्त था कि उस समय किसी ऐसे समन्वयवादीकी बड़ी आवश्यकता आ पड़ी थी जो सनातनधर्मके आस्तिकवाद तथा अवतारवादका पूर्ण रहस्य बताकर इस मिथ्या कलहको दूर कर सकता। श्रीचन्द्रजीने जनताको पंचदेवोपासनाका रहस्य समझाकर, एक ही ईश्वरकी विभिन्न शक्तियोंके रहस्य बताकर पंचदेवोपासनाका तत्त्व सामने रक्खा जो उदासीनोंका वास्तविक कर्तव्याचार है और जो इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि उदासीन सम्प्रदाय शुद्ध सनातनी वैदिक धर्मका अंग है।

वामाचारका आतंक

उस समय बौद्ध वज्रयानी तांत्रिकोंके प्रभावसे सिद्धियोंके प्रदर्शन तथा अनेक प्रकारके चमत्कार-निदर्शनके आडम्बर और आतंकसे जनताको पथभ्रष्ट करके जो पंच मकार-युक्त वामाचार-पद्धति चल रही थी उसके सम्पूर्ण पाखण्डका भण्डाफोड़ करके श्रीचन्द्रजीने पंचदेवोपासनाकी पद्धतिको पुनः चेतन करके हिन्दू जनताको सुमार्गपर लगा दिया और इस प्रकार अनाचार और भ्रष्टाचारसे हिन्दू समाजकी रक्षा कर ली।

श्रीचन्द्राचार्यका प्रताप

जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है, उस समयके मुसलिम शासक पूर्णतः मुल्लाओं और क़ाज़ियोंके हाथकी कठपुतली बने हुए अपनी स्वाभाविक धर्मान्धताके कारण अनेक प्रकारसे हिन्दुओंको भय और प्रलोभन देकर या तो मुसलमान बनाते चले जा रहे थे या उन्हें सब प्रकारसे त्रस्त करते जा रहे थे। अतः, श्रीचन्द्रजी भी अपने उपदेशों, अपनी दिव्य-शक्तिके चमत्कारों तथा अपने धार्मिक संघटनोंके द्वारा मुसलमानोंका

मुँह-तोड़ उत्तर भी देते चले जा रहे थे और उनका आतंक भी क्षीण करते जा रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक मुसलिम शासक भी उनकी शक्तियोंके आगे नतमस्तक होकर उनका लोहा मानते चले जा रहे थे। इस प्रकार श्रीचन्द्रजी अपने युगके उन शक्तिशाली महापुरुषोंमेंसे थे जिनका निर्माण युगने नहीं किया वरन् जिन्होंने स्वयं युगका निर्माण किया।

महापुरुषोंका जीवन-चरित सदा सब युगों और देशोंमें ऐसे महादीपका काम करता रहा है जो मार्ग भी प्रकाशित करे, ज्योति भी दे, तेज भी प्रदान करे और नीचे झुकानेपर भी अपनी लौ सदा ऊपर उठाए रक्खे। पथभ्रष्ट, निराश और पराजित मानवके लिये तथा खिन्न, किंकर्त्तव्यविमूढ समाजके लिये महापुरुषोंका जीवन-चरित सदा एकमात्र पथ-प्रदर्शक, शास्ता और नेता रहा है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ।।

[गीता, ३।२१

[श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं वैसा ही आचरण अन्य लोग भी करते हैं क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष अपने आचरणसे जिस व्यवहारको प्रामाणिक बना देते हैं उसे ही अन्य लोग भी स्वीकार करके वैसा ही आचरण करने लगते हैं।]

पारमिता

बौद्ध धर्मके अनुसार इस प्रकारका मूर्धन्य महापुरुष बननेके लिये पिछले अनेक जन्मोंमें उदात्त गुणोंकी पारमिता प्राप्त करना नितान्त अपेक्षित और आवश्यक है। जातक-कथाओंमें ऐसी अनेक कथाएँ दी गई हैं जिनके अनुसार बोधिसत्त्वने अपने पिछले जन्मोंमें बोधिसत्त्वके रूपमें विभिन्न अलौकिक और पूर्ण दैवी गुण अथवा निम्नांकित दस पारमिताएँ प्राप्त कर

ली थीं—दान, शील, निष्क्रम, प्रज्ञा, वीर्य, क्षमा, सत्य, मैत्री तथा उपेक्षा।

अवतार

हिन्दू विश्वासके अनुसार जब-जब धर्मकी हानि होती है और अधर्म बढ़ता है तब-तब भगवान् आवश्यकताके अनुसार अंशावतार ग्रहण करके धर्मकी स्थापना, अधर्मके निवारण और भक्तोंके हितके लिये यथावश्यक रूप धारण कर लेते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

[हे अर्जुन ! जब-जब धर्मका ह्रास और अधर्मका विकास होता है तब-तब मैं अपनेको प्रकट करता हूँ। सज्जनोंकी रक्षा, पापियोंके विनाश तथा धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें जन्म लेता रहता हूँ।]

इस विश्वासके अनुसार भगवान् ही अधर्मकी वृद्धिके समय और धर्मके क्षयके समय अपने इस प्रिय भारत-वर्षमें अनेक रूपोंमें जन्म लेकर निरन्तर अपने भक्तोंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करते रहे हैं। इतना ही नहीं, स्वर्ग आदि उदात्त लोकोंमें रहनेवाले देवता लोग भी कभी-कभी भारतवर्षमें अवतार धारण कर लेते हैं क्योंकि उनकी यह आकांक्षा ही रहती है कि भारतमें आकर जन्म लें—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारत-भूमि-भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद-मार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

[देवता लोग स्वयं निरन्तर यह गीत गाते रहते हैं कि वे देवता धन्य हैं जो स्वर्ग, अपवर्ग आदि उच्च लोगोंमें निवास करते हुए अपना देवता रूप छोड़कर भारत-भूमिमें मनुष्य होकर जन्म लेते हैं।]

महापुरुषोंका जन्म

इस विश्वासके अनुसार प्रत्येक आस्तिक भारतीय यही मानता है कि संसारमें जो भी अलौकिक, असाधारण और अद्भुत शक्तिवाले महापुरुष उत्पन्न होकर लोक-कल्याणका कार्य करते हैं वे निश्चय ही भगवान्‌की अलौकिक शक्ति या उनका विशेष अंश लेकर जन्म लेते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगन्तव्यं मम तेजोंऽशसम्भवः ॥

[संसारमें जो भी ऐश्वर्यवान्, श्रीमान् और शक्तिमान् दिखाई पड़े उसे मेरे तेजके ही अंशसे उत्पन्न समझो।] यदि ऐसा न होता तो ऐसे महापुरुष एकाकी होकर भी अनेक प्रकारकी विरोधी शक्तियोंसे लोहा ले सकनेमें और अनेक विद्वेषियोंके बीच अपने विचारों भावों; और उपदेशोंका प्रचार करके उन्हें भी प्रभावित कर सकनेमें समर्थ न हो सकते। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे कहा है—

श्रीमतां धीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।

[जो योग-भ्रष्ट महापुरुष होते हैं वे श्रीमानों और विद्वानोंके घर जन्म लेते हैं।] कभी-कभी योगभ्रष्ट महापुरुष भी इस संसारमें जन्म लेकर लोककल्याण करते हुए समस्त प्रजाको सन्मार्गकी ओर प्रवृत्त करते रहते हैं।

भारतवर्षमें हमारी भारतीय जीवन-पद्धति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, आचार-विचारकी भावना और धर्मकी प्रवृत्तिके कारण इस प्रकारकी दार्शनिक और आध्यात्मिक वृत्ति परम्परागत बनी रही कि हमारे यहाँ निरन्तर एकके पश्चात् दूसरे महापुरुष इस देशके कल्याणके लिये समय-समयपर समुद्भूत होते रहे। अतः, अपने यहाँ ऐसे उदासीन महापुरुषोंके जन्मकी परम्परा और उसका कारण जाननेके लिये उस व्यवस्थाको समझना नितान्त आवश्यक है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

किन्तु मानव-धर्मशास्त्रके उपदेष्टा भगवान् मनुने जब यह कहा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन: ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

[इस देशमें उत्पन्न होनेवाले अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने इस भूतलके समस्त मानवोंको अपने चरित्रकी शिक्षा दी।]

—उसका ध्वन्यर्थ यही था कि संसारकी समस्त ज्ञान-विज्ञानोंने सर्वप्रथम इसी भूमिपर अवतार लेकर हमारे देशको विद्या-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न तथा शीलसम्पन्न करके इतनी नैतिक समर्थता प्रदान कर दी थी कि उन विद्याओंका साक्षात्कार करनेवाले वैदिक ऋषियोंने उनके आश्रयसे केवल अपना या अपने देशका ही कल्याण नहीं किया वरन् उस ज्ञानज्योतिके महादीपका प्रकाश देकर उन्होंने सम्पूर्ण तमसावृत मानव-समाजको असत्से सत्में, अन्धकारसे प्रकाशमें, मृत्युसे अमरतामें ला बैठाया—

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥

उन्हें कभी यह लोभ नहीं हुआ कि अखण्ड तपस्याके बलपर उन्होंने जो ज्ञान-राशि एकत्र की है उसका उपभोग वे अकेले करें और शेष संसारके प्राणियोंको अन्धकारमें डालकर, उनकी मूर्खताका अनुचित लाभ उठाकर, उन्हें बौद्धिक दासताके बन्धनमें बाँधकर सदाके लिये निस्तेज, निर्वीर्य तथा निःशक्त बनाए रखकर उनसे अपनी सेवा कराते रहें।

विद्याका प्रयोग

आर्य ऋषियों-महर्षियोंने तामसी अथवा भौतिक तत्त्वोंकी प्राप्ति या उनके संग्रहके लिये इन विद्याओंका प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अपनी विद्या-शक्तिसे जहाँ एक ओर समाज और लोकके कल्याणके साधन एकत्र किए वहीं उन्होंने अध्यात्म-शक्तिके संचयमें भी पूर्ण शक्ति लगाकर परम तत्त्वके गूढतम तथा सूक्ष्मतम

रहस्योंकी खोज करके अपना आध्यात्मिक वैभव इतना ऋद्ध कर लिया कि संसारकी समस्त शक्तियाँ उनके सन्मुख नतमस्तक हो गईं। आर्योंने ही संसारमें सभ्यताके प्रथम दर्शन करके अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक ज्ञानको उसी समय इतना उन्नत तथा व्यापक कर दिया था कि भौतिक तथा पारमार्थिक जगत्का कोई ऐसा तत्त्व शेष नहीं रह गया था जिसके सूक्ष्मतम अंग भी उनकी दिव्य दृष्टिसे अस्पृष्ट रह गए हों। जिस समय अन्य देशोंकी मानव-जातियाँ शाखामृग बनकर अरण्योंमें श्वापद-जीवन व्यतीत कर रही थीं उस समय त्रिसप्तसिन्धुके सरस प्रदेशमें आर्योंने जीवनके सभी अङ्गोंको पुष्ट और समृद्ध करनेके साथ-साथ मानव-जीवनके रहस्यात्मक तथा आध्यात्मिक सम्बन्धोंका सम्पूर्ण रहस्य सरलतापूर्वक हस्तगत कर लिया था।

कर्मवाद

वैदिक युगमें ही आर्योंने इहलौकिक और पारलौकिक तत्त्वों-का ज्ञान समन्वित करके यह सिद्धान्त निकाल लिया था कि संसारका प्रत्येक प्राणी कर्मके बन्धनमें बँधा हुआ है। वह जैसा करता है वैसा ही उसे फल भोगना पड़ता है और वह फल उसे या तो इसी जन्ममें भोग लेना पड़ता है या उसे भोगनेके लिये उसे दूसरा जन्म धारण करना ही पड़ता है। इस दूसरे जन्ममें यह आवश्यक नहीं है कि उसे मानव-शरीर प्राप्त ही हो। अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज, इन चार आकरोंमेंसे किसीके द्वारा वह चौरासी लाख योनियोंमेंसे किसीमें भी पड़ सकता है।

कर्म-चक्रसे मुक्ति

इस आवागमनके फेरसे मुक्त होनेके लिये ही आर्योंने तीन विधान किए—

१. सत्कर्म किए जायँ, अर्थात् धर्माचरण किया जाय।

२. ज्ञानकी अग्निमें सब कर्म ही जलाकर भस्म कर दिए जायँ।

३. जो भी कर्म किया जाय, सब ईश्वरको अर्पण कर दिया जाय, जिससे सुकर्म और कुकर्म, सबसे अपना पल्ला बचा रहे क्योंकि धर्माचरण करनेमें भी यह बन्धन तो लगा ही हुआ है कि सत्कर्मका फल भोगनेके लिये मनुष्यको जन्म लेना ही पड़ेगा। यह सिद्धान्त प्रतिपादित कर देनेपर भी वे यह भली भाँति जानते थे कि यदि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करनेके फेरमें पड़ गया तो लोक-स्थिति या सामाजिक जीवनमें संकट उपस्थित हो जायगा। इसलिये उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि कर्म तो सभीको करना ही चाहिए, केवल कर्मके परिणाम मात्रसे अपनी बुद्धि और अपने मनको अलग या असंग रखना चाहिए। इतनी सब बातें विचारकर उन्होंने धर्मको परिभाषा ही ऐसी बना दी जिसमें इहलोक और परलोक दोनोंके परम सौख्यका सुन्दर समन्वय हो सके। वैशेषिक दर्शनमें धर्मकी परिभाषा बताई गई है—

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः ॥

[जिससे इस लोकमें पूर्ण अभ्युदय या सौख्य मिले और परलोकमें निःश्रेयसकी सिद्धि या मुक्ति प्राप्त हो, वही धर्म है।]

तीन ऋण

आर्योंका यह भी अखण्ड तथा निश्चित विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सिरपर तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है— देवऋण, पितृऋण तथा ऋषिऋण।

देव-ऋण

ईश्वरने यह सृष्टि बनाई है। मनुष्य तथा प्राणियोंको सुख-मय-जीवनकी सुविधा देनेके लिये ईश्वरने जल, वायु, प्रकाश, वनस्पति, पशु, पक्षी, नदी, ताल निर्झर, मेघ आदिकी सृष्टि की है। इन सबके सहारे हमारा जीवन चलता और पलता है। यही देव-ऋण हमारे सिरपर चढ़ा हुआ है। इससे उऋण होना ही चाहिए। किन्तु ईश्वरके साक्षात् दर्शन तो हो नहीं पाते

इसलिये हम दैवीशक्तियोंके निमित्त अन्न आदिका दान तथा यज्ञ करके इस देव-ऋणसे उऋण हो सकते हैं। किन्तु यज्ञ करनेके लिये उसकी विधि, कर्मकाण्ड, वेद, वेदांग, शास्त्र और स्मृतिका ज्ञान भी होना चाहिए क्योंकि मंत्र पढ़नेमें यदि तनिक-सी भी गड़वड़ी हुई कि वह मंत्र यजमानको ही ले वीत सकता है।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

[कोई भी शब्द यदि स्वर या वर्णोंकी दृष्टिसे अशुद्ध प्रयोग कर दिया जाय तो वह यजमानको उसी प्रकार नष्ट कर डालता है जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्दको स्वरका भेद करके कहनेसे वृत्रासुरका नाश हो गया।]

इसलिये इस सम्वन्धमें वड़ी सावधानीसे ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहिए और ब्रह्मचर्याश्रमको अवश्य ही सिद्ध करना चाहिए।

पितृऋण

हमारे माता-पिताने हमें यह शरीर दिया है। हम केवल उनकी वाह्य सेवा करके ही इस पितृ-ऋणसे उऋण नहीं हो सकते। इस ऋणसे उऋण होनेके लिये आवश्यक है कि अच्छे कुल, गोत्र, शील, और संस्कारवाली कन्यासें शुद्ध विवाह करें और उससे पुत्र उत्पन्न करें। इसका तात्पर्य है कि हमें गृहस्थ-आश्रमका पालन करना चाहिए। इसके लिये हमें स्वस्थ शरीर चाहिए और गृहस्थी चलानेकी योग्यता चाहिए। इसके लिये भी तदनुकूल कामशास्त्रकी आवश्यक शिक्षा मिलनी चाहिए। वहुतसे लोग कामशास्त्रके सम्वन्धमें यह धारणा वनाए हुए हैं कि इसमें केवल विभिन्न मुद्राओंसे विलासके अनेक आसन-मात्र हैं। किन्तु ऐसी वात वास्तवमें नहीं है। उसमें स्पष्ट रूपसे ऐसे सव विधान और

उपाय सुझाए गए हैं जिनसे मनुष्य संयत रूपसे सब प्रकारके शारीरिक भोग भोगते हुए भी अत्यन्त दीर्घायु और स्वस्थ बना रह सकता है। वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें स्पष्ट रूपसे कहा भी है कि हमारी योजनाके अनुसार यदि कोई अपनी जीवन-चर्या बना ले तो—

आषोडशात्सप्ततिपर्यन्तं कैशोरकम्।

[सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक किशोरावस्था बनी रह सकती है।] अतः, पितृ-ऋण चुकानेके लिये भी स्वस्थ शरीर, सत्संकल्प और शुद्धाचरणकी आवश्यकता है ही। उसके लिये भी शिक्षा अनिवार्य है।

ऋषि-ऋण

हमारे जिन पूर्वज ऋषियोंने अपनी तपस्या; अपने अनुभव; प्रयोग तथा अध्ययनसे हमारे लिये अनन्त ज्ञान संचित कर छोड़ा है उनका भी हमपर बड़ा भारी ऋण है। उस ऋणसे उऋण होनेके लिये आवश्यक है कि हम उनके दिए हुए ज्ञानका अध्ययन करके उसका प्रचार करें अर्थात् विद्यादान या ज्ञानदान करें। यह ज्ञानदान ब्रह्मचर्यकी अवस्थासे लेकर संन्यास-आश्रमकी अवस्थातक निरन्तर चल सकता है। इसके लिये ज्ञानका संवर्धन करना तथा अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। यों भी अपना जीवन सफल, सरस, सुन्दर और मधुर बनानेके लिये भी शिक्षा तो अत्यन्त आवश्यक है ही।

अभ्युदय और तीन एषणाएँ

अभ्युदय या इहलौकिक सौख्यके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करके आर्योंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यकी सम्पूर्ण लौकिक चेष्टाएँ या तो धन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये या पुत्र प्राप्त करनेके लिये या यश प्राप्त करनेके लिये होती है। इन तीनों प्रवृत्तियों या इच्छाओंको उन्होंने क्रमशः वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा कहा है। इन्हींको प्राप्त करनेकी वृत्तिको हम अर्थप्रवृत्ति, काम-

प्रवृत्ति और यशः-प्रवृत्ति कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विरागी लोग हैं जो इस जीवनसे ऊबकर अलक्ष्य परमात्म तत्त्वमें लीन हो जाना चाहते हैं या उनकी किसी व्यक्त विभूति-से परम सान्निध्य या तन्मयत्व सिद्ध करना चाहते हैं। इसे हम मोक्षैषणा कह सकते है। इन्हीं चारों एषणाओंकी सिद्धिके लिये आर्योंने प्रत्येक मनुष्यके लिये यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि सबको चार पुरुषार्थ सिद्ध करने चाहिएँ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यही मनुष्य-जीवनकी सफलता है, यही उसका परम लक्ष्य है, यही उसका परम पुरुषार्थ और कर्त्तव्य है। इसलिये पुरुषार्थ-साधन ही आर्योंकी जीवन-पद्धतिका परम लक्ष्य बन गया।

वर्ण—व्यवस्था

जैसे सिर, हाथ, पैर, उदर आदि विभिन्न अंगोंसे शरीर बना हुआ है और ये सब अंग पूरे शरीरकी रक्षाके लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं, उसी प्रकार आर्योंने पूरी सृष्टिको, सब प्रकारके जड-चेतन पदार्थोंको, उनके गुण (सत्त्व, रज, तम), कर्म (पिछले जन्मके) और स्वभावके अनुसार उन्हें चार भाग या वर्णोंमें विभक्त कर दिया। इसके अनुसार केवल मनुष्य ही चार वर्णके नहीं हुए, वरन् पशु, पक्षी, वृक्ष, जल, भूमि, रत्न, काष्ठ, सब चार वर्णके हो गए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यदि कोई मनुष्य हाथके दुर्बल रह जानेसे या कट जानेसे हाथका काम पैरसे करने लगे तो उसके पैरको केवल हाथका काम करने मात्रसे हम हाथ नहीं कह सकते। इसी प्रकार यदि किसी वर्णका पुरुष किसी दूसरे वर्णके अनुकूल काम करने लगे तो उससे उसका वर्ण नहीं बदल जाता, क्योंकि पारम्परिक संस्कारके कारण उसकी जो मानसिक वृत्ति बन जाती है, वही वास्तविक वर्णवृत्ति समझी जाती है, केवल बाह्य आचरण और व्यवसायसे उसमें अन्तर नहीं आ जाता। यदि घोड़ेसे बोझ ढोनेका काम लिया जाय तो वह गधा नहीं कहला सकता।

घोड़ेका घोडापन उसके जन्म-संस्कारपर अवलम्बित है, भले ही वह गधेसे भी अधिक दुर्बल और अशक्त क्यों न हो गया हो और उससे कोई दूसरा काम ही क्यों न लिया जाता हो।

कार्य–विभाजन

इस प्रकारकी व्यवस्थासे गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार मानव-समाजकी चार मुख्य आवश्यकताएँ मान ली गईं—बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक, और सेवात्मक। इस प्रकार काम बँट जानेसे सब लोग अपनी-अपनी रुचि, समर्थता और प्रवृत्तिके अनुसार पारस्परिक संघर्षके बिना, लोक-कल्याणके कार्योंमें संलग्न हो गए। आजका मनोविज्ञान गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा है कि मनुष्यकी रुचि, प्रवृत्ति और समर्थताका परीक्षण करके उसके योग्य कार्य उसे दिया जाय किन्तु आर्योंने यह कार्य-विभाजन न जाने कितने सहस्र वर्ष पहले ही कर दिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने बुद्धिमत्तापूर्वक उन लोगोंपर व्यर्थ पढ़नेका भार नहीं डाला जो अनेक प्रकारके शिल्पों और कलाओंका पोषण करके समाजकी रक्षा कर रहे थे, क्योंकि यदि वे भी गुरुकुलोंमें पढ़नेके लिये विवश किए जाते तो उनकी निकुलीनिका (कुल या घरकी व्यवसाय-कला) ठंडी पड़ जाती। अतः गुरुकुलमें पढ़ने-लिखनेकी अनिवार्यता केवल उन तीन वर्णोंके लिये रक्खी गई जिनका काम बिना गुरुकुलमें अध्ययन किए चल ही नहीं सकता था। शेष लोगों अर्थात् शूद्रोंके लिये यह विधान किया गया कि वे अपने पिता या शिल्पगुरुसे आवश्यक अध्ययन कर लें जहाँ उन्हें शस्त्र, यान, सेतु, तथा भवन-निर्माण आदि उच्चतम शिल्पोंकी भी शिक्षा प्राप्त हो जाती थी। सच कहिए तो वैज्ञानिक शिक्षा पूर्णतः केवल शूद्र-वर्गके हाथमें ही थी।

चारों वर्णोंके कर्तव्य

ब्राह्मणोंका काम था पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। क्षत्रियका काम था प्रजा,

आश्रित या आर्त्तजनोंका रक्षण और पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना तथा भोग-विलाससे दूर रहना। वैश्यका काम था गोरक्षण या ढोर पालना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, महाजनी करना और खेती करना। शूद्रका काम था निश्छलभावसे सब वर्णोंके कामकी वस्तुएँ बनाना, जुटाना और सेवा करना अर्थात् ब्राह्मणोंके लिये यज्ञके कुण्ड, पात्र, खड़ाऊँ, दण्ड, कुटी आदि बनाना तथा मृगछाला आदि एकत्र करना, क्षत्रियोंके लिये रथ, यन्त्र, सेतु, भवन; दुर्ग और अस्त्र-शस्त्र बनाना तथा वैश्योंके लिये हल, गाड़ी, रथ, रस्सी आदि बनाना। सेवाका तात्पर्य सात्त्विक सहयोग था, नौकरी करना या दूसरोंके घर छोटे-मोटे काम-धन्धे या टहल करना नहीं। नौकरके लिये भृत्य या दास शब्द था। शूद्रके लिये कहीं भी दास शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है, केवल 'सेवक' शब्दका प्रयोग हुआ है जो अत्यन्त आदरणीय पदका बोधक था—

सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः।

[सेवा-धर्म इतना बड़ा है कि योगी लोग भी उसका निर्वाह नहीं कर पा सकते।]

ब्राह्मणका कठोर जीवन

जहाँ ब्राह्मणको इतना ऊँचा पद दिया गया था वहाँ उसके लिये नियम भी बड़े कठोर बना दिए गए थे। अपनी जीविका चलानेके लिये ब्राह्मण लोग यज्ञ कराने और अध्यापनका कार्य करते थे और केवल उसीसे दान लेते थे जिसने सचाई, सद्वृत्ति और अच्छे कर्मसे धन कमाया हो। ब्राह्मणका धर्म यही था कि वह सदा प्राणिमात्रके उपकारमें लगा रहे, किसी प्रकार भी किसीका अहित न करे। उसका यह भी कर्त्तव्य था कि वह सब प्राणियोंसे दया और मित्रताका व्यवहार करे, कभी भूलकर भी धनका लोभ न करे तथा सन्तोषका जीवन बितावे। उसका यह भी काम था कि वह वेद पढ़ने, तीर्थ करने और पृथ्वी-दर्शनके

लिये सारे भूमण्डलपर भ्रमण करे और ज्ञानका प्रसार करे। अच्छा ब्राह्मण वही समझा जाता था जो जीवन-भर अध्ययन करता रहे—

यावज्जीवमधीते विप्रः ।

आश्रम—व्यवस्थाको विशेषता

जिस प्रकार समाजको पूर्णांग व्यवस्थित करनेके लिये वर्ण-व्यवस्थाका विधान किया गया, वैसे ही मनुष्यके जीवनको पूर्णतः संयत करनेके लिये आश्रम-व्यवस्था स्थापित की गई। संसारके विभिन्न देशोंमें जितनी शिक्षा-व्यवस्थाएँ चलीं, उन सभीमें या तो व्यक्ति प्रधान रहा या समाज। किन्तु भारतीय वैदिक जीवनकी यही विशेषता रही कि उसमें व्यक्ति और समाज दोनों समान रूपसे प्रधान बने रहे। यही कारण है कि हमारा समाज आजतक सुस्थिर बना चला आया और संसारके अन्य सभी देश अपनी एकांगी संस्कृतिको लिए-दिए संसारसे विदा हो गए।

चार पुरुषार्थ

आजकलके कुछ मनोवैज्ञानिक विद्वान् मानते हैं कि मनुष्यकी सम्पूर्ण चेष्टाओंका आधार भोजन और काम-प्रवृत्ति है। हमारे यहाँ भी एक उक्ति प्रसिद्ध है—

काव्येन हन्यते शास्त्रं, काव्यं गीतेन हन्यते।
गीतञ्च स्त्रीविलासेन, स्त्रीविलासो बुभुक्षया॥

[शास्त्रको काव्य मार डालता है, काव्यको गीत, गीतको स्त्री-विलास और स्त्री-विलासको भूख मार डालती है।] यहाँ-तक तो कोई सन्देह नहीं है कि भूख और काम बड़े बली होते हैं। पर मनोवैज्ञानिक लोग तो लोकैषणाको भी इसीके अन्तर्गत लेना चाहते हैं। वे यह नहीं समझते कि कभी-कभी मनुष्य जलते हुए भवनमें रोते हुए बच्चोंको निकाल लानेके लिये अपने प्राण सङ्कटमें डालता है, डूबते हुए अपरिचित व्यक्तिको बचा लानेके लिये

जलमें कूद जाता है, अनुभव मात्र प्राप्त करके संसारको उसका परिचय देनेके लिये हिमालयपर चढ़ जाता है और अपने देशकी रक्षाके लिये तोपके मुँहमें कूद पड़ता है, फाँसीपर झूल जाता है, यातनाएँ सहता है, यहाँतक कि अनशन करके प्राण भी दे डालता है। इसमें भोजन और कामकी भावना कहाँ काम करती है? निश्चय ही इन प्रवृत्तियोंका आधार लोकोत्तर कार्य करके यश पाना या धर्म-निर्वाह ही है।

मानव-प्रवृत्तिका आधार

यह सत्य है कि साधारण मनुष्यकी अत्यन्त साधारण प्रवृत्ति भोजन और मैथुनकी ही होती है पर अत्यन्त साधारण प्रवृत्तियों-में निद्रा (आलस्य या कामचोरी) और भय भी तो हैं। इसीलिये किसी नीतिज्ञने कहा है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

[भोजन, नींद, डर और मैथुन, ये चारों ही प्रवृत्तियाँ पशुओं और मनुष्यमें एक-सी होती हैं, किन्तु मनुष्यमें एक धर्म-प्रवृत्ति अधिक होती है और जिन मनुष्योंमें धर्म-प्रवृत्ति नहीं होती है, वे पशुओंके ही समान है।] पर यह सूची पूरी नहीं है, क्योंकि जब गौ अपने बछड़ेको बचानेके लिये, हरिणी अपने छौनेकी रक्षाके लिये और बाघिन अपने बघौटोंकी आड़के लिये जूझ पड़ती है तो निश्चय ही मनुष्यकी भी एक और विशेष प्रवृत्ति होती है जिसे हम भोजन और मैथुनके अन्तर्गत नहीं, वरन् उसके असामान्य मानव-धर्मके भीतर रख सकते हैं या अधिकसे अधिक एक नई प्रवृत्ति मान सकते हैं जिसे मोह या स्नेह-प्रवृत्ति कह सकते हैं। किन्तु भारतीय सिद्धान्तकी काम-प्रवृत्तिके अन्तर्गत ये सब प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। हाँ; यह अवश्य माना जा सकता है कि आजकल बहुत लोगोंकी काम-प्रवृत्तिका लक्ष्य सुन्दर मनचाही स्त्री या मनचाहा पति पाना ही है, पुत्र हों या न हों।

इसलिये नवीन वृत्तिके अनुसार तीन एषणाओंमेंसे पुत्रैषणाको बदलकर कलत्रैषणा कह सकते हैं।

यही बात भोजनके सम्बन्धमें भी है। मनुष्य केवल भोजनसे सन्तुष्ट नहीं होता। उसे सुन्दर, स्वादिष्ट भोजन चाहिए। भोजनके पश्चात् विश्रामके लिये आवास; शय्या, बयार, वस्त्र सभी कुछ चाहिए। इन सबको भी वह जितना सुन्दर बनाना चाहता है, उतना बनानेका प्रयत्न करता है और इन सबको मिलाकर उसकी काम-प्रवृत्ति बनती है। इसीलिये केवल भोजन और मैथुन मात्रको मूल प्रवृत्ति कहना या मानना ठीक नहीं है।

धर्म-प्रवृत्ति

धारणाद्धर्ममित्याहुः के अनुसार जो सबकी रक्षा करे वही धर्म है। भगवान् व्यासने दो श्लोकोंमें बड़े सुन्दर ढंगसे धर्मकी व्याख्या की है। वे कहते हैं—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभव-संयुक्तः स धर्म इति मे मतः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

[प्राणियोंके कल्याणके लिये ही धर्मका बखान किया गया है। जिस कर्मसे प्राणियोंका कल्याण होता हो, उसीको धर्म कहते हैं। अहिंसाके लिये धर्मका बखान हुआ है। जिन कामोंसे हिंसा न होती हो (दूसरोंको मानसिक या शारीरिक कष्ट न होता हो, वही धर्म है।) गोस्वामी तुलसीदासजीने इसीको इस प्रकार समझाया है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे सब काम धर्म कहलाते हैं जिनसे दूसरोंको सुख मिलता हो; शांति मिलती हो, लोक-कल्याण होता हो, किसीका जी न दुखता हो, किसीको किसी प्रकारका

कष्ट न होता हो। इस प्रकारके कर्मोंसे सुख पानेवाले लोग निश्चय ही ऐसे कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा करेंगे, गुण गावेंगे, बड़ाई करेंगे और यही वास्तवमें लौकैषणाकी, यश प्राप्त करके सुखी होनेकी भावना है और यही धर्म-प्रवृत्ति है।

काम-प्रवृत्ति

ऊपर समझाया जा चुका है कि कामका अर्थ केवल मैथुन मात्र नहीं है। वह तो भूख-प्यासके समान एक साधारण-सी शारीरिक उत्प्रेरणा है जो पशुमें भी होती है। पर मनुष्यका काम पशुओंके समान क्षणिक सम्पर्क मात्रसे समाप्त नहीं हो जाता। वह परिवार जोड़ता है। उसे प्रसन्न, सुखी, स्वस्थ और सुस्थिर रखनेके लिये भवन बनाता, निश्चित वृत्ति ग्रहण करता, अनेक प्रकारकी सामग्रियाँ जोड़ता और सब प्रकारके अनिष्टों, उपद्रवों और आघातोंसे अपने परिवारकी और अपनी रक्षा करता है। ये सब बातें मिलकर उसकी काम-प्रवृत्तियोंका निर्माण करती हैं। यह प्रवृत्ति जितनी ही अधिक तृप्त होती चलती है, उतनी ही अधिक बढ़ती भी चलती है। इसलिये इसके सम्बन्धमें इत्यलम् नहीं कहा जा सकता।

अर्थ—प्रवृत्ति

जैसे काम-प्रवृत्तिकी कोई सीमा नहीं होती, वैसे ही अर्थ-प्रवृत्तिकी भी कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। किन्तु यही प्रवृत्ति वास्तवमें धर्म-प्रवृत्ति और कामकी पोषिका है। यदि यह प्रवृत्ति कम हो या पूर्णतः न हो तो न धर्म सध सकता है न काम। इसलिये अर्थ-प्रवृत्तिकी साधना अवश्य करनी चाहिए अर्थात् प्रयत्न-पूर्वक इतना धन, इतनी सम्पति अर्जित कर लेनी चाहिए कि अपनी धर्म और काम-प्रवृत्तियोंको तृप्त और तुष्ट किया जा सके। किन्तु इसमें एक सबसे बड़ा प्रतिबन्ध यह है कि यह अर्थार्जन या धनका प्राप्त करना धर्म-मार्गसे, अच्छी जीविकासे, सच्चाईसे तथा दूसरोंको बिना कष्ट दिए होना चाहिए। यदि

इस अर्थार्जनमें तनिक भी पाप-संग हुआ तो धन भी नष्ट हो जाता है और काम भी समाप्त हो जाता है।

मोक्षकी प्रवृत्ति

मोक्ष-प्रवृत्ति दो प्रकारसे-उद्दीप्त होती है—या तो धर्म, अर्थ और कामकी अतृप्तिसे, या धर्म, अर्थ और कामकी अतितृप्तिसे। अतृप्तिसे जो मोक्ष-वृत्ति उद्दीप्त होती है वह अस्थिर और चंचल होती है। उसमें यदि कभी उपर्युक्त तीनों वृत्तियोंकी तुष्टिके साधन निकल आते हैं तो वह तत्काल समाप्त हो जाती है। किन्तु अतितृप्तिसे जो मोक्ष-वृत्ति उद्दीप्त होती है वह स्थिर रहती है और निश्चित रूपसे सफल भी होती है क्योंकि वह ऐसी विराग-दशामें उत्पन्न होती है जब किसी प्रकारकी कोई लौकिक इच्छा शेष नहीं रह जाती और सांसारिक भोगोंसे भली प्रकार जी ऊब चुका रहता है।

सिद्धिकी व्यवस्था

इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेके लिये आवश्यक है कि मनुष्यका शरीर स्वस्थ और सशक्त हो, उसकी बुद्धि ज्ञान-विज्ञानसे इतनी विवेकयुक्त हो गई हो कि वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित, अच्छा और बुरा सबका भली प्रकार निर्णय कर सके, उसका मन इतना सध गया हो कि वह सब जीवोंमें आत्मभाव स्थापित कर सके, दूसरेके दुःखसे दुखी और सुखसे सुखी होना जान सके। इसी उद्देश्यको स्थिर करनेके लिये आर्योंने वर्णाश्रमकी व्यवस्था की और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ या चतुर्वर्ग-फल सिद्ध करना ही जीवनका लक्ष्य स्थिर किया।

शिक्षा–विधान

शिक्षाके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक सौख्य प्राप्त करनेके लिये आर्योंने जो शिक्षा-विधान बनाया उसमें उन्होंने शिक्षाके सम्बन्धमें अग्रांकित बातें निश्चित कर दीं—

१—बालकका शिक्षा-संस्कार गर्भसे ही प्रारम्भ कर दिया जाय।

२—प्रारम्भमें माता उसे नित्य-कर्म, स्वच्छता, शील और शिष्टाचारका अभ्यास करावे।

३—उसके पश्चात् पिता उसे अक्षर-ज्ञान कराकर अपने कुल-शील, आचरण तथा लोक-व्यवहारका ज्ञान करावे। यदि पिता अक्षर-ज्ञान न करा सके तो कुल-पुरोहित या गाँवके उपाध्यायको बुलाकर अक्षरारम्भ करा दे और लिखना, बाँचना, बोलना, और समझना सिखा देनेकी व्यवस्था करे।

४—इतने ज्ञानके पश्चात् उसे गुरुकुलमें भेज दिया जाय।

५—गुरुकुलमें केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्र ही भर्ती किए जायँ।

६—गुरुकुलोंमें प्रत्येक वर्णके कर्त्तव्योंके अनुकूल निःशुल्क विद्या-दान किया जाय।

७—गुरुकुलोंकी व्यवस्थामें कोई राज्य-शासक किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करे।

८—गुरुकुलोंमें केवल बालकोंको ही शिक्षा दी जाय, कन्याओंको नहीं।

९—बालिकाओंको घरपर माता और ससुरालमें सास ही शिक्षा दें।

१०—शूद्र अपने व्यवसायकी शिक्षा अपने पिता या सहकर्मी शिल्पीसे सीखें।

आश्रम-धर्म और शिक्षा

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके लिये ज्ञान भी आवश्यक है और बुद्धि भी। इसी कारण यह निर्देश किया गया कि सौ वर्षकी मानवीय पूर्णायुके चौथाई अंशको विद्याध्ययनके लिये सुरक्षित कर दिया जाय अर्थात् पच्चीस वर्षकी अवस्थातक छात्र पढ़ता रहे। पच्चीस वर्षकी अवस्था-तक केवल ब्राह्मणके पुत्रोंको ही नहीं, क्षत्रिय और वैश्योंके पुत्रोंको भी विद्यालयमें अध्ययन करना पड़ता था। प्रत्येक वर्णके लिये

जितनी विद्या अपेक्षित होती थी उतना ज्ञान देकर ही उसे छुट्टी दे दी जाती थी। इसका तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रमके निर्णयमें वर्णोंका भी विचार किया जाता था। इस अध्ययनकी अवस्थाको ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे।

इसके पश्चात् गृहस्थाश्रम आता है। ब्रह्मचर्याश्रम अवस्था पार करते ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये विवाह करके, गृहस्थ होकर धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि करना आवश्यक था।

पच्चीस वर्षतक गृहस्थ-धर्मका निर्वाह करके, पचास वर्षकी अवस्थामें अपने पुत्र आदिको घरका भार सौंपकर लोग तपस्याके लिये वनमें चले जाते थे और वहाँ शरीरको इस प्रकारसे साध लेते थे कि वह मोक्षकी सिद्धिके निमित्त तपस्या करनेको तैयार हो जाय।

फिर पचहत्तर वर्षकी अवस्था पार करते ही मनुष्य सांसारिक वन्धनोंसे पूर्णतः विरक्त होकर संन्यास ले लेता था एवं जीवित ही मोक्ष प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाता था।

आश्रम-धर्मकी सार्थकता

यह आश्रम-धर्म-व्यवस्था मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक भी थी। प्रारम्भमें अध्ययन करना, फिर गृहस्थाश्रममें सचाईसे धन कमाकर लोक-सेवा करना, धर्म करके यश कमाना, गृहस्थीका सुख भोगना और पुत्रैषणा तृप्त करना, वानप्रस्थ अवस्थामें धीरे-धारे संसारसे विरक्त होनेका अभ्यास करना और अन्तमें पूर्णतः मुक्त हो जाना। इस क्रमसे मनुष्य इस लोक और परलोकके सुख एक साथ भोग सकता था। इसमें कहीं सङ्घर्ष नहीं, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि प्रधान थी। आजकलकी भाँति यह नहीं था कि अन्त समयतक अपनी सम्पत्तिसे लिपटे रहें और अपने पुत्र-पौत्र तथा बन्धुजनोंके ईर्ष्या-भाजन बनें।

चारों आश्रमोंकी योग्यता

ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, चारों

आश्रमोंका पालन करना पड़ता था। क्षत्रिय और वैश्यको संन्यास नहीं लेना पड़ता था। द्विज मात्रको ही संन्यासका अधिकार था। उन्हें केवल तीन ही आश्रमोंमें रहना पड़ता था। शूद्रके लिये केवल गृहस्थाश्रमका ही विधान था।

ब्रह्मचर्याश्रम-जीवन

उपनयनके पश्चात् जितेन्द्रिय होकर गुरुगृहमें रहते हुए अङ्गों-सहित वेद पढ़ना ही ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता था। इस अवस्थामें उपनयन हो जानेपर ब्रह्मचारीका कर्त्तव्य था कि वह मन लगाकर गुरुके घरको ही अपना घर समझे, वहाँ वेद पढ़े, अत्यन्त पवित्र तथा निरालस भावसे गुरुकी सेवा करे, दोनों समय सन्ध्या करे, सूर्यकी उपासना करे, गुरुजोंका अभिवादन करे, गुरु खड़े हों तो खड़ा रहे, बैठें तो उनसे नीचे आसनपर बैठ जाय, सदा गुरुकी आज्ञा माने, गुरुकी आज्ञासे उनकी ओर मुँह करके मन लगाकर विद्या सीखे, उनकी आज्ञा लेकर ही भिक्षासे प्राप्त किया हुआ अन्न ग्रहण करे, गुरुके स्नान कर लेनेपर ही स्नान करे, नित्य समिधा, जल, आरने (कण्डे), कुशा, पत्तल आदि सामग्री प्रातः लाया करे और पढ़ाई पूरी कर चुकनेपर, गुरुकी आज्ञा लेकर, गुरु-दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रमें प्रवेश करे।

गृहस्थाश्रम

पच्चीस वर्षकी अवस्थामें विवाह कर चुकनेपर गृहस्थका धर्म यह था कि वह श्राद्ध आदि करके पितरोंको, धन-भोजन आदि देकर अतिथियोंको, यज्ञ तथा स्वाध्यायके द्वारा ऋषियोंको, सन्तान उत्पन्न करके प्रजापतिको, अन्न-फलादिकी बलि देकर प्राणियोंको तथा दया और स्नेह-भावके द्वारा सारे संसारको तृप्त, प्रसन्न, सन्तुष्ट और सुखी करता रहे; भिक्षा-भोगी, परिव्राजक, ब्रह्मचारी, पर्यटक, सायंगृह तथा साधुजनोंका स्वागत करे, उनसे मधुर वचन बोले, उन्हें आसन, जल आदि देकर सन्तुष्ट करे, कभी पाखण्ड न करे, किसी प्रकार भी किसीका

अपमान या अहित न करे, धर्मानुकूल आचरण करते हुए जीविका कमावे, सन्तान उत्पन्न करे और परिवारका पालन करे।

वानप्रस्थाश्रम

पचासकी अवस्था पार कर चुकनेपर, अपनी गृहस्थी भली प्रकार जमा लेने और पुत्र-पुत्रियोंको शिक्षा देकर उनका विवाह करके उन्हें भली प्रकार गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठित करके अपनी भार्याको पुत्रोंके सहारे छोड़कर या साथ लेकर वनमें कुटिया बनाकर रहे। यही वानप्रस्थ आश्रम है। इस आश्रमका कर्त्तव्य था कि मूँछ, दाढ़ी और जटा बढ़ाए रक्खे, धरतीपर शयन करे, गिरे हुए फल ही खाकर रहे, आए हुए अतिथिका सत्कार करे, मृगचर्म या कुशासनसे शरीर ढके, तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायं) सन्ध्या तथा देवताओंकी अर्चना करे, हवन और अतिथि-पूजन करे, भिक्षाटन करे, बलि दे, निरन्तर ईश्वरकी आराधना करते हुए तपस्या और तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख सहन करनेकी शक्ति) साधे।

संन्यास

पचहत्तर वर्षकी अवस्था हो जानेपर या इससे पूर्व ही वानप्रस्थाश्रममें मन सध जानेपर सिर मुँड़वाकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर, दण्ड-कमण्डलु लेकर, विरक्त होकर चतुर्थाश्रममें प्रविष्ट हो जाना ही संन्यास कहलाता है। संन्यासीका कर्त्तव्य है कि सब प्रकार लोभ, मोह, मद, मत्सर, छोड़कर अपने पुत्र-पौत्र, धन-सम्पत्तिकी ममता छोडकर वैराग्य ले ले एवं प्राणिमात्रसे मित्रता करे, मन, वचन और कर्मसे किसी प्राणीका अनिष्ट न करे, पाँच रात्रिसे अधिक एक बस्तीमें न ठहरे, जब गृहस्थके चूल्हे ठंडे हो चुके हों, सब खा-पी चुके हों उसी समय उच्च वर्णके गृहस्थोंके घर जाकर केवल शरीर चलाने-भरके योग्य भिक्षा ले, सबका कल्याण करता हुआ निर्भय और निःस्पृह भावसे विचरण करे और ईश्वराराधन तथा योगके द्वारा मोक्ष प्राप्त करे।

वर्ण तथा आश्रमचर्या

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें वर्णाश्रमचर्याकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—

विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, बाहुओंसे क्षत्रिय, ऊरुओंसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। अलग-अलग अपने धर्मका पालन ही इन चारों वर्णोंका लक्षण है। मुझ विराट् पुरुषकी जंघाओंसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास, ये चारों आश्रम प्रकट हुए हैं। इन चारों वर्णों तथा आश्रमोंके लोगोंकी प्रकृति भी जन्म-स्थानकी उत्तमता और नीचताके अनुसार अपेक्षाकृत उत्तम और नीच हुई है। शम (वासना-शमन), दम (इन्द्रिय-दमन), तप (तत्त्वकी आलोचना), शौच, सन्तोष, क्षमा; सरलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य व्यवहार, ये ब्राह्मण वर्णके स्वभाव हैं। तेज (प्रताप), बल, धैर्य, शूरता, सहनशीलता, उदारता, उद्यम, दृढता, ब्रह्मण्यता और ऐश्वर्य, ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं। आस्तिकता, दानशीलता, दम्भ न करना, तन-मन-धनसे ब्राह्मणोंकी सेवा करना, धन-संचयसे कभी तृप्त न होना, ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं। निष्कपट भावसे गौ, देवता और द्विजवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) की सेवा करना और जो उससे मिले उसीमें सन्तुष्ट रहना, ये शूद्र वर्णके स्वभाव हैं। अशौच; मिथ्या बोलना; चोरी करना, नास्तिकता, अकारण कलह करना, काम, क्रोध और तृष्णा या लोभ, ये चाण्डाल, श्वपच आदि अन्त्यज वर्णसंकर जातियोंके स्वभाव हैं। अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, काम और लोभके वश न होना, चोरी न करना, प्राणियोंका प्रिय और हित करनेकी चेष्टामें लगे रहना, ये सभी वर्णोंके साधारण एवं आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

ब्रह्मचारीका धर्म

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके बालकोंको चाहिए कि

गर्भाधान, जातकर्म आदि संस्कारों के उपरान्त क्रमशः यज्ञोपवीत संस्कार नामका दूसरा जन्म होनेपर जितेन्द्रिय और नम्र होकर गुरुकुलमें वास करे, यथासमय गुरुके बुलानेपर निकट जाकर उनसे वेदाध्ययन करे और मनमें मनन-पूर्वक वेदके अर्थ विचारे। ऐसे ब्रह्मचारी विद्यार्थीको चाहिए कि मौञ्जी मेखला, कृष्णाजिन, दण्ड, रुद्राक्षकी जपमाला, ब्रह्मसूत्र और कमण्डलु धारण करे, सिर न मलनेके कारण स्वयं बढ़ी हुई जटाएँ धारण करे, दन्तधावन न करे, पहननेके वस्त्र न धुलावे, रंगीन आसनपर न बैठे, कुश धारण करे, स्नान, भोजन, हवन, जप और मलमूत्र-त्यागके समय मौन रहे, नख न काटे और कक्ष तथा उपस्थके ऊपरके भी रोम न बनावे। ब्रह्मचारी भूलकर भी कभी वीर्य-पात न करे। यदि सुप्तावस्थामें असावधानतावश कभी आप ही आप वीर्य-स्खलन हो भी जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायाम-पूर्वक गायत्रीका जप करे, पवित्र और एकाग्र होकर प्रातःकाल और सायंकाल, दोनों संध्याओंमें, मौनावलम्बनपूर्वक गायत्री जपता हुआ अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़े और देवताओंकी उपासना करे एवं सन्ध्या-वन्दन करे, आचार्यको साक्षात् ईश्वरका रूप समझे, गुरुको साधारण मनुष्य मानकर उनकी उपेक्षा या अपमान न करे और न उसकी किसी बात या व्यवहारका बुरा माने, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय है, सायंकाल और प्रातःकाल जो कुछ भी भिक्षा मिले एवं और भी जो कुछ मिले वह सब लाकर गुरुके आगे धर दे और गुरुके भोजन कर चुकनेपर, गुरुकी आज्ञा पाकर, संयत भावसे उसमेंसे आप भी भोजन करे, नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े हुए गुरु निकट ही रहकर सब समय गुरुकी सेवा करे, गुरु चले तो आप पीछे-पीछे चले, गुरु सोवे तो आप भी सो जाय और लेटे तो आप भी पास बैठकर पैर दबाता रहे और जबतक पढ़ना समाप्त न हो तबतक अस्खलित ब्रह्मचर्य-व्रत पालता हुआ निरन्तर भोग-त्याग-पूर्वक गुरुकुलमें वास करे।

यदि महर्लोक, जनलोक, तपलोक अथवा जहाँ सब वेद मूर्तिमान् होकर रहते हैं उस ब्रह्मलोकको जानेकी इच्छा हो तो ब्रह्मव्रत (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य)—पूर्वक अपना शरीर गुरुको अर्पण कर दे, अर्थात् जबतक जीवित रहे तबतक गुरुकी सेवामें रहकर अध्ययन करता रहे और ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करता रहे। इस ब्रह्मतेज-सम्पन्न निष्पाप बाल-ब्रह्मचारीको चाहिए कि अग्नि, गुरु आत्मा और सब प्राणियोंमें परमेश्वरकी भावना करे और भेदभावको छोड़ दे।

गृहस्थाश्रममें न जानेवाले ब्रह्मचारीको उचित है कि न स्त्रियोंको देखे, न उनका स्पर्श करे, न उनसे बातचीत करे, न हँसी-ठट्ठा करे, न एकान्तमें एकत्रित स्त्री-पुरुषको देखे। हे कुरुनन्दन ! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवा, जप, ईश्वरका पूजन और ध्यान, कोई अभक्ष्य पदार्थ न खाना, जिनसे बात न करनी चाहिए और जिनको छूना न चाहिए उनसे न मिलना, न बोलना और न उनको छूना, सब प्राणियोंमें ईश्वरको देखना और मन, वाणी, तथा कार्योंका संयम, ये धर्म हैं तो सभी आश्रमोंके, किन्तु ब्रह्मचारीको तो इनका पालन करना ही चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण (या क्षत्रिय और वैश्य) प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। ऐसे निष्काम, नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी कर्म-वासनाएँ तीव्र तपसे भस्म हो जाती हैं और अन्तमें वह मेरा भक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचर्याश्रमके अनन्तर

यदि आवश्यक विद्या पढ़ चुकनेपर गृहस्थाश्रममें जानेकी इच्छा हो तो वेदके तात्पर्यको यथार्थ जान लेनेपर, गुरुको दक्षिणा देकर और गुरुकी आज्ञा लेकर स्नान आदि करे अर्थात् समावर्तन-संस्कारपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत समाप्त करे। यदि सकाम हो तो ब्रह्मचर्यके उपरान्त गृहस्थ बने और यदि अन्तःकरण शुद्ध होनेके

कारण निष्काम हो, तो वानप्रस्थ होकर वनमें वास करे। यदि शुद्ध-चित्त विरक्त ब्राह्मण चाहे तो ब्रह्मचर्यके उपरान्त गृहस्थ छोड़कर संन्यास ले सकता है। यदि ईश्वर-भक्त हो तो उसके लिये आश्रमी होनेका कोई विशेष नियम नहीं है, किन्तु यदि ईश्वर-का अनन्य भक्त और विरक्त न हो, तो उसे अवश्य किसी न किसी आश्रमका अवलम्ब लेना ही चाहिए। किसी आश्रममें न रहनेसे, अथवा पहले वानप्रस्थ, फिर गृहस्थ या पहले गृहस्थ फिर ब्रह्मचर्य—इस प्रकार विपरीत आचरणसे मनुष्य अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। जो गृहस्थ होना चाहे, उसे उचित है कि ब्रह्मचर्य समाप्त करके अपने समान रूप, गुण और विद्यावाली, निष्कलंक कुलकी, शुभ लक्षणोंसे युक्त अपनेसे छोटी और अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे।

यज्ञ करना, दान देना और पढ़ना ये तीनों, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके लिये आवश्यक और साधारण धर्म हैं पर दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना ये तीन धर्म (वृत्तियाँ) केवल ब्राह्मणके ही लिये विहित हैं। किन्तु दान लेनेसे तप, तेज और यश क्षीण होता है तथा पढ़ाने और यज्ञ करनेमें दीनता दिखानी पड़ती है; इसलिये ब्राह्मणको उचित है कि जहांतक हो सके, दान लेनेकी वृत्ति न करे, केवल पढ़ाने और यज्ञ करानेकी वृत्तिसे ही जीविकाका निर्वाह करे और यदि हो सके तो इन दोनों वृत्तियोंको भी छोड़कर शिलोञ्छ वृत्तिसे (खेत काट लेनेपर जो अन्नकण पड़े रह जाते हैं उहें बीन लाकर या हाट उठ जानेपर जो अन्न बिखरा हुआ पड़ा रह जाता है उसे लाकर उससे) जीविका-निर्वाह करे। यह अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मण-शरीर सांसारिक सुखके लिये नहीं है। इससे लोकमें कष्ट उठाकर तप करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे परलोकमें अनन्त सुख मिलता है। जो ब्राह्मण-शरीर पाकर ऐसा नहीं करता वह अपने ब्राह्मण-जन्मको सर्वथा नष्ट कर देता है। इस प्रकार जो ब्राह्मण शिलोञ्छ-वृत्तिमें सन्तुष्ट-चित्त होकर निष्काम-भावसे केवल महद्धर्मं

(अतिथि-सेवा आदि) सनातन सदाचारका सेवन करता हुआ सर्वतोभावसे ईश्वरको आत्म-समर्पण कर देता है वह अनासक्त भावसे गृहस्थाश्रममें ही रहकर ईश्वर-भजनसे परम शान्ति अर्थात् मोक्षका अधिकार अथवा योग्यता प्राप्त कर लेता है।

ईश्वरके जो भक्त, किसी ब्राह्मण अथवा अन्य जनको धन, भोजन, वस्त्र आदिकी सहायता देकर दारिद्रय आदि कष्टोंसे उबारते हैं, उनको ईश्वर, आनेवाली आपत्तियोंसे वैसे ही शीघ्र उबार लेता है जैसे समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिको नौका उबार लेती है। धीर अर्थात् विवेकी क्षत्रिय तथा राजाको चाहिए कि जैसे गजपति, अन्य गजोंको दल-दलमें फँस जाने आदि अनेक आपत्तियों या कष्टोंसे उबारता है और अपना उद्धार आप ही अपनी शक्तिसे करता है वैसे ही दारिद्रय, अन्न-कष्ट आदि सङ्कटोंमें पिताकी भाँति सहानुभूति-सहित सब प्रजाकी सहायता करे, यही राजाका मुख्य धर्म है, क्योंकि वह प्रजा-रञ्जनके कारण ही राजा कहलाता है। उसे चाहिए कि सब समय अपनी बुद्धि और शक्तिसे अपनी रक्षा करता रहे, विपत्ति, अधर्म एवं असावधानतासे बचाता रहे। ऐसा नरपति इस लोकमें सब अशुभोंसे रहित होकर अन्त समयमें सूर्यसदृश प्रकाशमान विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको जाता है और वहाँ इन्द्रके साथ उन्हींके समान ऐश्वर्य-सुख भोगता है।

आपद्धर्म

हे उद्धव! ब्राह्मण यदि दरिद्रतासे पीडित हो तो वह वैश्य-वृत्तिसे अर्थात् बेचने-योग्य वस्तुओंके व्यापारसे आपत्काल बितावे (उस समय भी मदिरा और लवणादिका बेचना निषिद्ध है) किन्तु श्ववृत्ति अर्थात् नीच-सेवा न करे, क्योंकि श्ववृत्ति सर्वथा निषिद्ध है। इसी प्रकार क्षत्रिय यदि दरिद्रतासे पीडित हो तो वह वैश्य-वृत्तिसे या मृगया (शिकार) के द्वारा अथवा ब्राह्मणके समान विद्या पढ़ाकर आपत्काल बितावे, परन्तु अपनेसे नीच वर्णोंकी सेवा कभी न करे। इसी प्रकार दरिद्रतासे पीडित वैश्यको

चाहिए कि शूद्रोंकी सेवा न करे और दरिद्रतासे पीडित शूद्रको चाहिए कि प्रतिलोम अर्थात् उच्च वर्णकी स्त्रीमें नीच वर्ण पुरुषसे उत्पन्न कारु (धुनिए) आदिकी वृत्तिसे चटाई-वटाई बुनकर निर्वाह करे। चारों वर्णोंके लिये केवल आपत्कालमें इन क्रमशः वृत्तियोंकी व्यवस्था की गई है। आपत्काल निकल जानेपर किसी वर्णको अधम वृत्तिसे जीविका-निर्वाहकी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

गृहस्थाचरण

गृहस्थ मनुष्यको चाहिए कि यथाशक्ति वेदाध्ययन, स्वधा (पितृयज्ञ), स्वाहा (देव-यज्ञ), वलिवैश्वदेव और अन्न-दान करता हुआ देवता, पितर, ऋषि और सब प्राणियोंको परमात्म-स्वरूप समझकर नित्य पूजे। स्वयं-प्राप्त और अपनी विहित वृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे न्यायपूर्वक, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता है, उन लोगोंको पीडा न पहुँचाकर यज्ञ आदि धर्म-कर्म करे, अपने कुटुम्बकी ही चिन्तामें आसक्त न रहे, कुटुम्बी होकर भी ईश्वरका भजन करना न भूले, ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास करे। विद्वान्को चाहिए कि प्रत्यक्ष संसारके प्रपञ्चकी भाँति अप्रत्यक्ष स्वर्ग आदिको भी अनित्य समझे। जैसे पथिक लोग जलशालामें जल पीनेके लिये जाकर घड़ी भरके लिये मिल जाते हैं और पानी पीकर अपनी-अपनी राह लेते हैं, वैसे ही इस संसारमें पुत्र, स्त्री, स्वजन और बन्धुवान्धवोंका समागम भी समझना चाहिए। निद्राके साथ जैसे स्वप्न दिखाई पड़ता है और नींद उचटनेपर नहीं दिखाई पड़ता वैसे ही प्रत्यक्ष शरीर प्राप्त होनेकी परिस्थितिमें और उसके छूटनेपर स्त्री-पुत्रादिका समागम और वियोग होता है। ऐसा समझकर साधक योगीको चाहिए कि गृहस्थाश्रममें अतिथिकी भाँति ममता और अहंकारसे हीन होकर रहे और लिप्त न हो। ईश्वरकी भक्ति करता हुआ, अपने धर्म और कर्त्तव्यके पालनसे ईश्वरकी आराधनामें तत्पर रहकर चाहे वह गृहस्थाश्रममें रहे, चाहे बुढ़ापेसे पहले ही वानप्रस्थ होकर

वनको चला जाय अथवा पुत्र हो तो संन्यास ग्रहण करे, किन्तु जिसकी बुद्धि घरमें, परिवारमें आसक्त है, जो पुत्रोंके लिये या धनके लिये व्याकुल है, जो स्त्री-सङ्गमें लिप्त और मन्दमति हैं, वह मूढ मनुष्य मैं-मेरेके जालमें पड़कर अनेक जन्मोंतक जन्म-मरणके कठिन कष्ट भोगता रहता है। जो व्यक्ति गृहस्थी और परिवारकी चिन्तामें इस प्रकार चूर रहता है कि अहो! मेरे माँ-बाप बूढ़े हैं, स्त्रीके छोटे-छोटे वालक हैं, ये दीन लड़की-लड़के मेरे विना अनाथ होकर कैसे जियेंगे, मेरे वियोगमें इनको महादुःख होगा आदि, वह मन्दमति मूढ गृहस्थ कभी तृप्त नहीं होता और ऐसे ही सोचता-सोचता एक दिन समाप्त हो जाता है और फिर तामस नीच योनिमें जन्म लेता है।

वानप्रस्थ

हे उद्धव! जो गृहस्थ वानप्रस्थ लेना चाहे वह समर्थ पुत्रोंके हाथमें पत्नीको सौंपकर अथवा अपने ही साथ रखकर, शान्त चित्तसे आयुका तीसरा भाग वनवासमें बितावे, वहाँ विशुद्ध कन्द, मूल और वनके फल खाकर रहे, वस्त्रके स्थानपर वल्कल धारण करे या तृण, पत्ते अथवा मृगचर्मसे कपड़ेका काम निकाले, सिरके बाल, दाढ़ी, मूँछ, शरीरके रोम और नख बढ़ाता रहे, मैल न छुड़ावे, दन्तधावन न करे, तीनों काल जलमें घुसकर सिरसे स्नान करे, पृथ्वीपर सोवे, ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्नि तापे, वर्षा-ऋतुमें खुले मैदानमें रहे और जाड़ेमें गलेतक पानीमें बैठे। इस प्रकार उसे घोर तप करना चाहिए। अग्निमें पके हुए अथवा समय पाकर पके हुए फल आदि ही उसे खाने चाहिएँ। यदि कन्द-मूलादि मिलें तो उन्हें ओखलीमें या पत्थरसे कूटकर खाना चाहिए अथवा दाँत पुष्ट हों तो उन्हींसे चवा लेना चाहिए। अपने खाने-पीनेकी सब सामग्री अपने ही हाथों खोजकर लानी चाहिए। देश, काल और शक्तिका विशेष रूपसे ज्ञान रखनेवाले मुनिको चाहिए कि कालान्तरमें लाए हुए पदार्थको दूसरेसे कभी

न ले। तात्पर्य यह है कि उसे नित्यप्रति खाने भरकी वस्तुएँ कन्द, मूल, फल लाने चाहिएँ, वासी नहीं खाना चाहिए और समयानुसार मिले हुए वनके फलोंसे देवता और पितरोंके लिये चरु, पुरोडाश आदि निकाल देना चाहिए किन्तु वेद-विहित पशु-बलिसे भी भोजन करना वानप्रस्थके लिये निषिद्ध है। हाँ, वेदवादी ऋषियोंकी आज्ञाके अनुसार पहलेकी ही भाँति चातुर्मास्य, दर्श-पौर्णमासेष्टि और अग्निहोत्र करना उसके लिये आवश्यक है। इस प्रकार घोर तप करनेके कारण शरीर सूख जानेसे जिस मुनिका केवल शिराजाल (नसोंका जाल) मात्र रह गया हो वह यदि शुद्ध अन्त:करणसे, निष्काम होकर भक्ति-पूर्वक ईश्वरको भजे तो यहीं मुक्त हो जाता है और यदि बहुत-सी विघ्न-बाधाएँ पड़ती हों अर्थात् यदि विषय-वासनाएँ निर्मूल न हो पावें, तो भी ईश्वरकी तपोमय आराधनाके बलसे महर्लोक आदि ऋषियोंके लोक प्राप्त करता हुआ वह समयानुसार वहाँसे ब्रह्ममें मिल जाता है। जो व्यक्ति इतने कष्टसे किए हुए इस मोक्षफल-दायक तपको अत्यन्त तुच्छ समझता है उससे बढ़कर और कौन मूर्ख होगा? जिसे वैराग्य न हो उसका शरीर यदि जरा-जर्जर होनेके कारण काँपने लगे और उसमें नियम-पालनकी शक्ति न रह जाय तब अग्नियोंको अपनेमें आरोपित करके ईश्वरमें मन लगाए हुए अग्निमें प्रवेश कर जाय, अथवा उसी आरोपित अग्निको (शरीरसे) प्रकट करके शरीरको जला ले।

संन्यास

जो पुरुष धर्मके बलसे इन नरकतुल्य लोकोंका दुख:दायक परिणाम देखकर भली भाँति विरक्त हो उठे, उस वानप्रस्थको चाहिए कि ७५ वर्षकी अवस्था हो चुकनेपर आहवनीय अग्नियोंको अपनेमें लीन करके संन्यास ग्रहण कर ले। ऐसे विरक्त वानप्रस्थको चाहिए कि पहले वेदके उपदेशानुसार अष्टका-श्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञसे पूजन-यजन करे, फिर ऋत्विक्को सर्वस्व देकर अग्नियोंको अपनेमें स्थापित करके संन्यास

ग्रहण कर ले। ब्राह्मणके संन्यास लेते समय देवता लोग, इस भयसे स्त्री-पुत्र आदिके रूपमें विघ्न डालनेकी चेष्टा किया करते हैं कि यह हमको लाँघकर ब्रह्मको न प्राप्त हो जाय। इसलिये सब विघ्नोंसे सतर्क रहकर संन्यास अवश्य ले लेना चाहिए। संन्यासीको केवल एक लँगोटी पहननी चाहिए और यदि ऊपरसे कुछ ओढ़ना चाहे तो केवल उतना ही वस्त्र ओढ़े जिससे नीचेका शरीर ढका रहे। संन्यासीको आपत्कालके अतिरिक्त सर्वदा केवल दण्ड-कमण्डलु ही पास रखना चाहिए और कुछ भी नहीं, क्योंकि वह संन्यास लेते समय सर्वत्याग कर चुकता है। संन्यासीको चाहिए कि भली भाँति जीवजन्तुओंको देखकर पृथ्वीपर पैर रक्खे, वस्त्रसे छानकर जल पीवे, केवल सत्य वाक्य ही बोले और भली भाँति विचारकर काम करे।

मौनरूपी वाणीका दण्ड अर्थात् दमन, अनीहा (काम्य-कर्मके त्यागसे शरीरका दण्ड), एवं प्राणायामके द्वारा मनका दण्ड धारण करनेसे ही वह त्रिदण्डी कहलाता है। हे उद्धव! दिखानेके लिये केवल बाँसके तीन दण्ड लिए रहनेवालेको मैं यती नहीं मानता। संन्यासीको चारों वर्णोंके यहाँ भिक्षा करनेका अधिकार है, किन्तु पतित, हत्यारे और जातिच्युत लोगोंके यहाँ भिक्षा करना निषिद्ध है। संन्यासीको सवेरे बस्तीके बीच जाकर अनिश्चित सात घरोंसे भिक्षा माँगना और वहांसे जो कुछ मिले उतनेसे ही संतुष्ट रहना चाहिए। भिक्षा कर चुकनेपर गाँवके बाहर एकान्तमें किसी जलाशयके तटपर जाकर, पहले उस स्थानपर जल छिड़ककर उसे पवित्र कर लेना चाहिए और फिर अपने हाथ-पैर धोकर, कुल्ला करके चुपचाप सब अन्न खा लेना चाहिए। भोजन करनेके अवसरपर यदि कोई आकर भोजन माँगे तो उसे बाँटकर भोजन करना चाहिए। संन्यासीको एक स्थानपर नहीं रहना चाहिए। संगहीन, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मलीन और समदर्शी होकर उसे अकेले इच्छानुसार पृथ्वीपर पर्यटन करते रहना चाहिए। संन्यासी मुनिको

चाहिए कि निर्जन और निर्भय स्थानमें बैठकर विशुद्ध भक्तिसे निर्मल होकर रहे। हृदयमें ईश्वरको अपने (आत्मा) से अभिन्न देखे और विचारे। संन्यासीको सर्वदा ज्ञान-निष्ठ होकर इस प्रकार आत्माके बंधन और मोक्षका विचार करना चाहिए कि इन्द्रियोंका चंचल होना ही अपना बन्धन है और इन्द्रियोंको वशमें रखना ही मोक्ष है। इसलिये मुनिको, ईश्वरके द्वार-स्वरूप भक्तिके द्वारा मन-सहित छहों ज्ञानेन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीतकर इच्छानुसार विचरना चाहिए, सब क्षुद्र कामनाओंसे विरक्त होकर आत्मचिन्तनमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिए, भिक्षाके लिये केवल नगर, ग्राम, व्रज और यात्रिजनोंके बीच जाना चाहिए और फिर पृथ्वी-मण्डलके पवित्र देश, पर्वत, नदी, वन और आश्रमोंमें भिक्षा माँगनी चाहिए, क्योंकि शिलोञ्छ-वृत्तिसे प्राप्त अन्नके खानेसे अन्तःकरण शुद्ध रहता है और शीघ्र ही माया-मोह मिटनेके कारण वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

अध्यात्म-तत्त्व

संसारके जो भी विषय-सुख दिखाई पड़ते हैं, सब अनित्य हैं। इस कारण इन्हें तुच्छ समझना चाहिए और परलोकके लिये जो विहित काम्य-कर्म हैं उनसे निवृत्त होकर अनन्य भावसे ईश्वरको भजना चाहिए। अन्तःकरण, वाणी और प्राण-सहित इस ममताके घर जगत्को, अहंकारके घर शरीरको और शरीर-सम्बन्धी परिवार तथा सुखको स्वप्नके समान मिथ्या समझकर छोड़कर स्वस्थ चित्तसे आत्मरूप ईश्वरके ध्यानमें मग्न होकर इस संसार-प्रपंचकी चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। जो मोक्षकी इच्छासे ज्ञान-संचय करता हो अथवा जो मोक्षके लिये निरपेक्ष रहकर भी ईश्वरकी भक्ति करता हो, ऐसे दोनों प्रकारके साधकोंको चाहिए कि चिह्न-सहित आश्रमोंको त्याग दें और वेद-विहित विधि-निषेधके बन्धनसे छूटकर निरपेक्ष भावसे शारीरिक कर्म करते रहें अर्थात्

विवेकी होकर भी बालकोंकी भाँति खेलें, निपुण होकर भी जड़ोंकी भाँति घूमें, विद्वान् होकर भी उन्मत्तोंकी सी बातें करें, वेदके भावार्थको भली भाँति जानने और माननेपर भी गौ आदि पशुओंकी भाँति आचारका विचार न करें, कर्मकाण्ड आदि वेदवादमें निरत न हों, पाखण्ड अर्थात् श्रुति-स्मृतिके विरुद्ध कार्य न करें, केवल तर्कमें ही न लगे रहें, निष्प्रयोजन वादविवाद न करें, एवं वाद-विवादमें किसीका पक्ष भी न लें। धीर पुरुषको न तो अन्य लोगोंसे उद्विग्न होना चाहिए और न अन्य लोगोंको उद्विग्न करना चाहिए। यदि कोई कटु वचन कहे भी तो सुन लेना चाहिए और किसीका अनादर या अपमान नहीं करना चाहिए। पशुओंकी भाँति इस शरीरके लिये किसीसे वैर नहीं करना चाहिए। उसे यही समझना चाहिए कि वही एक परमात्मा सब प्राणियोंमें और अपनेमें भी अवस्थित है। जैसे एक ही चन्द्रमाके प्रतिबिंब अनेक जलपात्रोंमें दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही सब प्राणियोंका आत्मा वही एक परमात्मा है। यदि किसी समय आहार न भी मिले तो विषाद नहीं करना चाहिए और मिल जाय तो प्रसन्न नहीं होना चाहिए क्योंकि दोनों ही बातें दैवके अधीन हैं। यदि आहारके विना शरीर अशक्त होता दिखाई पड़े तो केवल आहार (पेट भरने) भरके लिये चेष्टा भी करनी चाहिए अर्थात् भिक्षासे पेट भरना चाहिए, क्योंकि प्राण रहनेपर अथवा शरीर स्वस्थ रहनेपर ही परम तत्त्वका विचार सम्भव है और तत्त्व जाननेसे मुक्ति प्राप्त होगी।

परमहंस मुनि

परमहंस मुनिको जैसा अच्छा-बुरा अन्न मिले वैसा खा लेना, जैसा कपड़ा मिले वैसा पहन लेना और जैसी शय्या (या पृथ्वी) सोनेको मिले उसीपर पड़ रहना चाहिए। ज्ञाननिष्ठ पुरुषको विहित विधिके बन्धनमें न रहकर आचमन, स्नान आदि अन्यान्य कर्म करते रहना चाहिए। ऐसे लोगोंके मनमें भेदभाव नहीं रह पाता

और जो होता भी है वह भी तत्त्व-ज्ञानसे मिट जाता है। जबतक पूर्व संस्कारवश स्थूल शरीर रहता है तबतक कभी-कभी कुछ-कुछ भेदवाव भासित भी होता है, परन्तु देह छूटनेपर वह ईश्वरमें मिल जाता है।

विरक्त जिज्ञासु

जो बुद्धिमान् पुरुष दुःखदायक परिणामवाले अनित्य विषयोंसे विरक्त हो गया हो, किन्तु भावगत-धर्मको न जानता हो, उसे चाहिए कि किसी ज्ञानी मुनिको गुरु मानकर उसका आश्रय ले और जबतक ब्रह्मज्ञान न हो, तबतक ईश्वरकी ही भावनाके साथ आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धासे गुरुकी सेवा करे और गुरुकी किसी वातका कभी बुरा न माने। जिसने काम-क्रोध रूपी छह शत्रुओंके दलको शान्त नहीं किया, जिसके बुद्धि-रूपी सारथिको प्रचण्ड इन्द्रिय-रूप घोड़े इधर-उधर घसीटते फिरते हैं, जिसके हृदयमें ज्ञान-विज्ञानका लेश भी नहीं है, ऐसा जो मनुष्य केवल जीविकाके लिये दण्ड-कमण्डलु लेकर संन्यासी वेषमें पेट पालता फिरता है वह धर्मघातक है, उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता, वह देवताओंको, अपनेको और अपनेमें स्थित ईश्वरको ठगता है, इसीसे वह अशुद्ध-हृदय दम्भी दोनों लोकोंसे भ्रष्ट हो जाता है, कहींका नहीं रहता।

आश्रम-धर्म

संन्यासीका मुख्य धर्म शान्ति और अहिंसा है। वानप्रस्थका मुख्य धर्म ईश्वर-चिन्तन और तप है। गृहस्थका मुख्य धर्म प्राणियों-का पालन और पूजन है। गुरुकी सेवा करना ब्रह्मचारीका परम धर्म है। ब्रह्मचर्य (वीर्यको रोकना और इन्द्रियोंके वेगको सँभालना), तप, सन्तोष; प्राणियोंसे प्रेम और ऋतु-समयमें वंश बढ़ानेके बिचारसे स्त्री-संग करना, ये भी गृहस्थके लिये आवश्यक धर्म हैं। ईश्वरकी उपासना करना या ईश्वरको भजना प्राणिमात्रका धर्म है। जो पुरुष अनन्य भावसे इस प्रकार अपने धर्मके द्वारा

ईश्वरको भजता है और सर्वत्र सबमें मुझे देखता है वह शीघ्र ही ईश्वरकी विशुद्ध भक्ति-रूपी मुक्तिको प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता हैं। हे उद्धव! सुदृढ भक्तिके द्वारा वह सब लोकोंके ईश्वर तथा सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके आदिकारण उस परात्पर ब्रह्ममें लीन हो जाता हैं। इस प्रकार स्वधर्म-पालनसे जिसका सत्त्व अर्थात् आत्मा शुद्ध हो जाता है और जो ईश्वरकी गतिको जान जाता है, वह ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न विरक्त पुरुष ईश्वरको प्राप्त होता है। वर्णाश्रम-चारी लोगोंका यही धर्म है, यही आचार है, यही लक्षण है। साधारणतः उसका पालन करनेसे पितृलोक प्राप्त होते हैं और अनन्य भक्तिके साथ इसका अनुगमन करनेसे परम मुक्ति मिलती है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि—

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।

[ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके वानप्रस्थाश्रममें प्रविष्ट हो, गृहस्थाश्रम पूर्ण करके वानप्रस्थाश्रममें प्रविष्ट हो और वानप्रस्थाश्रम पूर्ण करके संन्यास ले ले।]

चतुर्थ-आश्रम या उदासीन वृत्ति

चौथे आश्रममें मनुष्यको चाहिए कि सांसारिक वैभवसे तुष्टि पाकर अपना जीवन केवल आत्मचिन्तनमें लगावे और एकान्त वास करे। इस कालमें वह अपने परिवार, कुल, जाति, संबंधी सबसे नाता तोड़कर और केवल एक परब्रह्मसे नाता जोड़कर प्रेयस्‌से श्रेयस् या अभ्युदयसे निःश्रेयस्‌की ओर प्रवृत्त हो और इस वैराग्यका अभ्यास करते-करते पूर्णतः अन्तःप्रवृत्त होकर आत्मदर्शी होकर मोक्ष प्राप्त कर ले।

अपर वैराग्य

इस वैराग्य वृत्तिके भी दो भेद हैं—अपर वैराग्य और पर वैराग्य।

इनमेंसे अपर वैराग्यके चार भेद होते हैं—मतिमान्, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार। संसारमें क्या सार है और क्या असार है इसका विचार करना मतिमान् वैराग्य कहलाता है। चित्तमें उत्पन्न होनेवाले रागद्वेष आदि दोषोंका भली प्रकार विचार करना और उससे छुटकारा पानेके लिये ही निवृत्ति मार्गका अवलम्ब लेना व्यतिरेक वैराग्य कहलाता है। मनसे विषयोंकी सम्पूर्ण इच्छा हटाकर इन्द्रियोंका निरोध करनेका निरन्तर प्रयत्न करते रहना एकेन्द्रिय वैराग्य कहलाता है और लोक-परलोकके विषयोंको नाशवान् समझकर उनके त्यागकी इच्छा करना वशीकार वैराग्य कहलाता है।

वशीकार वैराग्य

यह वशीकार वैराग्य भी मंद, तीव्र और तीव्रतर तीन प्रकारका होता है। स्त्री, पुत्र, धन आदिका नाश हो जानेसे संसारको बुरा समझनेकी जो भावना उत्पन्न हो जाती है उसे मंद वैराग्य कहते हैं। धन, स्त्री, पुत्र आदि विषयोंसे पूर्णतः सम्पन्न होते हुए भी इनसे संपर्क या आसक्ति हटानेको तीव्र वैराग्य कहते हैं और ब्रह्मलोक-तकके भोगोंको भी तुच्छ समझनेका भाव ही तीव्रतर वैराग्य कहलाता है। इन तीनोंमें तीव्रतर वैराग्य ही सर्वोत्तम माना गया है और पहले दो प्रकारके वैराग्य क्रमशः निकृष्ट और मध्यम समझे गए हैं।

पर वैराग्य

पर-वैराग्यकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

गुणेषु वैतृष्ण्यं पर-वैराग्यम्।

[सत्त्व, रज, तम गुणोंके परिणाम-स्वरूप लोक-परलोकके विषयोंकी तृष्णासे रहित होना ही पर-वैराग्य है।] यह वैराग्य जब परिपक्व हो जाता है तब संसारके सब व्यवहार केवल प्रपंच और मिथ्या ज्ञात होते हैं। चारों आकरों और चौरासी लाख

योनियोंमें मनुष्य एक मात्र इसी शरीरसे ही आवागमनके चक्रसे मुक्त हो सकता है। इसी मुक्तिके लिये अर्थात् सब कर्मोंका त्याग करके मोक्ष-सिद्धि पानेके लिये चतुर्थाश्रममें प्रवेश होना आवश्यक समझा गया है। इस आश्रममें पहुँचकर—

ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता।

[एकाग्र होकर ध्यान करना, पवित्र जीवन व्यतीत करना, भिक्षा माँगकर खाना और एकान्तमें रहनेका स्वभाव डालना, ये चार कर्म यतीके लिये आवश्यक हैं।] आत्मका साक्षात्कार हो जानेपर आत्मज्ञानीके हृदयकी गाँठे खुल जाती हैं, सभी संशय तथा भ्रम उड़ जाते हैं और सब कर्मोंका नाश हो जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयाः।
क्षीयते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परात्परे॥ (मुण्डक)

किन्तु जिस उदासीन यती महात्माने जीवन्मुक्तकी अवस्था प्राप्त नहीं की है; जो धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, जन्म-मरण, उद्वेग-आनंद आदिको समान नहीं समझता, ऐसे व्यक्तिको श्रेष्ठ सदाचारी महात्माका सत्संग अवश्य करना चाहिए अथवा जहाँपर शुद्ध आचरणवाले, सद्गुणी, संसारसे विरक्त विद्वान्, सुहृद् या उदासीन महात्मा निवास करते हों, उनके आश्रममें, या उनके पास जाकर निवास करना चाहिए क्योंकि ये पवित्र स्थान ही ऐसे दुर्ग हैं जिनपर काम, क्रोध लोभ आदि शत्रुओंका आक्रमण नहीं हो सकता। ऐसे वातावरणमें मन और इन्द्रियाँ कलुषित नहीं हो पातीं और निष्काम भावकी प्रवृत्ति जागरित हो जाती है। ऐसे मोक्ष-दुर्ग स्थापित करनेवाले श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीचन्द्राचार्य आदि अनेक आचार्योंने भारतीय दर्शनकी विशद व्याख्या करके सम्पूर्ण भारतको पुनः धर्मप्राण बना दिया और भारतीय जीवन-दर्शन तथा उदासीन वृत्तिका सुन्दर समन्वय भी कर दिया।

बुद्धके समय भिक्खुओंमें अराजकता

दुर्भाग्यवश जब गौतम बुद्धने अपना बौद्ध धर्म प्रवर्त्तित किया और कुल-शील भावनाका विचार किए बिना सबको आँख मूँदकर बौद्ध धर्ममें दीक्षित करना प्रारम्भ किया तब परिणाम यह हुआ कि बौद्ध विहारोंमें गौतम बुद्धके समयमें ही इतनी भयंकर अराजकता व्याप्त हो गई थी कि कोई किसीका सम्मान नहीं करता था, सब आपसमें कलह करते थे और भिक्षा माँगनेके समय गृहस्थोंके घर बड़ा उपद्रव करते थे। विनयपिटकमें इस अराजकता-का बड़ा विशाद वर्णन करते हुए लिखा है कि जब गृहस्थोंने आकर गौतम बुद्धसे भिक्खुओंके इस कदाचरणका वर्णन किया तब अत्यन्त विक्षुब्ध होकर उन्होंने यह आदेश दिया कि प्रत्येक भिक्खुको उपाध्यायके शासनमें रहना चाहिए। जब इतनेसे भी उनके व्यवहारमें कोई अन्तर नहीं आया तब गौतम बुद्धने वैदिक गुरुकुलोंके नियमानुकूल उपाध्याय (गुरु) और शिष्यके कर्त्तव्य निर्धारित किए।

व्यवस्थाकी आवश्यकता

अतः, यह आवश्यक नहीं है कि केवल नामको यती या संन्यासी बन जानेके कारण ही कोई संयत हो जाता है। उन्हें भी संयत बनाए रहनेके लिये कोई शासन-व्यवस्था होनी ही चाहिए। इसी निमित्त हमारे यहाँ पहलेसे ही मठ और महन्त-प्रणाली स्थापित हो गई जिसके अनुसार साधु-महात्माओंके मठ स्थापित किए जाते थे जहाँ साधु-वृत्तिवालोंको दीक्षित भी किया जाता था और उनकी तपस्याको निर्विघ्न और निश्चिन्त करनेके लिये उनके भोजन-वस्त्रकी भी व्यवस्था की जाती थी। इन मठोंको सुव्यवस्थित रूपसे चलानेके लिये ऐसे विद्वान्, सुचरित, सुविज्ञ, साधु तथा कुशल महात्माको महन्त चुन लिया जाता था जिसका सब लोग सम्मान करते हों और जिसका आदेश पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हों।

समन्वय

इसी नियमके अनुसार उदासीन सम्प्रदायमें भी महन्त, श्रीमहन्त मण्डलेश्वर और महामण्डेश्वर-प्रणालीका श्रीगणेश हुआ जिसकी वरिष्ठ परम्परा आजतक भारतीय समाज-द्वारा पूजनीय और वन्दनीय समझी जाती है और जिसने समय-समयपर शान्तिके समय भी और संकट-कालमें भी भारतीय जनताका बड़ा उपकार किया और भारत जन-जीवन, जीवन-दर्शन और उदासीन-वृत्ति सबका मधुर तथा श्लाघनीय समन्वय करके लोक-कल्याण-का मार्ग प्रशस्त किया।

भारतीय जीवन-दर्शनमें वर्णाश्रम-व्यवस्था और आश्रमाचार भली प्रकार समझे विना यह तथ्य स्पष्ट नहीं हो सकता कि श्रौत पद्धतिके अनुसार जो संन्यास-धर्म या उदासीन वृत्ति ग्रहण करनेकी परिपाटी थी वह केवल एकान्तवासके द्वारा आत्म-मुक्ति मात्रमें परिणति नहीं थी वरन् उसका लक्ष्य यही था कि संसारसे पूर्णतः विरक्त होनेके पश्चात् भी विदेह-वृत्तिसे पद्मपत्रमिवाम्भसा (जलमें कमलके पत्तेके समान) निर्लिप्त होकर संसार-प्रपञ्चसे उदासीन होकर इस भावसे लोक-मङ्गलकी सिद्धि करता रहे—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्॥

[न मैं राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मुक्ति चाहता हूँ। मैं यही चाहता हूँ कि मैं निरन्तर दुःख-संतप्त प्राणियोंके दुःख दूर करता रहूँ।]

यही वास्तविक उदासीन वृत्ति है जिसे उदासीन सम्प्रदायने अपने कर्त्तव्यके रूपमें प्रारम्भसे ही अङ्गीकार कर लिया था।

चतुर्थ प्रकरण



प्रणव

उदासीन सम्प्रदायके आचार्य अपनी परम्पराका प्रारम्भ ओम् (ॐ) या प्रणवसे मानते हैं। योगसूत्रकारने कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

[प्रणव (ओम्) कहनेका अर्थ है ईश्वर, अर्थात् ॐ या प्रणवसे ईश्वरका बोध होता है।] सर्वप्रथम शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिन शाखामें प्रणव शब्दका उल्लेख मिलता है—

प्रणवैः शास्त्राणां रूपं पयसा सोमऽआप्यते । (१६।२५)

ओमुप्रतिष्ठ (२।१३)

इसके पश्चात् कृष्ण यजुर्वेद आदिके संहिता भागमें ॐ या प्रणवका और भी विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि वेदमें प्राचीन कालसे प्रणवका प्रयोग होता रहा है और इसे सर्वोच्च सम्मान भी प्राप्त होता रहा है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने अपने लिये कहा है—

प्रणवश्छन्दसामपि ।

[वैदिक वाङ्मयमें मैं प्रणव या ओङ्कार हूँ।]

यद्यपि ॐ शब्द ईश्वरवाची है और इसी अर्थमें वैदिक

साहित्यमेंप्रयुक्त भी हुआ है तथापि वैदिक साहित्यमें इसके अतिरिक्त भी ओम्‌शब्दके निम्नांकित अर्थ प्राप्त होते हैं—

१. सेतु (अथर्ववेद ६।१०, ८।४); २. मन (छान्दोग्य०); ३. कार्य (छान्दोग्य०); ४. रस (मैत्री उप० २।६०); ५. तारा (श्वेताश्वतर २।८); ६. उद्‌गीथ (छान्दोग्य० १।१); ७. श्वास (छान्दोग्य० ७।२); ८. अग्नि; ९. तेज (मैत्री उप०) १०. ज्योति (मैत्री उप० ६।२५); ११. वाक्य; १२. शब्द (छान्दोग्य० २।२३); १३. रस (तैत्तिरीय उप० २।७); १४. जल (मैत्री उप० ६।३५); १५. मिथुन (छान्दोग्य० १।६); १६. ज्ञेय (योग०) १७. यूप (प्राणाग्निहोत्र उप०); १८. सर्व; १९. आरम्भ; २०. स्वीकार-वाक्य; २१. अनुमति; २२. अपाकृति; २३. अस्वीकार।

प्रणवका महत्त्व

ब्रह्मका महत्त्व व्यक्त करनेके लिये ॐ शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें किया गया है। विभिन्न उपनिषदोंमें अत्यन्त श्रद्धा तथा उदात्त आदर भावनाके साथ ॐ का उल्लेख और व्याख्यान किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद्‌में कहा गया है—

ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत।
ओमिति ह्युद्‌गायति तस्योपव्याख्यानम्॥ [छान्दोग्य० ३।१।१]

ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथः तद्वा एतन्मिथुनं :वागेवर्क् प्राणः साम यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च। [छान्दोग्य० ३।१।५]

[अक्षर-स्वरूप उद्‌गीथ ओम्‌की ही उपासना करनी चाहिए क्योंकि ओम् अक्षरसे ही आरम्भ करके साम आदि गाए जाते हैं। इसलिये ओंकार ही उद्‌गीथ है और उस ओंकारकी व्याख्या करना सबका कर्त्तव्य है।]

इसीकी व्याख्या करते हुए आगे छान्दोग्य उपनिषद्‌में ही कहा गया है—[वाक्य ही ऋक्, प्राण ही साम और ओम् अक्षर ही उद्‌गीथ है।] आगे चलकर छान्दोग्य उपनिषद्‌में ही कहा गया है—

आपश्चिता वै कामानां भवति य एतदेव विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते। (छान्दोग्य० २ । १ । ७

[जो विद्वान् व्यक्ति ओंकारकी उपासना करता है वह जब भी जो कुछ चाहता है वही फल प्राप्त कर लेता है ।]

तैत्तिरीय उपनिषद् (८ । १) में लिखा है—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह। ब्रह्मोपाप्नुवानिति ब्रह्मैवोपाप्नोति। [८ । १]

[ओंकार ही ब्रह्म है। इस संसारमें जो कुछ है सब ओंकार ही है। सभी कार्योंके प्रारम्भमें ओंकारका उच्चारण और प्रयोग करना चाहिए। किसी भी वैदिक विषयका प्रवचन करनेसे पूर्व ओंकारका उच्चारण करना आवश्यक है। ओंकारका स्मरण करके ही साम-गान किया जाता है। शास्त्र पढ़नेसे पूर्व भी ओम् शोम् शब्दका प्रयोग किया जाता है। अध्वर्युको भी मन्त्र पढ़ते समय पहले ओम्का उच्चारण कर लेना चाहिए। किसी भी प्रकारके ब्रह्मकर्मसे पूर्व ओम् शब्द बोलना ही चाहिए। अग्निहोत्र और यज्ञ आदि सब कुछ ओम्के उच्चारणसे ही प्रारम्भ किए जाते हैं। ओंकारका उच्चारण करके वेदका अध्ययन करनेसे वेद-विद्या और ब्रह्म-विद्या दोनों ही सुगमताके साथ प्राप्त हो जाती हैं।]

प्रश्नोपनिषद्ने स्पष्ट कहा है—

परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥ स यद्येकमात्रमभिध्यायीत, स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥ अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते ॥

सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥ ४ ॥ यः पुनरेतत् त्रिमात्रेणैवोमित्येते नैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥ तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥ ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत् कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतने नान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति ॥ ७ ॥

[ओंकारही पर और अपर ब्रह्म है। सभी विद्वान् लोग इस ओंकारकी उपासना करके पर और अपर ब्रह्मकी अनुभूति करते हैं। जो व्यक्ति एक मात्रावाले ओंकारकी उपासना करता है वह अत्यन्त शीघ्रताके साथ पृथ्वीपर जन्म प्राप्त करता है। ओंकारकी प्रथम मात्रा ऋग्वेद-स्वरूपिणी है। यह प्रथम मात्रा ही उपासकको मनुष्य-लोक दिलानेमें सहायक होती है। मनुष्य-लोकमें पहुँचकर वह उपासक ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धाके साथ अनेक प्रकारकी महिमाका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। जो व्यक्ति द्विमात्रा-वाले ओंकारकी उपासना करता है वह यजुर्वेद-स्वरूपिणी द्विमात्राके द्वारा अन्तरिक्ष-लोकमें पहुँच जाता है और फिर सोम-लोकमें अनेक प्रकारकी विभूतियाँ प्राप्त करके इह-लोकको चला आता है। जो व्यक्ति त्रिमात्रावाले ओंकारका ध्यान करता है वह सूर्यका तेज प्राप्त कर लेता है और जैसे सर्प अपनी केंचुली छोड़कर कष्टसे मुक्त हो जाता है उसी प्रकार उपासक भी साम-रूप ओंकारके द्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचकर सम्पूर्ण जीवोंसे युक्त हिरण्यगर्भसे भी अधिक महिमाशाली और तेजःपूर्ण सब शरीरोंमें व्याप्त परब्रह्मका साक्षात् अनुभव कर सकता है। उसी ओंकारकी मूर्तिमती तीन मात्राएँ अकार, उकार और मकार हैं। ये तीनों मात्राएँ निरन्तर परमात्मके ध्यानकी क्रियामें लगी रहती हैं। इन तीनों मात्राओंका परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ

सम्वन्ध है। उन तीनोंका प्रयोग एक ही विषयमें होता है। वे कभी एक दूसरेसे अलग नहीं रहती हैं। जो व्यक्ति वाह्य, अभ्यन्तर और मध्य क्रियामें ठीक प्रकार इनका प्रयोग करता है वह कभी विचलित नहीं होता। कोई भी ज्ञानी ऋक्-स्वरूप प्रथम मात्राके द्वारा मनुष्य-लोकको, यजुःस्वरूप द्वितीय मात्राके द्वारा ब्रह्म-लोकको, साम-स्वरूप तृतीय मात्राके द्वारा ब्रह्मलोकको और ओंकारके द्वारा जरामृत्युविहीन शान्त परब्रह्म-पदको प्राप्त कर लेता है।]

माण्डूक्योपनिषद्में लिखा है कि—

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।"

"सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।"

[माण्डूक्योपनिषत्]

[यह सब जितना कुछ जीव-लोक और संसार हमें दृष्टिगोचर हो रहा है यह सब कुछ ब्रह्म ही है। हमारा जीव और आत्मा भी ब्रह्म ही है। इसी आत्माका अभिन्न ब्रह्म चार अंशोंमें विभक्त है। जैसे रस्सीको देखकर सर्पका भ्रम होता है और रस्सी सर्पका विवर्त बन जाती है और अद्वितीय ब्रह्म इस सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चका एक मात्र अधिष्ठान है वैसे ही ओंकार भी समस्त वाक्-प्रपञ्च अर्थात् वाणी मात्रका एक मात्र आधार है। वह ओंकार ब्रह्म-स्वरूप है क्योंकि ओंकार ब्रह्मका अभिधायक या बतानेवाला है। इसी ओंकारको सम्पूर्ण वाङ्मय मानकर उसकी उपासना करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है अर्थात् ओंकारकी उपासना करनेसे जब अन्तःकरण निष्कलुष हो जाता है तभी स्पष्ट रूपसे ब्रह्म समझमें आता है और समझमें आ जानेपर ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करनेमें विलम्ब नहीं होता। इस प्रकार हमारे सम्पूर्ण अतीत, भविष्यत् और वर्तमान सब ज्ञानका आधार ओंकार ही है।]

"सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादामात्रामात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति । ८ । जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः । प्रथमा मात्रा आप्तरादि मत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति यं एवं वेद । ९ । स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वा-द्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद । १० । सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रामितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद । ११ । अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद । १२ ।

[वह आत्मा अक्षरको अपने अधिकारमें करके समवस्थित है। फिर आत्माके पादस्वरूप अकार, उकार और मकारको अपने अधिकारमें करके वह अक्षर या ओंकार सदा समवस्थित रहता है। आत्माका चरण ही ओंकारकी मात्रा है। शरीरमें जिस स्थानसे प्राणीका जागरण होता है उसी स्थानसे वैश्वानर या अग्नि अर्थवाले शब्द अकारका उच्चारण होता है। यह अकार ही ओंकारकी प्रथम मात्रा है। जो व्यक्ति इस अकारको सर्वव्यापी एवं सर्व-आदि समझकर वैश्वानर या अग्निके रूपमें उसकी उपासना करता है वह समस्त अभीष्ट फल प्राप्त कर लेता है और सम्पूर्ण वाङ्मयका आदि या प्रारम्भ बन जाता है। उसी ओंकारकी द्वितीय मात्रा उकार है जो स्वप्न-स्थानमें तैजस-रूपिणी होकर समवस्थित है। जो व्यक्ति इसको समस्त उत्कर्ष और ज्ञानमय विश्वका मध्यस्थ समझकर तैजस दृष्टिके द्वारा इसकी उपासना करता है उसका ज्ञान बढ़ने लगता है, शत्रु और मित्र दोनों उसे समान जान पड़ने लगते हैं और उसके वंशमें कोई ब्रह्म-ज्ञानसे वञ्चित नहीं रह पाता है। प्राज्ञ नामक सुषुप्ति-स्थान ही इस ओंकारकी तृतीय मात्रा मकार है। मिति तथा अपीतिके द्वारा इस प्रकार मकार तथा प्राज्ञकी एक साथ उपासना करनेसे साधक इस सम्पूर्ण जगत्की प्रकृत अवस्थाको भली-भाँति जान और देख लेता है तथा ब्रह्म-स्वरूपमें लीन हो

जाता है। जो तुरीय ब्रह्म है वह किसी प्रकारके व्यवहारका विषय न होकर प्रपञ्च-विहीन और मङ्गलमय है। वही एकमेवाद्वितीयम् है और वही ओंकार-स्वरूप है। वह इस समस्त विश्वमें जीवात्मा-के भावसे विद्यमान और व्याप्त है। जो साधक उसका प्रकृत तत्त्व समझ ले वह अपने जीवात्माके द्वारा ही परमात्माके साथ मिल सकता है। यही कारण है कि उदासीन सम्प्रदायवाले महात्मा लोग प्रणव या ओंकारसे अपनी परम्परा मानते हैं।]

प्रणवका उच्चारण और स्वरूप

अथर्वशिराके मतानुसार

हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्तु सः॥

[अपने हृदयमें रहनेवाले आत्म-स्वरूपको ही तीन मात्रावाला प्रणव या अ-उ-म् कहते हैं।] इन्हीं हृदयमें स्थित पुरुषका उत्तर भाग ही ओंकार है। यह ओंकार सर्वव्यापी, अनन्त, तारक, शुक्ल, सूक्ष्म, विद्युत् और ब्रह्म है। जो ब्रह्म है वह एक है। वही रुद्र, वही ईशान और वही महेश्वर है। आगे चलकर अथर्वशिराने अथर्वशिखोपनिषदमें ओंकारके उच्चारणका निर्देश करते हुए कहा है—

अथ कस्मादुच्यते ओङ्कारः यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणान् ऊर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओङ्कारः। अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः।

अथर्व-शिखोपनिषद्में ओंकारके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है—

ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यम्। ओमित्ये-तदक्षरस्य पादश्चत्वारो देवश्चत्वारो वेदश्चत्वारः। चतुष्पादेतदक्षरं परं ब्रह्म पूर्वास्य मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिरृग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः। द्वितीयान्तरिक्षमुकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णु-रुद्रास्त्रिष्टुप् दक्षिणाग्निः। तृतीयो द्यौर्मकार स सामभिः सामवेदो

विष्णुरादित्याजगत्याहवनीयः । यावसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा लुप्तमकारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुते विराडेक ऋषिः ।

[सर्वप्रथम ओम् अक्षरका ध्यान करना चाहिए। इस अक्षरके चार चरण हैं। इन चार चरणोंसे युक्त अक्षर ही परब्रह्म है। इसकी अकार-स्वरूप प्रथम मात्रा पृथ्वी है क्योंकि यह ऋक् मंत्र-द्वारा उपलक्षित होती है इसलिये इसे ऋग्वेद कहते हैं। इसके देवता ब्रह्मा, वसु, गायत्री और गार्हपत्य हैं। इसका दूसरा चरण उकार ही अन्तरिक्ष है। यह यजुर्वेदके मंत्र-द्वारा उपलक्षित होता है इसलिये इसे यजुर्वेद कहते हैं। विष्णु, रुद्र, त्रिष्टुप् और दक्षिणाग्नि इसके देवता है। इसके तीसरे चरणमें दो मकार हैं। यह साम मंत्र-द्वारा उपलक्षित होता है। इसलिये इसका नाम साम है। विष्णु, आदित्य, जगती और आहवनीय इसके देवता हैं। ओंकारके अन्तमें जो अर्द्धमात्रा रहती है वही लुप्त मकार है। इसका विराम लुप्त हो जानेसे इसका रूप स्पष्ट नहीं समझ पड़ता। यह अथर्वण मंत्रके द्वारा संयोजित होता है इसलिये इस अथर्ववेद कहते हैं। संवर्तक अग्नि, वायु, विराट् और एकऋषि नामक अग्नि इसके देवता हैं।

ओंकारकी मात्राएँ

ओंकारके शिरोभागकी मात्रा अत्यन्त रमणीय, दीप्तिमान् और स्वप्रकाश है। ओंकारकी प्रथम मात्रा (अकार) रक्त वर्णकी है। इसमें निरन्तर ब्रह्माजी स्थित रहते हैं। वे ही इसके अधिष्ठातृ देवता भी हैं। ओंकारकी द्वितीय मात्रा (उकार) शुक्ल वर्णकी है। इसमें रुद्रका निवास है जो इसके अधिष्ठातृ देवता हैं। ओंकार-की तृतीय मात्रा (मकार) कृष्ण वर्णकी है जिसमें विष्णुका निवास है और जो उसके अधिष्ठाता भी हैं। लुप्त मकारकी चतुर्थ मात्रामें सब रंग विद्यमान हैं। इसमें विद्युत्का वास है और ईश्वर इसके अधिष्ठातृ देवता है। इस ओंकारके चार पद और चार मुख हैं। नाद-संज्ञक लुप्त मकार-रूपी अर्द्ध मात्रा ही इस

ओंकारकी चतुर्थ मात्रा है जिसे सूक्ष्म मात्रा कहते हैं। ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत भेदसे इसमें स्थूल मात्राएँ तीन प्रकारकी होती हैं। एक मात्रावाला ओम् ह्रस्व, दो मात्रावाला (ओम्-ओम्) होनेपर दीर्घ और तीन मात्रावाला (ओम् ओम् ओम्) प्लुत कहलाता है। इस ओंकारकी अत्यन्त अनुपम शान्त भाववाली स्वप्रकाश चतुर्थ मात्रा प्लुतके प्रयोगमें ही स्पष्ट अभिव्यक्त होती है। वह किसी शब्दके द्वारा समझाई नहीं जा सकती। केवल एक बार ओंकारका उच्चारण करनेसे यह ओंकार ध्वनि मनके साथ समस्त प्राणवायुके चक्रोंको भेदकर सुषुम्ना नाडीके द्वारा ऊर्ध्वदेश (सिर) में पहुँच जाती है। इसीसे इसे ओंकार कहते हैं।

प्रणव तत्त्व

समस्त प्राणवायुको नम्र करने और पूरक, कुम्भक तथा रेचकके द्वारा उसका प्रतिरोध करनेसे ही ओंकारको प्रणव कहते हैं। इस चार भागवाले ओंकारके प्रत्येक भागमें ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु और ईश्वरका वास है और इन चारों स्थानोंसे ही क्रमशः ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेदकी उत्पत्ति हुई है। ध्यानके समय अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रा इन चारों चरणोंको समान रूप प्रयुक्त करना चाहिए, किसीको छोड़ना नहीं चाहिए। इन चारों चरणोंसे युक्त ओंकारका ध्यान करनेसे चारोंके अधिष्ठाता देवता निश्चित रूपसे उपासकके सब दुःख और भय दूर कर देते हैं। विष्णुने असुरोंको जीतनेके लिये समात्रिक ओंकार-का ध्यान किया था और पितामह ब्रह्माने इस सृष्टिकी उत्पत्तिके लिये भी संयमपूर्वक इसी ओंकारका ध्यान किया था।

यह ओंकार ही इस समस्त सृष्टिका कर्त्ता है। इसी ओंकारात्मक परमेश्वरने ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र तथा यह पंचभूतात्मक प्रपञ्चका निर्माण किया था। वही एक मात्र इस समस्त सृष्टिका कर्त्ता, मङ्गलमय और सर्वशक्ति-सम्पन्न है। वही सब जीवोंके

हृदयमें एक भावसे अवस्थित है। उसीने इस अपरिच्छन्न आकाशका निर्माण किया है। इसी नादान्त प्रणवको ध्यानके समय मनमें स्मरण करते रहना चाहिए कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और शिव पाँचों देवता इसमें विद्यमान है। जो व्यक्ति इस पञ्च अवयववाले ओंकारका क्षण मात्र भी स्थिर चित्तसे ध्यान करता है वह सैकड़ों यज्ञोंका पुण्य प्राप्त कर लेता है। सब प्रकारके ज्ञान, योग और ध्यानके लिये यह मङ्गलमय ओंकार ही एक मात्र आधार है।

यदि कोई व्यक्ति सब वैदिक यज्ञ आदि छोड़कर केवल ओंकारका ही अध्ययन, मनन और ध्यान करे तो वह निश्चय ही आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जाय। इसीलिये ब्रह्मोपनिषद्में कहा गया है—

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्यन्निगूढवत्॥

(ब्रह्मोपनिषद्)

[आत्माको अरणि (निर्मन्थकाष्ठ) और प्रणवका उत्तरारणि (ऊपरवाली अरणि) बनाकर बार-बार ध्यान-रूपी मन्थनके द्वारा छिपी हुई वस्तुकी भाँति परमात्माका दर्शन करना चाहिए।]

प्रणवकी पहचान

ऊपर बताया जा चुका है कि ओंकार ही साधकको ब्रह्मतक पहुँचानेवाला एक मात्र उपाय है। इसीलिये ब्रह्मविद्योपनिषद्में ओंकारके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालं लयं तथा॥
तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः।
तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य च॥

ऋग्वेदो गार्हपत्यश्च पृथिवी ब्रह्म एव च ।
अकारस्य शरीरन्तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षञ्च दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
विष्णुश्च भगवान् देव उकारः परिकीर्तितः ॥
सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च ।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥
सूर्य - मण्डलमिवाभात्यकारः शङ्खमध्यगः ।
उकारश्चन्द्रसङ्काशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥
मकारश्चाग्निसङ्काशो विधूमो विद्युतोपमः ।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्नितेजसः ॥
शिखाभा दीप - सङ्काशा यस्मिन्न परिवर्तते ।
अर्धमात्रा तु सा ज्ञेया प्रणवस्योपरिस्थिता ॥
कांस्यघण्टा - निनादस्तु यथालीयति शान्तये ।
ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥

(ब्रह्मविद्योपनिषत्)

[ब्रह्मवादी लोग जिस ओम्‌को ब्रह्म बताते हैं उसका शरीर, स्थान, काल और लय समझिए। इस मङ्गलमय ओंकारके तीन देवता, तीन लोक; तीन वेद, तीन अग्नि और साढ़े तीन मात्राएँ हैं। ऋग्वेद, गार्हपत्याग्नि, पृथ्वी और ब्रह्माको ब्रह्मवादियों-ने ओंकारके अकारका शरीर बताया है। यजुर्वेद, अन्तरिक्ष, दक्षिणाग्नि और भगवान् विष्णुको ओंकारके उकारका शरीर बताया है। सामवेद, स्वर्ग, आहवनीय और ईश्वरको ओंकारके मकारका शरीर बताया है। सूर्य-मण्डलके समान दीप्तिमान् अकार शब्दके बीच चन्द्रमाके समान दीप्तिमान् उकार विद्यमान है। धूम-रहित, अत्यन्त दीप्तिशाली अग्नि एवं बिजलीके समान मकार शोभायमान है। इस प्रकार ओंकारकी तीनों मात्राएँ क्रमशः चन्द्र, सूर्य और अग्निके समान तेज-सम्पन्न हैं। इसलिये इसमें दीपककी लौके समान प्रकाशकी लौ और चमक सदा विराजमान रहती है। ओंकारके ऊपरके भागमें निवास करनेवाली

शक्तिको अर्द्धमात्रा कहते हैं। काँसे और घण्टेकी ध्वनिके समान ओंकारका उच्चारण करनेसे चित्तमें अवश्य शान्ति प्राप्त होती है। इसलिये किसी प्रकारका भी इच्छित फल प्राप्त करनेवालेको सदा ओंकारका उच्चारण करना चाहिए।]

ओंकारको उत्पत्ति

लिङ्ग पुराणमें ओंकारकी उत्पत्तिका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

किसी समय भगवान् विष्णु प्रलयके पश्चात् क्षीरसागरमें शेष शय्यापर सोए हुए थे। ब्रह्माजीने उनके पास जाकर उन्हें जगा दिया। विष्णुने जागकर हँसते हुए उनसे पूछा—'कहो वत्स! सब कुशल-मङ्गल तो है न।' यह सम्बोधन ब्रह्माजीको बुरा लगा और उन्होंने कहा कि मैं सृष्टि-स्थिति-प्रलय करनेवाला हूँ फिर आप मुझे 'वत्स' कहकर क्यों पुकारते हैं। इस प्रकार उनमें परस्पर झड़प होने लगी। इसी बीच दोनोंके सम्मुख एक अद्‌भुत ज्योतिमय लिंग आविर्भूत हो गया। अब तो दोनों अपना कलह छोड़कर इस ज्योतिर्लिंगका मूल देखनेके लिये व्यग्र हो उठे। विष्णुने वराहका रूप धारण करके नीचेकी ओर प्रस्थान किया और ब्रह्माने हंसका रूप धारण करके ऊपरको गमन किया किन्तु इनमेंसे कोई भी उसका मूल न जान सके। तब दोनों ही उस ज्योतिर्लिंगको प्रणाम करके खड़े हो गए। इतनेमें दोनोंको प्लुत स्वरमें ओंकार (ओम्-ओम्-ओम्) ध्वनि सुनाई पड़ी।

वे इस महाशब्दके सम्बन्धमें सोचते-सोचते वे देखते क्या हैं कि ज्योतिर्लिंगके दक्षिणमें आद्य वर्ण अकार, उत्तरमें उकार, मध्यमें मकार और ऊपर नाद-बिन्दु विद्यमान है। उन सबके ऊपर इन सब वर्णोंका समूह ओंकार (ॐ) के रूपमें सुशोभित है। इनमेंसे दक्षिण दिशावाला अकार सूर्य-मण्डलके समान, उत्तरवाला उकार अग्निके समान और मध्यवर्ती मकार तो चन्द्र-मण्डलके समान प्रकाशमान है और इनके ऊपर दिखाई

पड़नेवाला ओंकार शुद्ध स्फटिकके समान तेज-सम्पन्न है क्योंकि वह तुरीय होनेके कारण गुणातीत, अमृतरूप, निष्कल, निरुपद्रव, द्वन्द्व-हीन, केवल, शून्य, वाह्याभ्यन्तर-रहित, आदि, मध्य और अन्त-रहित तथा आनन्दका कारण है। वह अकार, उकार और मकारकी तीन पूरी मात्राओं तथा नादकी अर्द्धमात्राके साथ अवस्थित है। यही शब्द-ब्रह्म है जिसे नाद-ब्रह्म भी कहते हैं। ऋक्, यजुः एवं साम नामक तीनों वेद अकार, उकार तथा मकारके रूपमें अवस्थित हैं। यही शब्द-ब्रह्म ही विश्वात्मा है। इसीके आविर्भावके पश्चात् इसीसे अतीन्द्रीय प्रकाशक वेदका प्रादुर्भाव हुआ जिससे इस सम्पूर्ण विश्वका मङ्गल होता है। इतना ही नहीं, विष्णु भी इसी ओंकारके द्वारा ही परमेश्वरको समझ पाए थे। यजुर्वेदने भी यही वताया है कि जो भगवान् रुद्र अचिन्त्य हैं उन्हें भी सदा इसी एकाक्षर प्रणव या ओम्से सम्बोधित किया जा सकता और जाना जा सकता है। इस एकाक्षर ओम् (ॐ) के द्वारा जाने जा सकनेवाले रुद्र ही परम कारण, अमृत-स्वरूप, सत्य-स्वरूप, ऋत-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप और परमात्म-ब्रह्म-स्वरूप है। इसी शब्द-ब्रह्म-रूपी एकाक्षरसे ही अकार-स्वरूप ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। इसी एकाक्षरसे उकार-स्वरूप विष्णु और मकार-स्वरुप रुद्रकी उत्पत्ति हुई। इस प्रणवमें अकार-स्वरूप ब्रह्मा तो सृष्टि-कर्त्ता हैं, उकार-स्वरूप विष्णु पालनकर्त्ता हैं और मकार-स्वरूप रुद्र इन दोनोंपर अनुग्रह करने-वाले हैं। इसमें अकार-स्वरूप ब्रह्मा बीज-स्वरूप हैं, उकार-रूपी विष्णु योनि-स्वरूप हैं और मकार-रूपी रुद्र निषेक-कर्त्ता हैं। इस प्रकार बीज, योनि, निषेक और शब्द-ब्रह्म-रूप चारों ही प्रणवात्मक हैं। यह शब्द-ब्रह्म-रूप ओंकार ही निषेक-कर्त्ता महेश्वरकी इच्छाके अनुसार अपनेको अलग अवस्थित किए हुए हैं। इसी शब्द-ब्रह्म-स्वरूप ईश्वरके लिंगसे अकार-स्वरूप बीजकी उत्पत्ति हुई। वही बीज फिर उकार-रूपी योनिमें पड़कर निरन्तर बढ़ने लगा। इसीमेंसे पीछे चलकर

स्वर्णांड उत्पन्न हुआ। सहस्रों वर्ष बीतनेपर महेश्वरकी इच्छाके अनुसार इसके दो खण्ड हो गए जिसमेंसे हिरण्यगर्भका जन्म हुआ। इस हिरण्यगर्भके ऊर्ध्व भागसे स्वर्ग और अधोभागसे पाताल बना। इस प्रणवके जिस अकार-रूपसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई वे ही इस सम्पूर्ण विश्वके सृष्टिकर्त्ता हैं और उन्होंने ही सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणोंके अनुसार तीन मूर्तियाँ धारण कर ली हैं।

[लिङ्गपुराण, अध्याय ७]

भगवान् मनुके मतानुसार—

अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहत् भूर्भुवस्वरिति त्रिधा ॥

[मनुस्मृति, २।७६]

[अकार, उकार और मकार तथा भूः, भुवः, स्वः इन तीन व्याहृतियोंको ब्रह्माने यथाक्रम तीन वेदोंसे ढूँढकर निकाला था।]

प्रणवका रूप

अक्षरनिघंटुमें भी प्रणवके रूपका परिचय देते हुए कहा गया है—

ओङ्कारो वर्तुलस्तारो विन्दुः शक्तिस्त्रिदेवताः।
प्रणवो मन्त्रगर्भश्च पंचदेवो ध्रुवः शिवः ॥
मन्त्राद्यं परमं वीजं मूलमाद्यश्च तारकः।
शिवादि व्यापको व्यक्तः परं ज्योतिश्च संविदः ॥

[ओंकारको वर्त्तुल, तारक, विन्दु, शक्ति, त्रिदेवता, प्रणव, मन्त्रगर्भ, पंचदेव, ध्रुव, शिव, आदि मंत्र, परम वीज, मूल, आद्य तारक, शिव आदि सबमें व्यापक, व्यक्त, परम, ज्योति और संविद समझना चाहिए।]

यह ओम् शब्द-रूपी मंत्र भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। गीतामें कहा गया है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मंणि तथा सच्छब्दः पार्थं युज्यते ॥

[गीता, १७।२३-२६]

[परब्रह्मके तीन नाम हैं—ओम्, तत् और सत् । इसीलिये ब्रह्मवादी लोग केवल ओंकारका उच्चारण करके यज्ञ, दान, तपस्या आदि सब क्रियाओंका सदा अनुष्ठान कर लिया करते हैं, मोक्ष चाहनेवाले साधक लोग तत् शब्दका उच्चारण करके फलकी आकांक्षासे रहित तप, यज्ञ और दान आदि कार्योंका अनुष्ठान कर लिया करते हैं और सत् शब्दका प्रयोग साधु-भाव व्यक्त करनेके लिये किया जाता है । इसके अतिरिक्त यज्ञ, तपस्या और दान आदि सभी प्रशस्त कार्योंमें सत् शब्दका प्रयोग होता है । इस प्रकार ओम् तत् सत् इस त्रिविध ब्रह्मका नामोच्चारण करनेसे सब कार्यं सिद्ध हो जाते हैं ।]

भगवान् कृष्णने ओंकारका महत्त्व बताते हुए गीतामें कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

[जो पुरुष ॐ के एकाक्षर ब्रह्मरूपी शब्दका उच्चारण करते हुए और मुझे स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है उसे परम गति प्राप्त होती है ।]

सिद्धिका मार्ग प्रणव

योगशास्त्रके मतानुसार ॐ मंत्र का जप न करनेसे योगीको सिद्धि नहीं प्राप्ति होती । इसी मंत्रका जप करनेसे परम करुणामय भगवान् अपने भक्तोंके चित्तमें एकाग्रता साधनेकी शक्ति देते हैं । योगसूत्रमें कहा गया है—

तज्जपस्तदर्थभावनम् । ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावाश्च ।

[इस प्रणवका जप करने तथा इसके अर्थकी भावना करनेसे ईश्वर-तत्त्वका साक्षात्कार होता है तथा व्याधि, अकर्मण्यता, संशय, अनवधानता, आलस्य, इन्द्रियोंकी प्रबलता आदि सब प्रकारके दोष दूर हो जाते हैं।]

प्रणवके जपकी विधि

भगवान् मनुने ओंकारके जपकी विधिका निर्देश करते हुए बताया है—

"प्राक्कुशान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ।।"

[मनु० २।७५]

[पहले कुछ कुशा रखकर, उसपर पूर्वकी ओर मुख करके बैठकर और दोनों हाथोंमें पवित्री धारण करके पवित्र हो जाना चाहिए और फिर तीन बार प्राणायाम करके शुद्ध हो जानेपर प्रणवका उच्चारण करना चाहिए।]

योगियोंकी प्रणव-जप-विधि

किन्तु योगी लोग जिस भावसे ओंकारका जप करते हैं वह इतना अधिक सरल नहीं है। वे तो पहले केवल अकारका जप करते हैं। फिर उसका पूर्ण अभ्यास हो जानेपर उकारका अभ्यास करते हैं और इसके पश्चात् मकारके उच्चारणका अभ्यास करते हैं।

प्रणवका चिन्तन

यह ओंकार ही योगियोंका प्रधान अवलम्ब है। योगशिखोपनिषद्में कहा गया है—

"ओं योगशिखां प्रवक्ष्यामि सर्वभावेषु चोत्तमाम् ।
यदा तु ध्यायते मन्त्रं गात्रकम्पोऽभिजायते ।।१।।

आसनं पद्मकं बध्वा यच्चान्यद्वापि रोचते ।
कुर्यान्नासाग्रदृष्टिञ्च हस्तौ पादौ च संयुतौ ॥२॥
मनः सर्वत्र संयम्य ओङ्कारं तत्र चिन्तयेत् ।
ध्यायते सततं प्राज्ञो हृत्कृत्वा परमेष्ठिनम् ॥३॥
[योगशिखोपनिषद्]

[मैं सर्वोत्तम योगशिखाका वर्णन करता हूँ । प्रणवका ध्यान करते समय शरीरमें कम्प होने लगता है । पद्मासन या अन्य कोई भी इच्छित आसन लगाकर, हाथ, पैर और मनको संयम-पूर्ण करके, हृदयमें परमेष्ठी देवताको अवस्थित करके प्राज्ञ लोग ॐकारका चिन्तन किया करते हैं ।]

परम पदकी प्राप्तिका साधन प्रणव

योगशिखोपनिषद्में ही आगे लिखा है—

त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रयः सन्ध्यास्त्रयः सुराः ।
त्रयोऽग्नयो गुणास्त्रीणि स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ॥
त्रयानामक्षरे प्राप्ते योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम् ।
तेन सर्वमिदं प्राप्तं लब्धं तत् परमं पदम् ॥
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्येऽस्ति सर्पिवत् ।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ॥
हृदिस्थाने स्थितं पद्मं तच्च पद्ममधोमुखम् ।
ऊर्ध्वनालमधोविन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः ॥
अकारे शोचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते ।
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं किञ्चित् सूर्यमरीचिवत् ।
लभते योगयुक्तात्मा पुरुषोत्तमतत्परः ॥

[तोन लोक; तीन वेद; तीन सन्ध्या, तीन देवता; तीन अग्नि और तीन गुण ये सभी तत्त्व ओंकारके तीन अक्षरोंमें सन्निविष्ट हैं । जो पुरुष इन तीनों अक्षरोंका पाठ करके इसके पश्चात् अर्द्ध अक्षर पढ़ता है उसे परम पद प्राप्त होता है । जैसे

पुष्पमें गन्ध, दुग्धमें घृत, तिलमें तेल और पत्थरमें स्वर्ण रहता है; उसी प्रकार हृदयमें नीचेकी ओर मुख और ऊपरकी ओर नालवाले पद्ममें मन रहता है। अकारके द्वारा सोचा हुआ यह पद्म उकारके द्वारा भिन्न होकर मकारमें शब्द-लाभ करता है। इसकी अर्द्धमात्रा निश्चल होती है। ईश्वरमें मन लगाए हुए योगी लोग इस प्रकार सूर्यकी किरणोंके समान शुद्ध स्फटिक-जैसे तत्त्वको प्राप्त कर लेते हैं।]

प्रणवका बोध

नाद-बिन्दु-उपनिषद्में कहा गया है—

ओं अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः।
मकारस्तस्य पुच्छं वा अर्द्धमात्रा शिरस्तथा॥
आग्नेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा वशानुगा॥
भानुमण्डल सङ्काशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा।
परमा चार्धमात्रा च वारुणीं तां विदुर्बुधाः॥
कलात्रयानना वापि तासां मात्रा प्रतिष्ठिता।
एष ओङ्कार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत॥

[नादबिन्दु उपनिषत्]

[ओंकारका अकार उसका दक्षिण पक्ष है; उकार उसका उत्तर पक्ष है, मकार उसकी पूँछ है और अर्द्ध मात्रा उसका मस्तक है। पंडित लोग इनमेंसे प्रथम मात्राको आग्नेयी, दूसरीको वायवी, तीसरीको भानुमंडल-समान और अर्द्धमात्राको वारुणी कहते हैं। इन मात्राओंके बीच कलात्रय-मुख-वाली मात्रा प्रतिष्ठित है। इन सबके समुदायको ओंकार कहते हैं जिसका बोध केवल धारणासे होता है।]

ओंकारकी साधना

अमृत-बिन्दु-उपनिषद्में इस ओंकारकी साधनाके विषयमें कहा गया है—

भूमिभागे समे रम्ये सर्वदोषविवर्जिते ।
कृत्वा मनोमयीं रक्षां जप्त्वा चैवाथ मण्डलम् ॥
पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा ।
बध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः ॥
नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम् ।
आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेवाभिचिन्तयेत् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येकेन रेचयेत् ।
दिव्यमन्त्रेण बहुशः कुर्यादात्ममलच्युतिम् ॥

[अमृतबिन्दु उपनिषत्]

[सब प्रकारके दोषोंसे रहित समतल भूमिपर मनोमयी रक्षाका विधान करके और मंडल बनाकर पद्मक, स्वस्तिक या भद्रासन नामक योगासन लगाकर उत्तरकी ओर मुँह करके एक उँगलीसे नाकका एक छेद बन्द करके दूसरे नासापुटसे वायुको ऊपर खींचते हुए 'अग्नि' शब्दका चिन्तन करना चाहिए । इसके पश्चात् एकाक्षर ब्रह्म-स्वरूप ओम् शब्दसे रेचकके द्वारा वायु निकालकर इस दिव्य मंत्रसे आत्म-शुद्धि करनी चाहिए ।]

प्राणायाम भी प्रणवमय

योगी-याज्ञवल्क्यमें लिखा हैं—

वर्णत्रयात्मिका ह्येते रेचकपूरककुम्भकाः ।
स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥

[योगी-याज्ञवल्क्य]

[रेचक (वायु निकालना), पूरक (वायु भरना) और कुम्भक (वायु रोके रखना), ये तीनों प्राणायामकी क्रियाएँ वर्णात्मक होती हैं । ये तीनों वर्णं मिलकर ही प्रणवात्मक या ओंकार-स्वरूप हो जाते हैं । इसीलिये प्रणायाम भी प्रणवमय ही होता है ।]

अक्षरमय ब्रह्म ओंकार

मार्कंण्डेय पुराणमें लिखा है—

अकारश्च तथोकारो मकारश्चाक्षरत्रयम् ।
एता एव त्रयो मात्राः सात्त्वराजसतामसाः ॥
निर्गुणा योगिगम्यान्या चार्धमात्रोर्ध्वसंस्थिताः ।
गान्धारीति च विज्ञेया गान्धारस्वरसंश्रया ।
पिपीलिका-गतिस्पर्शा प्रयुक्ता मूर्ध्नि लक्ष्यते ॥ ५
तथा प्रयुक्त ओङ्कारः प्रतिनिर्याति मूर्धनि ।
अथोङ्कारमयो योगी स्वक्षरे त्वक्षरो भवेत् ॥ ६
प्राणो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म वेध्यमनुत्तमम् ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ ७
ओमित्येतत् त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः ।
विष्णुर्ब्रह्मा हरश्चैव ऋक्सामानि यजूंषि च ॥ ८
मात्राः सार्धाश्च तिस्रश्च विज्ञेयाः परमार्थतः ।
तत्र युक्तस्तु यो योगी स तल्लयमवाप्नुयात् ॥ ९
अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारश्चोच्यते भुवः ।
सव्यंजनो मकारश्च स्वर्लोकः परिकल्प्यते ॥ १०
व्यक्ता तु प्रथमा मात्रा द्वितीयाऽव्यक्तसंज्ञिता ।
मात्रा तृतीया चिच्छक्तिरर्धमात्रा परं पदम् ॥ ११
अनेनैव क्रमेण ता विज्ञेया योगभूमयः ।
ओमित्युच्चारणात् सर्वं गृहीतं सदसद्भवेत् ॥ १२
ह्रस्वा तु प्रथमा मात्रा द्वितीया दैर्घ्यसंयुता ।
तृतीया च प्लुतार्धाख्या वचसः सा न गोचरा ॥ १३
इत्येतदक्षरं ब्रह्म परमोङ्कारसंज्ञितम् ॥

[मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ४२]

[अकार, उकार और मकार ये तीन अक्षर सात्त्विक, राजस, तथा तामस त्रिविध मात्रा-वाले हैं और इसमें निर्गुण, योगिगम्य अर्द्धमात्रा भी समवस्थित है। गान्धार स्वरका आश्रय लेनेपर उसका नाम गान्धारी पड़ जाता है। जब यह स्वर मस्तकपर पहुँचता है तो साधकको ऐसा प्रतीत होता है मानो मस्तकके भीतर चींटियाँ चल रही हों। ओंकारका प्रयोग करनेसे

वह सिरमें गूँज उठता है और योगी उस अक्षरमें स्वयं अक्षर बन जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राण तो धनुष-स्वरूपवाला है, आत्मा बाण-स्वरूपवाला है और ब्रह्म ही लक्ष्य-स्वरूपवाला होता है। जब साधक सावधान होकर बाणके समान उसे बेध लेता है तब वह ब्रह्ममय हो जाता है। ओम् शब्दसे तीनों वेद, तीनों लोक, तीनों अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तथा ऋक्, साम और यजुः सबके स्वरूपका बोध होता है। इसकी साढ़े तीन मात्राओंको जो मिला लेता है, वह तत्काल ब्रह्ममें लीन हो जाता है। इस ओंकारका अकार ही भूलोक है; उकार ही भुवर्लोक है और व्यंजन-सहित मकार ही स्वर्लोक है। इनमेंसे अकार व्यक्त है, उकार अव्यक्त है, मकार चित्-शक्ति है और अर्द्ध मात्रा ही पद है। इस प्रकार ओंकार ही सब लोकोंकी भूमिका है। ओम् शब्दके उच्चारणसे ही असत् भी सत् बन जाता है। इसकी पहली मात्रा ह्रस्व, दूसरी दीर्घ, तीसरी प्लुत और अर्द्ध मात्रा वाणी-द्वारा अव्यक्त होती है। इसी अक्षरमय ब्रह्मका नाम ओंकार है।]

प्रणवकी तीन शक्तियाँ

गोरक्ष-संहितामें कहा गया है—

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी च वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता लोके तत्परं शक्तिरोमिति ॥

[गोरक्षसंहिता]

[आधार शक्ति-स्वरूप प्रणवसे तीन शक्तियाँ उत्पन्न हुई— इच्छा, क्रिया और ज्ञान। इनमें इच्छा-शक्ति ही गौरी है जो तमोगुणके अनुसार महेश्वरके साथ रहती है। क्रिया-शक्ति ही ब्राह्मी है जो रजोगुणके अनुसार ब्रह्माके साथ सृष्टि उत्पन्न करती है और ज्ञान-शक्ति ही वैष्णवी शक्ति है जो सत्त्व-गुणके अनुसार विष्णुके साथ रहती है।]

इस विवरणसे स्पष्ट है कि ओंकार हमारे सम्पूर्ण भारतीय

ज्ञान-विज्ञान, परमार्थ, धर्मशास्त्र, योग, मोक्ष-साधन, सबकी आधार भित्ति और सबका मूल भूत कारण या स्रष्टा है इसीलिये उदासीन सम्प्रदायवाले इसी ओम्से अपनी वरिष्ठ परम्पराका प्रारम्भ मानते आए हैं।

बौद्धोंमें प्रणवका प्रयोग

केवल सनातन-धर्म या भारतीय धर्मके अनुसार ही नहीं, वरन् बौद्ध धर्ममें भी ओम् शब्दका व्यवहार होता रहा है। तिब्बत और भूटानके बौद्ध लोग अपने सब धर्म-कर्मोंमें ओम् हन् हुम्का उच्चारण करते हुए ओम्का प्रयोग करते हैं। वहाँके बहुतसे घरोंकी छतोंपर ये तीनों शब्द खुदे रहते हैं और वे समझते हैं कि ये तीनों शब्द बुद्ध, धर्म और संघका अर्थ देते हैं। कभी-कभी बौद्ध लोग 'ओम् मणिपद्मे हुं' का भी जप करते हैं।

यूनान और मिस्रमें त्रिरूप

केवल भारत और त्रिविष्टप (तिब्बत) में ही नहीं, मिस्रमें भी 'आमौन् रा, आमौन् निउ और सिवेक रा' ये तीन शब्द ब्रह्मा, विष्णु और शिव अर्थात् सृष्टिकर्त्ता, पालन-कर्त्ता और ईश्वरवाची माने जाते थे और इन तीनों शब्दोंका वहाँ जप भी होता था। इन्हीं तीनोंकी मूर्तियाँ प्राचीन यूनानियों और रोमवालोंने जुपितर, नेप्चून और प्लूतोके नामसे प्रतिष्ठित कर रक्खी थीं।

हमारे यहाँ साधकों और शास्त्रकारोंने विश्वमें प्रत्यक्ष रूपसे व्याप्त सृष्टि, पालन और संहारकी तीन क्रियाओंकी अधिष्टातृ-शक्तियोंको अकार, उकार, मकार तथा अर्द्धमात्रावाले ओंकारकी ध्वनिमें ही आबद्ध कर दिया था और इस प्रकार साधकके लिये उसका जप और उसकी साधना सरल कर दी थी। यही कारण है कि सनातन-धर्म-पद्धतिकी उदात्त परम्पराका पालन करनेवाले पञ्चदेवोपासक उदासीन तपस्वी-जनोंने ओंकार या प्रणवसे ही अपनी उदात्त परम्पराका सम्बन्ध बनाए रक्खा है।

पञ्चम प्रकरण

ईश्वर

उदासीन परम्परामें ओंकार (ॐ) अर्थात् प्रणवके पश्चात् ईश्वरको स्मरण किया जाता है। स्कन्द-पुराणमें भगवान्ने कहा है—

ईश एवाहमित्यर्थं न च मामीशते परे।
ददामि च सदैश्वर्यं ईश्वरस्तेन कीर्त्यंते॥

[मैं ही सबका नियंत्रण करनेवाला हूँ, मुझपर नियंत्रण करनेवाला कोई नहीं है। मैं सदा ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला हूँ इसीलिये मुझे लोग ईश्वर कहते हैं।]

कौपीतकी ब्राह्मणोपनिषत्में बताया गया है कि इन्द्र ही प्राण हैं और वे ही प्रत्यज्ञात्मा हैं। उन्हींका ध्यान करनेसे अक्षय और अमर स्वर्ग प्राप्त होता है।

साम-संहितामें ईश्वर-तत्त्वकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

यद् द्याव इन्द्र ते शत ँ शत भूमि रुतस्यूः।
न त्वा वज्रिन् सहस्र ँ सूर्या अनु न जात मष्ट रोदसी॥

[साम-संहिता, १।३।२।४।६।]

[हे इन्द्र ! यदि समस्त द्युलोक और समस्त पृथ्वी भी शतगुणित हो जायँ तो भी वे आपसे बाहर नहीं हो सकतीं । सहस्रों सूर्य भी आपका अनुभव नहीं कर सकते । इतना ही नहीं, द्यावा-पृथ्वी भी आपसे बाहर नहीं निकल सकती ।]

उसी साम-संहितामें कहा गया है—

इन्द्र क्रतुन्न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षायो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

[साम-संहिता, १।६।२।२।७]

[हे इन्द्र ! आप हमें आत्म-विषयक ज्ञान-ध्यान उसी प्रकार प्रदान कीजिए जैसे पिता अपने पुत्रोंको विद्या और धन प्रदान करता है जिससे कि हम परब्रह्ममें लीन होकर परम ज्योतिकी सेवा करें ।]

जिस प्रकार साम-संहितामें इन्द्रको ईश्वर माना गया उसी प्रकार अथर्व-संहितामें कालको ही ईश्वर बताया गया है—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥१॥

कालो भूमिमसृजत् काले तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥
काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥

[अथर्व-संहिता, १९।५६ सू०]

[इन्द्र, ब्रह्मा और सूर्य, सब काल-रूपी घोड़ेपर चलते हैं । विचक्षण कवि उस काल-रूपी घोड़ेपर चढ़ते हैं जिसके रथके पहिए ये सभी विश्व हैं । कालने ही भूमि उत्पन्न की, कालमें ही सूर्य तपता है, कालमें ही सारे विश्व और प्राणी हैं, कालमें ही आँखें देखती हैं, कालमें ही मन, प्राण, नाम आदि हैं, आया हुआ काल ही इस संपूर्ण प्रजाको आनन्द और सुख देता है ।]

ज्ञानकाण्डका प्रचार करते समय ही वैदिक ऋषियोंने निर्धारित कर दिया कि ईश्वर सर्वव्यापी है और इन्द्र तथा ओम् आदि देववाची शब्द सब उसीके नाम-मात्र हैं—

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
[ऋक्० १०।११४।५]

कठवल्लीमें इसी परमतत्त्वको समझाते हुए कहा गया है—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
[कठवल्ली, ३।११]

[महत्तत्त्वसे पृथ्वीका आदि बीज सूक्ष्म है और पृथ्वीके आदि बीजसे परमात्मा सूक्ष्म है, किन्तु उस पुरुषकी अपेक्षा कुछ भी सूक्ष्म नहीं।] उसी कठवल्ली (२।१८) में बताया गया है—

न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

[उस परम पुरुषका न जन्म होता है और न मरण होता है। वह ज्ञान-स्वरूप है। उसकी उत्पत्ति किसी भी कारणसे नहीं होती। वह स्वयं भी अपना कारण नहीं है। वह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है। शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उसका नाश नहीं होता।]

मुण्डकोपनिषद्में बताया गया है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥
[मुंडकोपनिषद्, २।१।३]

[इसी पुरुषसे प्राण, मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्वको धारण करनेवाली इस पृथ्वीका जन्म हुआ है।]

ईश्वरका स्वरूप

इस ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद्में ही कहा गया है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

[मुंडकोपनिषत् २।१।४]

[अग्नि ही इस सूर्यका मस्तक है, चन्द्र और सूर्य ही इसके दोनों नेत्र हैं। सब दिशाएँ इसके कान हैं, वेद ही इसकी वाणी है, वायु ही इसके प्राण हैं, विश्व ही इसका हृदय है, पृथ्वी ही इस ईश्वरका चरण है और वही सब प्राणियोंका प्राण है।]

ईश्वरका दर्शन

इस विराट् ईश्वरका जो यह स्वरूप निरूपित हुआ है उसका तात्पर्य यही है कि आत्मा ही ईश्वर है परन्तु इस ईश्वरको सब देख नहीं सकते। कठोपनिषद्के अनुसार—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

[कठोपनिषत्, ३।१२]

[यह ईश्वर सब प्राणियोंमें छिपा हुआ वह आत्म है जो दिखाई नहीं देता। केवल सूक्ष्मदर्शीकी सूक्ष्म बुद्धिसे ही उसका दर्शन हो सकता है।]

उर्दूके एक कविने इसी तत्त्वको बड़े भावुकतापूर्ण शब्दोंमें कहा है—

यह बज़्मे तमाशा भी क्या बज़्मे तमाशा है ।
जो जल्वा है परदा है जो परदा है जल्वा है ॥

[यह सृष्टि-प्रपंचका खेल भी क्या खेल है कि जो दिखाई पड़ता है वह रहस्य है और जो रहस्य है वह प्रकाशमान है, सृष्टिके रूपमें दिखाई पड़ रहा है।]

कठोपनिषद्में बताया गया है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति स मनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भयो न जायते ॥

[कठोपनिषत्, ३।८]

[जिस पुरुषका बुद्धि-रूपी चतुर सारथि मन-रूपी वल्गा (लगाम या रास) अपने वशमें रखता है और जो सदा सत्कर्म करता है वही ईश्वरको प्राप्त कर सकता है। वह परम पद मिल जानेके पश्चात् फिर उसका जन्म नहीं होता।]

ईश्वरकी अगोचरता

ईश्वरके अगोचर होनेके कारण अनेक ऋषियोंने ईश्वरके सम्बन्धमें विभिन्न मत प्रतिपादित किए हैं। सांख्यसूत्र (१।९२) में कपिल मुनिने स्थिर किया है कि ईश्वरका अस्तित्व प्रमाणित ही नहीं होता (ईश्वरासिद्धेः।)। योग-सूत्रमें पतंजलिने कहा है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

[योगसूत्र १।२४]

[क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय जिसे छू नहीं सकता और जो भूत, भविष्य और वर्तमान त्रिकालसे भिन्न तथा आत्मासे भी स्वतंत्र रहता है वही ईश्वर है।]

उसी योगसूत्रमें आगे बताया गया है कि सर्वोत्तम ज्ञानमय होनेके कारण ईश्वर सर्वज्ञ है—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम् ।

वह आदि सृष्टि-कर्त्ताओंका भी गुरु है और किसी काल-द्वारा वह अविच्छिन्न (संयुक्त) नहीं होता—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

प्रणव ही उसका बोधक है—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

इस प्रकार योग-सूत्रमें प्रणव अर्थात् ओंकार और ईश्वरको एक ही मान लिया गया है।

कणाद ऋषिने ईश्वर या पुरुष नामसे किसीका अस्तित्व नहीं माना। इसीलिये बहुतसे लोग भ्रमवश उन्हें नास्तिक कहते हैं। किन्तु उन्होंने भी अपने वैशेषिक दर्शनमें अदृष्टका अस्तित्व स्वीकार करते हुए बताया है कि वृक्षसे जो रसका संचार होता है उसका कारण अदृष्ट ही है—

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्।

[वैशेषिक, ५।२।१७]

इसी प्रकार—

असर्पणमुपसर्पणमशितपीत - संयोगाः।
कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥

[अपसर्पण (आगे बढ़ना), उपसर्पण (पीछे चलना) तथा खाई और पीई हुई वस्तुका संयोग अदृष्टसे उत्पन्न होता है।] इसी प्रकार उन्होंने अन्य अनेक वस्तुओंका कारण भी अदृष्टको ही माना है।] उनका अदृष्ट ही ईश्वर है। उनके मतके अनुसार अदृष्ट कारणसे ही परमाणुओंके समूहका संयोग हो जानेसे यह ब्रह्माण्ड बना है।

महर्षि गौतमने अपने न्याय-सूत्रमें लिखा है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।

[न्यायसूत्र ४।१।१९]

[ईश्वर ही सारी सृष्टिका कारण है क्योंकि मनुष्यका किया हुआ काम सदा सफल नहीं होता।]

गौतमके मतानुसार ईश्वरमें नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य यत्न आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। वह इस संसारका केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं।

जैमिनि ऋषिने पूर्व मीमांसामें बताया है कि वैदिक कर्मके अनुष्ठानसे ही पुरुषार्थ प्राप्त हो सकता है। उन्होंने भी ब्रह्मका अस्तित्व स्वीकार किया है—

ब्रह्मापीति चेत्।

[पूर्व मीमांसा १२।१।३६]

महर्षि बादरायणने अपने वेदान्त-सूत्रमें अत्यन्त विस्तारके साथ उपनिषदोंका तत्त्व निचोड़कर ईश्वर-तत्त्वकी मीमांसा करते हुए बताया है—

जन्माद्यस्य यतः ।

[वेदान्तसूत्र १।१।२]

[जिससे जन्म स्थिति, और नाश होते हैं, वही ब्रह्म है ।]
श्रुतिके अनुसार—

श्रुतत्वाश्च

[१।१।१२]

सर्वज्ञ ईश्वर ही जगत्का कारण है । उन्होंने यह भी कहा है कि ब्रह्ममें तो जीवका धर्म मिट जाता है किन्तु जीवमें ब्रह्मका धर्म नहीं रह सकता ।

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।

[१।२।३]

ईश्वरके सम्बन्धमें सबसे सुन्दर, स्पष्ट और युक्तिपरक विवेचन श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने किया है । उन्होंने गीतामें सांख्यके प्रधान, योगके ईश्वर, वैशेषिकके परमाणु, न्यायके कारण और मीमांसाके ब्रह्म सबको ईश्वर मान लिया है । उन्होंने समझाया है कि वेद-द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड और उपनिषद्-द्वारा प्रतिपादित ज्ञानकाण्ड दोनोंसे ईश्वर और मोक्षकी प्राप्ति सम्भव है । गीताके चतुर्थ अध्यायमें इसीकी विवेचना करते हुए बताया गया है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
यदृच्छा लाभ-सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

[गीता, ४।२०-२४]

[जो व्यक्ति कर्म-फलकी आसक्ति छोड़कर चिरतृप्त और सबके आश्रयसे दूर रहता है वह सब कर्मोंमें प्रवृत्त होनेपर भी कुछ नहीं करता। जो व्यक्ति सब प्रकारकी कामनाएँ और सब परिग्रहोंको छोड़कर अपने आत्मा तथा मनको शुद्ध रखता है वह केवल शरीरके द्वारा कर्म करनेपर भी पापका भागी नहीं होता। जो व्यक्ति जितना पा जाय उसीमें संतुष्ट रहता है, शीत और उष्ण, सुख और दुःख सबको समान समझता है, मित्र और शत्रु, शुद्धि और अशुद्धि दोनोंको बराबर समझता है वह कर्म करते हुए भी किसी बन्धनमें नहीं पड़ता। जो व्यक्ति सब कामनाएँ छोड़कर, राग आदिसे मुक्त होकर, चित्तमें ज्ञानको अवस्थित कर लेता है, वह यदि यज्ञके लिये कर्म करता भी रहे तो भी उसके सारे कर्म विलुप्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति ब्रह्मको ही पात्र, उसीको हवनीय, उसीको अग्नि और उसीको होता मानता है और जो ब्रह्म-कर्मकी समाधि लगाता है उसीको ब्रह्म प्राप्त होता है।]

इस प्रकार गीतामें ज्ञान और कर्म दोनोंका भली भाँति समन्वय करते हुए ब्रह्म और ईश्वरको एक ही माना है। गीतामें कहा गया है—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

[गीता, ८।३]

[अज, अक्षय और जगत्का मूल कारण ही ब्रह्म है।] वह जन्म-रहित, अनश्वर और सबका ईश्वर होते हुए भी कर्मके अनुसार सब प्राणियोंका सर्जन करता हुआ भी अपनी उस

सृष्टिसे स्वयं प्रभावित नहीं होता।] माया ही उसका सहारा लेकर इस चराचर विश्वको उत्पन्न करती है। इसी ईश्वरके अधिष्ठानके निमित्त ही यह जगत् बार-बार उत्पन्न होता है।

गीताके नवें अध्यायमें बताया गया है कि ईश्वरको जो जिस भावसे स्मरण करता है वह उसी भावसे उसे प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र और स्त्री सब कोई इस परम पुरुषका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार गीतामें ईश्वर-तत्त्वकी बड़ी विशद व्याख्या और स्थापना की गई है।

पुराणोंमें ईश्वर

पुराणोंमें तो स्पष्ट रूपसे ईश्वरको पुरुष माना है और उन्होंने ब्रह्म और ईश्वरमें कोई भेद नहीं किया है। इसी प्रकार तन्त्रोंमें भी ईश्वरका अस्तित्व माना गया है और उसे आकर्षण-शक्तिकी संज्ञा दी गई। [वाराही तंत्र छठा पटल]

नास्तिक चार्वाकने ईश्वरका अस्तित्व नहीं माना। वह चैतन्य-विशिष्ट देहको ही आत्मा मानता है।

जैनोंका ईश्वर

जैनोंने अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि गुणोंसे युक्त आत्माको ही ईश्वर माना है। उनका कहना है कि जिस समय यह जीव अपने तप और ध्यानके प्रभावसे अपने कर्मोंको नष्ट कर डालता है उस समय वह सर्वज्ञता आदि गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है और उसी समयसे ईश्वर कहलाने लगता है। फलतः, उनके अनुसार जितने आत्माओंने मुक्ति प्राप्त कर ली है वे सभी ईश्वर हैं। जैन लोग ऐसे सब आत्माओंकी पूजा करते हैं, उनका ध्यान करते हैं और उन्हें ईश्वर कहकर पुकारते हैं। जैन शास्त्रवाले ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता नहीं मानते। उनके अनुसार यह जगत् अनादि-निधन है अर्थात्

न तो इसे किसीने उत्पन्न किया और न इसका कोई नाश ही कर सकता है।

समन्तभद्र स्वामीने अपने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारमें जैन धर्मके अनुसार ईश्वरका लक्षण बताते हुए कहा है—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥
क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मातङ्क - भयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाय यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥
परमेष्ठी परं ज्योतिर्विरागो विमलः कृतिः ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शातोपलाल्यते ॥

[जिसमें भूख प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, रति, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा, चिन्ता और आश्चर्य ये १८ दोष न हों, जो सर्वज्ञ हो, सब प्राणियोंका हितैषी हो, कर्ममल-रहित हो, कृतकृत्य हो और परम पदमें रहनेवाला हो वही आप्त ईश्वर है।]

अनीश्वरवादी बौद्ध

बौद्ध-धर्मावलम्बी किसी ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते। उनके हीनयान मतके अनुसार देह क्षणभंगुर है। ध्यान, धारणा और योगके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है और उसके पश्चात् निर्वाण हो जाता है। महायानवाले शून्यवादी कहलाते हैं। उनके यहाँ ईश्वरकी चर्चा ही नहीं हैं। वे आत्माको भोगी, विनाशी और क्षण-स्थायी मानते हैं। वे शून्यताको ही नित्य, अक्षय और अव्यय मानते हैं। उनका कथन है कि संसारकी उत्पत्तिसे पूर्व केवल शून्यता ही थी इसलिये शून्यके अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं सब मिथ्या हैं। इसी शून्यमें मन लगाकर समाधिस्थ होनेसे यह देही क्रमशः निर्वाण-पद प्राप्त कर लेता है।

जैनों और बौद्धोंके अतिरिक्त और भी ऐसे मत थे जिनमेंसे कुछ ईश्वरकी सत्ता मानते थे, कुछ ईश्वरको जड-रूप मानते थे और कुछ ईश्वरको पहचानते भी नहीं थे।

शंकराचार्यके ईश्वर

शंकराचार्यजीने अपने शारीरक भाष्यमें स्पष्ट कहा है—

योत्पत्तिर्ब्रह्मणः कारणात्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च ते गृह्यते। न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानाद्-चेतनादणुभ्यो वाऽभावाद्वा संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्।

[शारीरक भाष्य, १।१।२]

[ब्रह्मसे ही यह संसार प्रकट होता, ब्रह्ममें ही स्थित होता और ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है। ईश्वरके अतिरिक्त शून्य, अभाव, जड प्रकृति, परमाणु या जन्म-मृत्युके अधीन किसी संसारी जीवसे सृष्टि, स्थिति, लय संभव नहीं है।]

विभिन्न मतोंका खण्डन करके शंकराचार्यजीने (पंचदशी छठा परिच्छेद, १०७–१०९) में बताया है कि 'ईश्वरने जो कुछ बनाया उसे कोई विगाड़ नहीं सकता। वह इसीलिये सर्वेश्वर कहलाता है क्योंकि सब प्राणियोंकी बुद्धि-वासना इसी ईश्वरमें रहती है और यह समस्त ब्रह्मांड उसी बुद्धि-वासनासे व्याप्त है।' इसके अनन्तर श्री रामानुजाचार्यजीने बताया कि ईश्वर सर्वान्तर्यामी है और वह समस्त सृष्टिके प्रारम्भमें चित् और अचित् सूक्ष्म भावसे उसके अंग-रूपमें रहता है।

वैष्णव आचार्योंके अनुसार ईश्वर

रामानन्दजीने चैतन्यदेवको ईश्वर-तत्व समझाते हुए ब्रह्म-संहितामें कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणः॥

[सच्चिदानन्द-मूर्ति, सब कारणों कारण, अनादि और आदिदेव श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं]

रामानुजाचार्यजीके पश्चात् मध्वाचार्यजीसे लेकर श्रीमद्वल्लभाचार्यजी-तक सभी वैष्णव सम्प्रदायके प्रवर्तकोंने ज्ञान

और कर्मकाण्डका प्राधान्य न मानकर भक्ति-काण्डको ही ईश्वर या कृष्णकी प्राप्तिका कारण वताया। चैतन्यदेवके प्रभावसे जो व्रज-मंडलमें अनेक सम्प्रदाय चले उनमेंसे किसीने श्रीकृष्णको, किसीने राधाको और किसीने राधाकृष्णकी युगल मूर्तिको ही ईश्वर-भावसे पूजा है।

आर्यसमाजके मतानुसार ईश्वर

स्वामी दयानन्द सरस्वतीने वताया है कि शतपथ ब्राह्मण और वेद-मंत्रोंके प्रमाणसे सिद्ध होता है कि 'यज्ञ' शब्दसे विष्णु और 'विष्णु' शब्दसे सर्वव्यापक ईश्वरका बोध होता है क्योंकि परमेश्वरके अतिरिक्त और कोई इस सृष्टिको उत्पन्न नहीं कर सकता। जिस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे चारों वेदोंकी उत्पत्ति हुई उसका मुख ही अथर्ववेद है, साम ही लोम है, यजु ही हृदय है और ऋग्वेद ही प्राण है। उस सर्वाधार परमेश्वरसे भिन्न न तो कोई वेदकर्त्ता है और न मनुष्यकी उपासनाके योग्य कोई अन्य इष्टदेव ही है।

केशवसेनका मत

केशवसेनके मतसे वेदका ईश्वर निश्चेष्ट और पुराणका ईश्वर कर्मशील है। ईश्वर मनुष्यकी भाँति न तो इधर-उधर घूमता है और न तो वह कोई वार-वार काम ही करता है। वह हमारे-आपके मुँहमें प्रकट रूपसे अन्न न डालकर समस्त ब्रह्माण्डकी शक्तिमें उसकी व्यवस्था कर देता है। ब्रह्म निष्क्रिय रहनेपर भी अपने गूढ नियमोंके द्वारा हमारा नित्य कल्याण करता है। अतः, हमारा धर्म है कि हम सर्वत्र ब्रह्मकी पूजा करें और उसीको अपने भवनकी लक्ष्मी समझें। इस विश्वमें अत्यन्त गूढ भावसे सबका कल्याण करनेवाला जो कार्य-स्रोत निरन्तर वहा करता है उसीके द्वारा ब्रह्म अपने भक्तको सुख देता और सत्यनिष्ठको विजय प्रदान करता है।

रामकृष्ण परमहंसका मत

परमहंस रामकृष्णजीने कहा है कि सच्चिदानन्द हरि बहुरूपी हैं। वे एक हैं, अनन्त हैं और विश्वरूपी भगवान् हैं। ब्रह्मके अनन्त नाम और अनन्त भाव हैं। जिसे जो भाव और जो नाम अच्छा लगे उसी नाम और भावसे पुकारनेपर और अहं-भाव छोड़ देनेपर ईश्वर प्राप्त हो जाता है। इस कलिकालमें ईश्वरका नाम ही एक मात्र सुखका साधन है।

बाइबिलका ईश्वर

बाइबिलके मतानुसार ईश्वरने ही इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है। जगत्के पूर्व वही एक विद्यमान था और उसीसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है।

ईसाइयोंके जो अनेक धर्म-सम्प्रदाय चले उनमेंसे कोई तो ईश्वरको सर्वस्रष्टा समझते हैं और कोई यह मानते हैं कि यह जगत् स्वभावसे ही बन गया है। कुछ ऐसे भी नये वैज्ञानिक हैं जो परमाणुओंके संयोग-वियोगसे ही पृथ्वीकी उत्पत्ति मानते हैं और ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं करते। वर्तमान वैज्ञानिक लोग शक्ति (इनर्जी) को ही विश्वकी उत्पत्तिका कारण मानते हैं। भारतीय मतानुसार वह शक्ति या सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही इस जगत्का स्रष्टा है।

क़ुरानका ईश्वर

क़ुरानके मतानुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वश्रेष्ठ और सबका स्रष्टा है। वह सर्वदर्शी, असीम और अमर आदि विशेषणोंसे युक्त है।

अरस्तू

यूनानी दार्शनिक प्लातो (प्लेटो या अफ़लातून) ने अपने गुरु सुकरातके इस प्रत्ययवादकी स्थापना की कि 'संसारकी समस्त

जीवित-अजीवित वस्तुएँ अपूर्ण हैं किन्तु उनका सामान्य प्रत्यय (ज्ञान) पूर्ण है, वही सच्चा प्रत्यय है और ऐसे सभी प्रत्ययों-का निवास-स्थान ईश्वर है। परम प्रत्ययके रूपमें सत्य, सुन्दर और शिवका पर्यवसान परमात्मा या ईश्वरमें ही होता है। वही सर्वश्रेष्ठ और सर्वभद्र है। सांसारिक वस्तुएँ तो केवल उसकी छाया मात्र हैं।'

योरपके दार्शनिक

योरपके प्रायः सभी दार्शनिकोंने इस सृष्टिके कर्त्ता, भर्त्ता और संहर्त्ताके अतिरिक्त सञ्चालक, सर्वव्यापक तथा अविनश्वर तत्त्वके रूपमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया है और यह माना है कि वह ईश्वर ही ऐसी सत् और चेतन शक्ति है जो इस समस्त ब्रह्माण्डको चेतन और गतिशील बनाए हुए है और जिसके आश्रयसे यह समस्त विश्व चेतनायुक्त, सजीव और सक्रिय प्रतीत होता है। वह ईश्वर सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। वह सब ज्ञानका ज्ञान, सब प्रकाशोंका प्रकाश और सब शक्तियोंकी शक्ति है और वही सब जड-चेतनका नियन्ता और विभु है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही कहा गया—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
[गीता, १८।६१]

[हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें विराजमान रहता है जो शरीर-रूपी यन्त्रोंपर चढ़े हुए प्राणियोंको अपनी मायासे घुमाता रहता है।]

उदासीन सम्प्रदायने ब्रह्म-स्वरूप प्रणवके पश्चात् ईश्वरको ही अपनी परम्परामें सर्वशक्तिमान् मानकर वास्तवमें जगत्के विश्वात्म तत्त्वको अंगीकार किया।

षष्ठ प्रकरण

उदासीन संतोंकी पौराणिक परम्परा

भगवान् विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न ब्रह्माजीने अपनी सत्त्व-गुण तथा रजोगुणवाली वृत्तिके अभावमें अपनी तमोगुण-प्रधान वृत्तिकी अवस्थामें अन्धतामिस्र, तामिस्र, महामोह, मोह और तमकी वृत्तियोंका सर्जन किया। सम्भवतः इन्हींसे आगे चलकर क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पँच-क्लेशकी सृष्टि हुई और इसी कारण इन वृत्तियोंसे जितने भी प्राणी प्रभावित हुए वे सबके सब तामसी वृत्तिवाले हुए। फलतः उस तमोप्रधान वृत्तिवाली अपनी सृष्टि देखकर ब्रह्माजीको स्वयं बड़ा क्लेश हुआ। उन्होंने पुनः समाधि लगा ली। समाधिके अनन्तर जब वे उद्बुद्ध हुए तब उनकी वृत्ति पूर्णतः सत्त्व-गुण-सम्पन्न हो गई थी। उस सत्त्वस्थ अवस्थामें उन्होंने अपने सात्त्विक संकल्पसे चार पुत्र उत्पन्न किए जिनके नाम सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार रक्खे गए। उनकी सृष्टि करके ब्रह्माजीने उन्हें आदेश दिया कि तुम लोग सृष्टि-कर्ममें प्रवृत्त हो जाओ। किन्तु उन वासुदेव-परायण मोक्ष-धर्मी सात्त्विक महापुरुषोंने अपने पिताजीकी आज्ञाका पालन

नहीं किया। सनक और सनन्दन शब्दोंका अर्थ ही है आनन्द। अतः, ये दोनों बालक जन्मसे ही भक्तिमें लीन हो गए और इस कारण सदा आनन्द-मग्न रहने लगे। इसी प्रकार तीसरे मानस-पुत्र सनातन अपनी उपासना और परमात्माके प्रिय-पात्र होनेके कारण ईश्वरमय हो गए इसलिये उनका नाम सनातन पड़ गया। चौथे बालक सनत्कुमारके सनत् शब्दका अर्थ है नित्य अर्थात् सत्य। ब्रह्माजीके इन चतुर्थ पुत्र सनत्कुमारको उदासीन सम्प्रदायवाले प्रणव और ईश्वरके पश्चात् प्रथम स्थान देते हैं। इस विचारके अनुसार सनत्कुमार ही उदासीन सम्प्रदायके आदि अवतारी आचार्य हैं।

सनत्कुमार

सनातनधर्मी विचार-पद्धतिमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारको दंडी संन्यासियोंकी गुरुपूजा-पद्धतिमें आचार्य-पंचकोंमें सम्माननीय स्थान प्राप्त हुआ है। उनके यहाँ अर्थात् आद्य शंकराचार्य-द्वारा प्रवर्तित दशनामी दण्डी स्वामियोंके सम्प्रदायमें भी गुरुपूजाके दिन विभिन्न आचार्य-पंचकोंमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारकी पूजा होती है। इनमेंसे सनक और सनन्दन आनन्दमय होनेके कारण सब प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे दूर रहे और यही दशा सनातनकी भी थी किन्तु सनत्कुमारने अपने महिमामय उपदेशोंसे लोकजीवनको अभ्युन्नत करनेका संकल्प किया। इसीलिये उदासीन सम्प्रदायवालोंने सनत्कुमारको अपना आदि व्यक्त आचार्य माना। तर्पणमें भी जहाँ सनक आदि सप्त मनुष्योंका स्मरण किया जाता है वहाँ सनक, सनन्दन और सनातनके साथ कपिल, वोढु और पंचशिखका स्मरण किया जाता है, सनत्कुमारका नहीं। इसका अर्थ यह है कि वे मनुष्योंसे कुछ भिन्न और असाधारण थे। इसलिये 'सनकादि सप्तमनुष्यास्तृप्यन्ताम्' कहते हुए सनक, सनन्दन और सनातनको ब्रह्माका मानस-पुत्र होनेपर भी उन्हें मनुष्यकी संज्ञा दी गई

किन्तु सनत्कुमारके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं कही गई। इन चारों भाइयोंके लिये 'मोक्षधर्माण: और वासुदेवपरायणा:' ये दो विशेषण दिए हुए हैं। इसका अर्थ यह है कि ये चारों भाई मोक्ष-धर्म अर्थात् मुक्तिको ही प्रधान धर्म मानते थे और भगवान् वासुदेवमें उनकी अत्यन्त तात्त्विक निष्ठा थी।

हरिवंश-पुराणके अनुसार ये ब्रह्माके मानस-पुत्रोंमें सर्वश्रेष्ठ थे। इन्होंने जन्म लेते ही यति-धर्म स्वीकार कर लिया और उसी शरीरसे आजतक विद्यमान हैं। इसीलिये इनका नाम सनत्कुमार या नित्यकुमार पड़ गया। जब मार्कण्डेय मुनिने कठोर तपस्या की थी तब सनत्कुमारजीने ही उनके पास जाकर उनके सब सन्देह दूर किए थे।

वामन-पुराणके अनुसार धर्मकी अहिंसा नामक पत्नीसे सनत्कुमार, सनातन, सनक, सनन्दन और कपिल आदि पुत्र हुए। धर्मने सबसे बड़े पुत्र सनत्कुमारकी उपेक्षा करके पंचशिखको ही सर्वगुणी समझकर उन्हींको सांख्ययोग सिखाया। इसपर सनत्कुमारने ब्रह्मासे सांख्ययोग सिखानेका अनुरोध किया। ब्रह्माने कहा कि यदि तुम्हारे पिता तुम्हें पुत्र-रूपमें मुझे दे दें तो मैं तुम्हें सांख्ययोग सिखा सकता हूँ। तब धर्म और अहिंसाने सनत्कुमारको ब्रह्माके हाथ सौंप दिया।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें लिखा है कि ये चारों भाई पञ्चहायन वयस्क, चूडाकर्म आदि संस्कार तथा वेद-संध्या आदिसे विहीन, ब्रह्मलोकमें ब्रह्मतेजसे प्रदीप्त होकर अनेक अवस्थाओंमें रहते और कृष्ण मन्त्र जपते रहते हैं। ये वैष्णवोंमें अग्रणी और ज्ञानियोंके गुरु हैं। यही कारण है कि चतुर्थाश्रमी उदासीन साधुओंके आदि आचार्य भगवान् सनत्कुमार ही माने जाते हैं। उन्होंने बदरिकाश्रममें जाकर तपस्या भी की थी। उन्होंने किन्हीं विशेष आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया हो इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता।

ब्रह्माने भगवान् विष्णुसे याचना की कि आप हमारे इन पुत्रोंको मंत्र-द्वारा दीक्षित कर दीजिए । तदनुसार भगवान्ने हंसका अवतार धारण किया और उस रूपमें उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारको उपदेश देकर दीक्षित किया ।

हंसावतार

जिस समय हंसके वेषमें ब्रह्माके सम्मुख भगवान् उपस्थित हुए उस समय चारों भाइयोंने आकर हंसके चरणोंमें प्रणाम किया और तब सनत्कुमारने हंससे पूछा—'आप कौन हैं ?'

इसपर हंसने उलटे उन्हींसे पूछ दिया—'हे ब्राह्मण ! आप लोग कौन हैं ? आप मुझसे मेरे आत्माके सम्बन्धमें प्रश्न करना चाहते हैं या इस पंचभूतात्मक शरीरके सम्बन्धमें ? यदि आप आत्माके सम्बन्धमें पूछना चाहते हैं तो वह एक ही समस्त कार्यक्षेत्रमें व्याप्त है, इसलिये उस सर्वव्यापी आत्माके सम्बन्धमें केवल मुझ अकेलेको इंगित करके पूछना असंगत होगा कि आप कौन हैं । और फिर, निर्विशेष आत्माके किन जाति-गुण आदि बताकर आपके प्रश्नका उत्तर दूँ ? यदि आप इस पंचभूतात्मक शरीरके सम्बन्धमें पूछना चाहते हैं तो यह प्रश्न ही निरर्थक है क्योंकि पंचभूतोंकी दृष्टिसे जितने भी शरीर हैं वे सब एक जैसे हैं क्योंकि सबमें पाँचों तत्त्व विद्यमान हैं । इस प्रकार मन, वाणी और इन्द्रियोंसे जो कुछ जाना जा सकता है वह सब मैं ही तो हूँ अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ। ऐसी अवस्थामें पदार्थोंमें भेदका प्रश्न कहाँ उठता है ? अतः, आपके प्रश्नका इसके अतिरिक्त क्या उत्तर दिया जा सकता है ?'

इसके पश्चात् हंसावतार भगवान्ने उन प्रश्नोंका उत्तर देना प्रारम्भ किया जो चारों भाइयोंने अपने पिता ब्रह्माजीसे किए थे । हंसावतारने उनसे कहा—'हे मुमुक्षुओ ! आप लोग उस प्रश्नका उत्तर सावधान होकर सुनें जो आपने ब्रह्माजीसे किए थे । यदि कर्म करनेवाला; भोग किए जानेवाले विषयोंसे बँधा हुआ और बुद्धि शब्दसे बताया जानेवाला चित्त ही इस जीवका वास्तविक स्वरूप होता तो इस चित्त-रूपी जीवका

'विषयोंसे वियुक्त होना सम्भव नहीं था। किन्तु जीवका वास्तविक स्वरूप तो सत्-चित्-आनन्दमय ब्रह्म ही है। यह जीव तो चित्तके अध्यास (भ्रम) के कारण चित्तधर्मीके समान बन जाता है और अनेक प्रकारके सांसारिक विषयोंके साथ सम्बद्ध हो जाता है किन्तु जब वही जीव समझ लेता है कि संसारके सब विषय मिथ्या हैं तब वह सबसे विरक्त हो जाता है और केवल अपनेमें ही ब्रह्मकी भावना करके भगवान्के ध्यानमें लीन हो जाता है और तभी वह परिपूर्ण स्वरूपकी अवस्थामें पहुँच पाता है। हे पुत्रो! यह तो सत्य है कि गुणोंमें चित्त और चित्तमें गुण प्रवेश करके परस्पर एक दूसरेमें गुँथ जाते हैं किन्तु यह चित्त तो केवल ब्रह्म-स्वरूप जीवकी उपाधि-मात्र है, उसका स्वरूप नहीं है। ऐसी स्थितिमें 'अहं ब्रह्मास्मि' का चिन्तन करके अपनेको मेरा ही स्वरूप मानकर चित्तका और उस चित्तमें वासना-रूपसे विद्यमान विषयोंका परित्याग कर दो और सूर्यके समान सबके साक्षी बनकर सदा सच्चिदानन्द-स्वरूपमें स्थित होकर विचरण करते रहो। उस समय तुम्हारे सम्मुख न चित्तका कोई विवाद खड़ा होगा और न विषयों का।'

इसपर सनत्कुमारने पूछा—'भगवन्! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, और तुरीय अवस्थामें रहनेवाला पुरुष किस प्रकार निर्विकार हो सकता है?

इसके उत्तरमें हंसावतार भगवान्ने समझाया—'हे पुत्र! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ जीवकी वृत्तियाँ नहीं वरन् बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ सत्त्व, रज और तम गुणोंसे उत्पन्न होती हैं। ये स्वाभाविक नहीं है। यह जीव इन तीनों अवस्थाओंसे रहित केवल इनका साक्षी-मात्र है।'

सनत्कुमारने इसपर पुनः प्रश्न किया—'यदि जीव इन अवस्थाओंका केवल साक्षी मात्र है तो आत्मामें इन अनुभवोंकी प्रतीति किस प्रकार और क्यों होती है कि में जागता या में सोता हूं।'

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए हंसावतारने समझाया—'जब जीवकी बुद्धि आत्माके साथ एकात्म सम्बन्ध स्थापित कर लेती है तब बुद्धि अपने सभी धर्मोंका आरोप जीवमें कर लेती है। उस समय 'मैं सोता हूँ' या 'मैं जागता हूँ' इन बुद्धिके धर्मोंकी प्रतीति जीवमें होने लगती है। वास्तवमें इस प्रकारके किसी भी धर्मका सम्बन्ध जीवसे नहीं है। इसलिये इन तीनों अवस्थाओंसे परे मेरी तुरीय अवस्थाके स्वरूपमें विश्वास करके बुद्धि आदिमें जितना अध्यास-रूपका सम्बन्ध है उस सबका परित्याग कर दो। ऐसा करनेसे चित्त और विषय दोनों स्वयं अलग-अलग हो जायँगे। तुम लोग स्वयं ही इस जड चित्तको आत्म-चैतन्य समर्पित करके उसे चेतन बना देते हो जिससे वह संसारके विषयोंको एकत्र करने और उन्हें अपने भीतर भरनेके योग्य हो जाता है। यदि तुम अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लो और केवल साक्षी-रूपसे स्थित हो जाओ तो यह चित्त किसी भी अवस्थामें विषयोंके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता क्योंकि वह स्वयं जड है। विचित्र बात यह है कि तुम लोग स्वयं सम्राट् होते हुए भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति चित्त-रूपी सेवकको दे देते हो। इसका परिणाम यह होता है कि वह तुम्हें नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। अतः, तुम अब भी अपनी महत्ता स्मरण कर लो जिससे तुम्हें अपना स्वाभाविक स्वरूप प्राप्त हो जाय।'

इसपर सनत्कुमारने फिर प्रश्न किया—'भगवन् ! यह बुद्धि और आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध कैसे हो जाता है और उस सम्बन्धको विच्छिन्न करनेका क्या उपाय है।'

इस प्रश्नके उत्तरमें हंसावतार भगवान्ने समझाया—'जब बुद्धिमें आत्माका अहङ्कार उत्पन्न हो जाता है तब यह बुद्धि आत्माके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेती है जिससे आत्माके आनन्द आदि गुण ढक जाते हैं और इस जीवको अनेक प्रकारके अनर्थोंमें फँस जाना पड़ता है। इसलिये यह

समझकर तुरीय भावमें स्थित हो जाओ कि बुद्धि आदि जितने भी प्रपञ्च हैं सब केवल दुःख-रूप हैं और फिर बुद्धि-विषयक अभिमान और उससे प्राप्त होनेवाले भोगोंकी सारी चिन्ता छोड़ दो। संसारमें बुद्धिके कारण ही अनेक पदार्थ प्रतीत होते हैं और उनकी प्रतीतिके कारण ही मनुष्य रागवश उन विषयोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता और प्राप्त कर लेनेपर उनमें सुखका अनुभव करता है। इन अनुभूत वस्तुओंके संस्कार चित्तमें बैठकर उसे कर्ममें प्रवृत्त कर देते हैं और फिर कर्मोंका ऐसा भयङ्कर चक्र चलता है कि जीव उससे मुक्त नहीं हो पाता। पदार्थोंको अनेकता केवल भ्रम है और बुद्धिका विकार मात्र है। ऐसी स्थितिमें उन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न करना भी निरर्थक कार्य है। जबतक मनुष्य अनेक पदार्थोंका अनुभव करानेवाली मिथ्या बुद्धिसे दूर नहीं हो जाता तबतक वह अज्ञानी मनुष्य जागता हुआ भी स्वप्नमें जागनेकी प्रतीति करनेवाले पुरुषके समान सोता ही है।'

यह सुनकर सनत्कुमारने बड़ा विलक्षण प्रश्न किया और कहा—'हे गुरुवर! वेदमें वर्ण और आश्रमके सम्बन्धमें अनेक कर्म तथा धर्मके विषयमें जो अनेक प्रकारके आचरणका विधान किया गया है उनके सम्बन्धमें यह बुद्धि कैसे स्थिर हो सकती है, क्योंकि वेद तो कोई भी अशुद्ध या असम्बद्ध बात नहीं कह सकते।'

इसपर हंसावतार भगवान्‌ने उत्तर दिया कि शरीर, उससे सम्बद्ध वर्ण और आश्रम, आचारका पालन करनेसे प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि फल और उनके निमित्त किए जानेवाले सभी कर्म आत्माके सामने असत् हैं। वेद तो अज्ञानी पुरुषोंकी प्रवृत्तियोंको सुव्यवस्थित करनेके लिये ही इनका सबका प्रतिपादन करता है। वेदमें ऐसा कहीं नहीं कहा है कि ये सब सत्य हैं। क्षण-क्षणमें परिवर्तित होनेवाले सभी स्थूल पदार्थोंको एक ही

आत्म-तत्त्व जाग्रत अवस्थामें भोगता है, वही आत्म-तत्त्व बाह्य पदार्थोंके समान प्रतीत होनेवाले स्वप्न पदार्थोंको स्वप्नावस्थामें भोगता है और सुषुप्ति-अवस्थामें उन सब पदार्थोंका लय कर देता है। एक अवस्थावाली शरीर आदि वस्तुएँ दूसरी अवस्थामें नहीं रहतीं। यही इस बातका प्रमाण है कि वे सब असत्य हैं। किन्तु तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्म-तत्त्व साक्षी रूपसे अवश्य विद्यमान रहता है इसलिये वही सत्य है। यदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें आत्मा भी भिन्न-भिन्न होते तो जागनेपर किसी व्यक्तिको यह स्मरण न रह सकता कि स्वप्न देखनेपर मैं ऐसा सोया कि कुछ भी ज्ञान न रहा और अब मैं जाग रहा हूँ। ऐसी मनःस्थितिमें स्वप्न और अज्ञानका स्मरण जाग्रतमें हो रहा है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि तीनों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला आत्म-तत्त्व एक ही है क्योंकि एक अनुभव किए हुए विषयोंकी स्मृति दूसरे मनुष्यको नहीं हो सकती। अपने स्वरूपका न ज्ञान होनेके कारण मनकी इन तीन अवस्थाओंको भी जीव अपनी अवस्था समझ लेता है, यही उसका भ्रम है। यह समझकर ही अनुमान, महापुरुषोंके उपदेश और ज्ञानके द्वारा सब प्रकारका संशय उत्पन्न करनेवाले अहङ्कारका नाश करके सबके हृदयमें व्याप्त मुझ परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार करो। यह संसार केवल विभ्रम मात्र है और स्वप्नके पदार्थोंके समान नाशवान् तथा असत् है। यह केवल मनकी कल्पनापर ही आश्रित है। एक ही बुद्धि अनेक प्रकारसे और अनेक रूपोंकी प्रतीत कराती है इसीलिये इसको विभ्रम कहते हैं। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे भेद उत्पन्न होता है। उसीको माया और स्वप्न कहते हैं। इसलिये उस भ्रम, माया और स्वप्नसे दूर होकर संसारके स्वरूपका भली-भाँति ज्ञान प्राप्त करके निजानन्द या स्वात्मानन्दमें मग्न रहो। जब यह संसार वास्तवमें कुछ है ही नहीं तो यह विचार ही छोड़ देना चाहिए कि यह सत्य है और जब सत्य नहीं है तब न इसकी इच्छा करनी चाहिए और न इसके लिये

चेष्टा करनी चाहिए, केवल अपने स्वरूपमें स्थिर और मूक होकर निजात्मानन्दमें मग्न हो जाना चाहिए।'

द्वैत-वृत्ति

'द्वैतवृत्ति दूर किए विना संसारसे निवृत्ति नहीं हो सकती। यह कठिन अवश्य है किन्तु यह न समझो कि इस द्वैतबुद्धि अर्थात् इस संसारके पदार्थोंको अनेक रूपों और नामोंसे देखनेकी वृत्ति दूर करना सर्वथा असम्भव है क्योंकि जब मनुष्य आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेता है और सभी सांसारिक पदार्थोंको असत् समझकर छोड़ देता है तब जैसे जली हुई रस्सी जलने-पर भी रस्सी-जैसी प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्म-ज्ञान होनेपर इस संसारके रूप और आकार प्रतीत भले ही होते हों किन्तु उनसे वन्धन नहीं हो सकता। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनेपर विषयोंकी स्मृति भी नाम मात्रको रह जाती है और वह किसी प्रकार वाधा नहीं पहुँचाती। जैसे मदिरासे उन्मत्त पुरुषको अपने वस्त्रों आदिका ज्ञान नहीं रहता उसी प्रकार आत्म-ज्ञानी सिद्ध महापुरुषको भी इस शरीरके किसी भी धर्म और कर्मका कोई ज्ञान नहीं रहता। यह भी नहीं समझना चाहिए कि शरीरका नाश हो जानेके साथ-साथ आत्मतत्त्वका ज्ञान भी नष्ट हो जाता है क्योंकि शरीर तो कारण-शरीरके प्रारम्भसे किए हुए सब कर्मोंके नाश न होने-तक प्राण और इन्द्रियोंको धारण करता ही रहेगा और उसके साथ-साथ आत्म-तत्त्व भी स्मृतिमें वना रहेगा। ऐसा व्यक्ति विषयोंमें उसी प्रकार आसक्त नहीं होता जैसे जागा हुआ पुरुष स्वप्नके पदार्थोंमें आसक्त नहीं होता। हे पुत्रो! अपने आत्म-स्वरूपसे मेरा साक्षात्कार करके निर्भय होकर संसारमें विचरण करो। तुम्हारे सामने कोई विघ्न उपस्थित नहीं होगा। हे विप्रो! आत्म और अनात्मके विवेकका जो सांख्य और योग-शास्त्रोंके कथनानुसार रहस्य था वह सब मैंने तुम्हें समझा दिया। मैं तुम्हें धर्मका उपदेश देनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। मैं ही यज्ञ या विष्णु हूँ।'

इस प्रकार सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारने हंसावतार भगवान्से निवृत्ति-धर्मकी दीक्षा ली जो उदासीन सम्प्रदाय और धर्मका मुख्य तत्त्व है। इस विवेचनसे यह भी स्पष्ट है कि हंसावतार भगवान्ने सर्वप्रथम गुरु-रूपसे आत्म-तत्त्व-ज्ञानका उपदेश सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारको दिया और इस प्रकार गुरु-शिष्यकी वह व्यवस्थित प्रणाली चल पड़ी जिसके अनुसार यह आवश्यक हो गया कि प्रत्येक व्यक्तिको किसी न किसी गुरुसे दीक्षा लेनी ही चाहिए।

जय और विजयको शाप

एक वार सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार चारों भाई भगवान्के दर्शनके लिये वैकुण्ठ पहुँचे। द्वारपर भगवान् विष्णुके जय और विजय नामक द्वारपालोंने उन्हें रोक दिया। इसपर उन्होंने जय-विजयको शाप दिया कि तुम दोनों उन पापलोकोंको जाओ जहाँ तुम्हारे जैसे भेद-दर्शियोंके शत्रु काम, क्रोध, लोभ रहते हैं। यह अमोघ शाप सुनकर जय और विजय उनके चरणोंपर गिरकर गिड़गिड़ाने लगे। इतनेमें लक्ष्मी-सहित विष्णु भगवान् भी वहाँ आ पहुँचे। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारने उन्हें प्रणाम किया और उनके सेवकोंको शाप देनेके अपराधकी क्षमा माँगी किन्तु भगवान् विष्णुने उन्हें समझाया कि जय-विजय नामक पार्षदोंने आपका जो अपमान किया उसका आपने उचित दण्ड दिया है। इसके पश्चात् भगवान् विष्णुसे वार्तालाप करके चारों ऋषि चले गए तथा जय और विजय भी वैकुण्ठसे गिरकर दितिके गर्भसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके रूपमें उत्पन्न हुए।

[श्रीमद्भागवत, ३।१५,१६]

पितृदेवकी कन्याओंको शाप

भगवान् वेदव्यासजीने शिव-पुराण तथा रुद्र-संहिताके पार्वती-खण्डके दूसरे अध्यायमें श्री सनत्कुमारजीके सम्बन्धमें

एक बड़ी विचित्र कथा दी है। उस कथाके अनुसार एक बार ब्रह्माजीकी सभामें अनेक ऋषिगणकी उपस्थितिमें नारदजी प्रश्न करते जा रहे थे और ब्रह्माजी उत्तर देते जा रहे थे। इसी बीच नारदजीने पार्वती, सीता और राधाजीके कल्पान्तर जन्मोंका कारण पूछा। इसपर ब्रह्माजीने बताया कि 'हे नारद! तुम्हारे भाई दक्षकी साठ कन्याओंका विवाह कश्यप आदि ऋषिओंके साथ हुआ था। उनमेंसे स्वधाका विवाह पितृदेवके साथ हुआ जिनसे मेना, धन्या और कलावती नामकी तीन कन्याएँ हुईं। वे तीनों अत्यन्त भक्ति-परायणा थीं। एक दिन भगवान् विष्णुके दर्शनोंके लिये जब वे श्वेत-द्वीपमें गईं उसी समय सनत्कुमार आदि चारों भाई वहाँ आकर भगवान्की स्तुति करने लगे। उनके आनेपर भी तीनों कन्याएँ न तो आसनसे उठीं और न उन्होंने ऋषियोंको प्रणाम ही किया। इसपर सनत्कुमारजीने उन्हें शाप दिया कि अब तुम स्वर्गसे गिरकर मर्त्यलोकमें मानवी बनकर निवास करो। उनके बहुत रोने-गिड़गिड़ानेपर सनत्कुमारजीने उनको आश्वासन दिया कि तुम चिन्ता मत करो, तुम तीनों पार्वती, सीता तथा राधाके रूपमें जाकर जन्म धारण करोगी। किन्तु यह स्मरण रक्खो कि बड़ोंका आदर-सत्कार न करनेसे बड़ा पाप लगता है और संसारमें मर्यादा लुप्त हो जाती है।

स्वामिकार्त्तिकेयके रूपमें

आत्म-पुराणमें भी इसी प्रकार एक कथा आई है कि एक बार समस्त मुनि-समाज काशी पहुँचा हुआ था। उसी समय पार्वतीजीके साथ शंकरजी भी पहुँच गए। उनके आते ही सब मुनियोंने खड़े होकर उन्हें प्रणाम किया और उनकी स्तुति की। इतना ही नहीं, वे घूम-घूमकर प्रत्येक मुनिसे उनके आश्रममें जा-जाकर स्वयं मिले। किन्तु वहींपर एक ओर सनत्कुमारजी भी धूनी रमाए बैठे थे किन्तु समाधिस्थ होनेके कारण वे शंकर

भगवान्के आनेपर खड़े नहीं हुए। उन्हें ब्रह्मस्थ देखकर शंकरजी तो बड़े प्रसन्न हुए किन्तु पार्वतीजीने इसको अविनय समझा और सनत्कुमारजीको शाप दे डाला कि हमारा निरादर करनेसे तुम घोड़ोंकी सेवा करनेवालोंके कुलमें जन्म लोगे। सनत्कुमारजी यह शाप सुनकर मुसकराए और उन्होंने तत्काल अश्वपालका रूप धारण कर लिया। उस रूपमें वे सुन्दर भोजन करके मोटे-चंगे हो गए और बहुत आलसी भी हो गए। वे घुड़सालके द्वारपर लेटे-लेटे आनन्द लेते रहते थे। कुछ दिन बीतनेपर पार्वतीजी दयावश वहाँ आईं और बोलीं—'हे सनत्कुमार! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, मुझसे वर माँगो।' सनत्कुमारजीने व्यंग्यपूर्वक कहा—'आप यदि अनुग्रह करना ही चाहती हों तो ऐसा वरदान दीजिए कि मुझे मल-मूत्रके लिये दूर न जाना पड़े और वह स्वयं ही दूर जा पड़े।' पार्वतीजीने इसे व्यंग्य समझा और कहा—'जाओ तुम्हें ऊँटका शरीर प्राप्त हो।' अब वे ऊँट बनकर गंगाजीका मधुर जल पीकर कीकरके पत्ते खाते हुए आत्म-लीन होकर घूमने लगे। फिर दूसरी बार पार्वतीजी उन्हें देखने पहुँची और उन्हें आनन्द-मग्न देखकर उनसे बोलीं—'हे सनत्कुमार! मैं तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न हूँ। जो मन में आवे वर माँग लो।' इसपर सनत्कुमारजीने कहा—'यह ऊँटका शरीर बड़ा प्रिय है। अतः, आप यदि कृपा करना चाहती हों तो यही वर दीजिए कि सब जन्मोंमें मुझे ऊँटका ही शरीर प्राप्त हो।' इसपर पार्वतीजीने भगवान् शंकरसे परामर्श किया और कहा—'मैं ही आपसे वर माँगती हूँ कि आप हमारे पुत्र बनिए।' इसपर सनत्कुमारजीने ऊँटका शरीर छोड़ दिया और स्वामिकार्तिकेयके रूपमें जन्म लिया।

उपर्युक्त प्रसंगोंसे तीन बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि सनत्कुमारजीने हंसावतार भगवान्से उपदेश लिया और दीक्षा प्राप्त की, दूसरी बात यह कि किसी स्थितिमें भी मनुष्यको आत्म-तत्त्व नहीं भूलना चाहिए चाहे वह किसी भी योनिमें क्यों

न जन्म ले और तीसरी बात यह कि आत्म-ज्ञानी पुरुष बड़ेसे बड़े वरदानके प्रलोभनसे भी विचलित नहीं होता।

नारदजीका उपदेश

ब्रह्मवैवर्त-पुराणके कृष्ण जन्म-खण्ड (१३०।३१) के प्रसङ्गमें नारदजीके सम्बन्धमें कथा आई है कि जब भगवान् नारायण-को आज्ञा पाकर नारदजीने महाराज सृंजयकी पुत्री स्वर्णग्रोवाके साथ विवाह कर लिया और निरन्तर भोग-विलासमें लीन होकर अपना सब कर्म-धर्म भुला बैठे तब दैवयोगसे एक बार सनत्कुमारजी उस समय उनके पास जा पहुँचे जब वे एक वट-वृक्षके नीचे अपनी धर्मपत्नीके साथ प्रेमालापमें मग्न थे। नमस्कार-प्रणाम हो चुकनेपर नारदजीकी दशा देखकर सनत्कुमारजीने उन्हें यही उपदेश दिया कि 'यह सांसारिक भोग-विलाससे प्राप्त होनेवाला सुख क्षणिक और अमंगलकारक है। इससे ईश्वर-भक्तिका द्वार बन्द हो जाता है और कभी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। जो भी जीव ईश्वरको प्राप्त नहीं करता उसे अपने कर्मोंका फल अवश्य भोगना ही पड़ता है। स्वयं भगवान् नारायण आपको बता चुके हैं कि पिछले जन्ममें आपने गन्धर्व-योनि प्राप्त की थी। इसी प्रकारके कर्मसे बद्ध होनेके कारण आपको एक जन्ममें दासी-गर्भसे जन्म लेना पड़ा। इस बार महात्माओंके सत्संगसे आप ब्रह्माजीके पुत्र हुए हो। यदि चौरासी लाख योनियोंका यह चक्र समाप्त कर देना चाहते हो तो अपनी मोहमयी पत्नीका मोह छोड़कर भारतमें जाकर तपस्या करो और भगवान्से भक्ति तथा प्रेमकी याचना करो जिससे आपको वास्तविक सुख प्राप्त हो और आप संसारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाओ। इसके लिये मैं आपको उसी मंत्र (सोऽहम् हंसः) का उपदेश करता हूँ जिसका जप करते हुए मैं निश्चिन्त और आनन्द-मग्न होकर घूमता हूँ। इस मंत्रके जपसे आप सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे।'

यह उपदेश देकर सनत्कुमारजीने नारदजीको, स्नान करनेके लिये कहा और उनके स्नान कर चुकनेपर उन्हें मंत्र देकर पुरश्चरण-पूर्वक पाँच लाख जप-कर्म और सामवेदोक्त विधिसे भगवान्का ध्यान करनेका उपदेश दिया।

इस उपदेशसे नारदजीकी आँखें खुल गईं और उन्होंने सनत्कुमारजीके द्वारा बताए हुए मन्त्रका जप करके उस विलासमय जीवनसे शीघ्र ही मुक्ति पा ली।

राजा पृथुको उपदेश

यह पृथ्वी महाराज पृथुके कारण ही पृथ्वी कहलाती है क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने ही ग्राम, खेट, नगर, पुर आदिकी व्यवस्था की और पृथ्वीसे रत्न निकालकर इस सृष्टिको वैभववान् बनाया। उनके राज्य-कालमें एक दिन सूर्यके समान तेजस्वी सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार चारों भाई आकाश-मार्गसे उतरकर उनकी राज-सभामें आ उपस्थित हुए। उन्हें देखते ही महाराज पृथु अपने सभी पार्षदोंके साथ उनके स्वागत-के लिये उठ खड़े हुए। उनके आनेपर, उन्हें सर्वोच्च आसनपर बैठा लेने तथा शास्त्रके अनुसार पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्कके द्वारा उनकी पूजा-अर्चनाकर चुकनेपर महाराज पृथुने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की कि आप कृपा करके ऐसा उपदेश दीजिए जिससे हम सबका कल्याण हो।

वैराग्यके साधन

महाराज पृथुके वचन सुनकर सनत्कुमारजीने कहा कि जिन साधनोंके अनुष्ठानसे और जिस प्रकारके सदाचारसे वैराग्य होता है और आत्म-ज्ञानके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है वह ध्यान-पूर्वक सुनिए—

'सब शास्त्रों, माता-पिता-गुरु आदि आप्त पुरुषों; साधु जनों और उनके वचनोंमें सदा विश्वास करना। सबको ईश्वरका

पुत्र और ईश्वरका स्वरूप समझना, सबको यथायोग्य और यथाशक्ति सेवाके द्वारा प्रसन्न रखना, प्रतिदिन स्वस्थचित्त होकर देवार्चन, सन्ध्या-वन्दन, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा ध्यान और समाधिका अनुष्ठान करना, आत्म-परायण योगियों और महात्माओंका सत्सङ्ग करना और श्रद्धा-पूर्वक उनकी सेवा करना, प्रतिदिन भगवान्के नामका जाप और उनकी पवित्र लीलाओंका कीर्तन और श्रवण करते रहना, अर्थ-लोलुप और विषय-भोगमें लीन तामसी और राजसी पुरुषोंके संगसे सदा दूर रहना और उन सब कर्मों तथा पदार्थोंका परित्याग करना जिसमें तामसी और राजसी लोग लिप्त रहते हैं। इन्हीं साधनोंसे आत्म-तृप्ति हो जानेपर भगवान्में एक-निष्ठ प्रीति उत्पन्न होती है। एकान्तवासकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा भगवान्के नामका स्मरण और उनका गुण-कीर्तन करना चाहिए। उसका कर्त्तव्य है कि वह मन, वाणी और कर्मसे कभी किसीको पीडा न पहुंचावे, सांसारिक विषयोंमें अपने मन तथा इन्द्रियोंको न लगावे, किसी प्रकारका कष्ट उपस्थित होनेपर विचलित न हो और सदा भगवान् कृष्णके चरित्र सुनता रहे। इन नियमोंका पालन करनेसे ही निर्गुण ब्रह्ममें प्रेम उत्पन्न होता है। इस प्रकारका प्रेम उत्पन्न होनेपर वह पुरुष गुरुकी शरणमें जाता है जहाँ सेवा और शुश्रूषाके द्वारा वह गुरुकी कृपासे विशुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेता है और तब उसके हृदयमें ज्ञान और वैराग्यके प्रकाशसे अविद्याका अंधकार दूर हो जाता है और वह आत्माका साक्षात्कार कर लेता है। आत्माका साक्षात्कार कर लेनेपर वह सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर पूर्ण आनन्द प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार सनत्कुमारजीके मुखसे अध्यात्म-विद्याका उपदेश सुनकर महाराज पृथु अत्यन्त आनन्द-मग्न हो गए और उन्होंने अत्यन्त कृतज्ञताके साथ सनत्कुमारजीका उपकार माना और पूर्ण रूपसे उनको सर्वस्व अर्पण कर दिया। किन्तु सनत्कुमारजीने कहा कि अपने इस सर्वस्व अर्पणके निश्चयके अनुसार आप

अपने शरीर, धन, राज्य और कोषको परमात्माकी वस्तु समझकर प्रजाका पालन कीजिए और मनसे ममत्व-भावना निकालकर परमात्माके निश्चित किए हुए कर्त्तव्यका पालन कीजिए। इतना कहकर चारों भाई अन्तर्धान हो गए और राजा पृथु भी आत्म-ज्ञान प्राप्त करके राजाके धर्मका पालन करते हुए भी साक्षात् भगवान्के समान सब लोगोंके मनमें व्याप्त हो गए।

सनत्कुमारजीके उपदेश

विभिन्न पुराणोंमें इस प्रकारके अनेक वर्णन आते हैं कि सनत्कुमारजीने महाकालवन तीर्थका माहात्म्य, तीर्थ-यात्राका फल, व्रतका माहात्म्य, श्राद्ध और तर्पणकी महत्ता तथा मूर्ति-पूजा आदि उन सब कर्मों, व्यवहारों और आचारोंका उपदेश दिया जिन्हें सनातन-धर्मकी परम्परामें लोग अनादि कालसे आजतक मानते चले आ रहे हैं।

सनत्सुजात

नारदजीके अतिरिक्त उनकी परम्परामें व्यास और सनत्सुजातका नाम लिया जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि व्यासजी कर्म-योगके प्रचारक थे, नारदजी भक्ति-योगके और सनत्सुजात ज्ञान-योगके। इनमेंसे व्यास और नारदकी कृतियों और रचनाओंका विशद विवरण प्राप्त होता है किन्तु सनत्सुजातके सम्बन्धमें कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

महाभारतमें विवरण आता है कि जब कौरव-पाण्डवोंका युद्ध निश्चय हो गया, उस समय धृटराष्ट्रकी मानसिक उद्विग्नता दूर करनेके लिये विदुरजी उन्हें उपदेश दिया करते थे। इसी प्रसंगमें एक दिन जब ब्रह्म-विद्याकी बात छिड़ गई तब विदुरजीने कहा कि शूद्र होनेके कारण मैं ब्रह्म-विद्याके उपदेशका अधिकारी नहीं हूँ किन्तु मैं अपने गुरु सनत्सुजातजीसे

आपकी भेंट करा दूँगा। तदनुसार जब वे सनत्सुजातजीको धृतराष्ट्रके पास लाए तब सनत्सुजातजीने कहा कि आप अपनी रुचिके अनुसार मुझसे प्रश्न कर सकते हैं। इसपर धृतराष्ट्रने उनसे पूछा कि विदुरजीसे मैंने सुना है कि आप मृत्युकी सत्ता ही नहीं मानते परन्तु संसारमें अनेक प्राणी ब्रह्मचर्य-पालन तथा योग आदिके द्वारा मृत्युसे बचनेके अनेक उपाय किया करते हैं फिर भी मृत्युसे नहीं बच पाते। ऐसी स्थितिमें यह कैसे मान लिया जाय कि मृत्युको कोई सत्ता नहीं है।

दो प्रकारके मनुष्य

इस पर सनत्सुजातजीने कहा कि संसार-भरमें दो प्रकारके मनुष्य होते हैं—एक भेद-दर्शी और दूसरे अभेद-दर्शी। भेद-दर्शी लोग मानते हैं कि यमराजका ही नाम मृत्यु है जो शरीर छोड़कर यमलोकमें पहुँचनेवाले जीवोंको उनके कर्मके अनुसार फल देते हैं। ऐसे भेद-दर्शी लोग यह भी मानते हैं कि केवल काले तथा लाल कर्म करनेवाले लोगोंको ही यमराज दण्ड देते हैं, शुक्ल या श्वेत कर्मवाले जीव अपने पुण्य-प्रतापसे सीधे स्वर्ग चले जाते हैं।

अभेद-दर्शी लोग मानते हैं कि एक अद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त और किसी पदार्थका अस्तित्व ही नहीं है इसलिये मृत्युका भी अस्तित्व नहीं है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर प्रतीत होगा कि मृत्युकी कोई सत्ता नहीं है इसीलिये मैं उसे अस्वीकार करता हूँ और फिर जब यह आत्मा अजर, अमर और वृद्धिक्षय आदि धर्मोंसे शून्य है तब उसमें जन्म और मृत्युका प्रश्न कहाँ उठता है। यदि आत्म-तत्त्वकी धारणा जाग्रत रक्खी जाय तो स्थूल शरीर भी आत्माके कारण शरीरके अनुसार बना रह सकता है। मैं स्वयं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ।

नारदजीको उपदेश

सनत्कुमारजीने जन्मके अनुसार वर्ण-व्यवस्था स्वीकार की है। उन्होंने छान्दोग्य-उपनिषद्के अनुसार नामका माहात्म्य बहुत अधिक माना है। छान्दोग्य-उपनिषद्में उल्लेख भी है कि जब नारदजीने उनसे तत्त्व-ज्ञानका उपदेश देनेके लिये प्रार्थना की तब उन्होंने उन्हें नामकी उपासनाका मार्ग और फल बताया। इसी प्रसंगमें उन्होंने सर्वोत्कृष्ट तत्त्व भूमा या ब्रह्मकी विशेषता भी बताई थी। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी समझाया था कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिके द्वारा भूमा-ब्रह्मका जो साक्षात्कार कर लेता है वह 'आत्मामें ही रमण करने लगता है। ऐसा आत्म-तत्त्व-दर्शी मनुष्य न मृत्युका अनुभव करता है, न रोगका और न दुःखका। उसका अन्तःकरण पूर्णतः निष्कलंक और शुद्ध हो जाता है।

इस अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये मनुष्यको अपना आहार शुद्ध रखना चाहिए। इस प्रकार सत्त्व-शुद्धिसे ध्रुव स्मृति होती है और स्मृतिका लाभ होनेसे सब प्रकारकी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और मनुष्य मुक्त हो जाता है। इसीलिये कहा गया है—

आहारशुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः।

[भोजन शुद्ध होनेपर आत्मा भी शुद्ध हो जाता है।]

भक्तिमें निष्ठा

श्री सनत्कुमारजीने ब्रह्मनिष्ठ और आत्मलीन होते हुए भी भक्तिको बड़ा महत्त्व प्रदान किया था। शिवपुराणकी सनत्कुमार-संहिताके नवम अध्यायमें बड़ा विस्तृत विवरण दिया गया है कि उन्होंने किस प्रकार भक्तिपूर्वक भगवान् शंकरकी आराधना की थी। शिवपुराणकी विश्वेश्वर-संहिताके चतुर्थ अध्यायमें एक प्रसंग आता है कि तपस्या-निरत व्यासजीको

सरस्वतीके तटपर सनत्कुमारजीने यही वताया था कि केवल तपस्या ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ भगवान्की महिमाका श्रवण, गुणोंका कीर्तन, चिन्तन और मनन ही मुक्तिका श्रेष्ठ साधन है क्योंकि—

'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।'

[भक्ति ही ज्ञानके रूपमें वदल जाती है।]

इस प्रकार सनत्कुमारजीने अनेक प्रकारसे अनेक अवसरोंपर वैदिक सिद्धान्त, मूर्ति-पूजा, तीर्थयात्रा, जप-तप, पूजा-पाठ, यज्ञ, दान, श्राद्ध, भक्ति और अवतार-माहात्म्य आदिका निरन्तर उपदेश देकर समाजका कल्याण किया और लोगोंको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गकी ओर प्रवृत्त किया।

देवर्षि नारद

सामान्यतः जनसाधारणमें यह माना जाता है कि जहाँ कहीं झगड़ा कराना हो वहाँ नारदजी ही प्रधान कारण बन जाते हैं। ज्योतिषके ग्रन्थोंमें भी नारदका स्थान कलहका निवास-स्थान वताया गया है—

शुक्लादि तिथ्यो गतवासराद्या मन्दैर्युता रामविभाजिताः स्युः।
एकावशेषे सुरराजलोके स्यान्नारदो मृत्युगते द्वितीये॥
शेषैस्त्रिभिर्भोगिपुरेऽवतिष्ठेत् तत्रैव युद्धं खलु यत्र संस्थः॥

[शुक्ल प्रतिपदासे लेकर बीती हुई तिथियों-तककी गणना करके उनमें बीते हुए वारोंके साथ ९ और जोड़ लिए जायँ। कुलको तीनसे विभक्त करनेपर १ बचे तो नारदका वास स्वर्गमें, २ बचे तो मर्त्य-लोकमें और ३ बचे तो पातालमें होता है। जहाँ नारदका स्थान हो वहीं युद्धका स्थान होता है।]

किन्तु यह सब होते हुए भी नारदजीको सदा अत्यन्त सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है। वे देवर्षि माने जाते हैं और 'नारदः कलहप्रियः' होते हुए भी ऐसे विवरणोंका अभाव नहीं है जहाँ उनकी महत्ताका भी यशोगान किया गया है।

पूर्व जन्मकी कथाएँ

वे ब्रह्माजीके मानस पुत्र थे। विभिन्न पुराणोंमें उनके अन्य अनेक जन्मोंकी बड़ी रोचक कथाएँ मिलती हैं। एक बार वे उपवर्हण नामक गन्धर्व थे और उन्होंने पचास स्त्रियोंके साथ विवाह किया था। दूसरे जन्ममें गोपराज द्रुमलको धर्मपत्नी कलावतीके गर्भसे उत्पन्न होकर वे दासी-पुत्र नारद कहलाए। एक अन्य जन्ममें कश्यपके यहाँ उत्पन्न होकर वे काश्यप नारदके नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार इनके अनेक जन्मोंका विस्तृत विवरण मिलता है।

विद्याग्रहण

नारदजीने अपने पिता ब्रह्माजीसे ही सभी परा और अपरा विद्याएँ सीख ली थीं। स्वयं नारदजीने अपने पिताजीसे कहा था—

> स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।

[भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, कल्प, गणित, उत्पात-विद्या, निधि, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, सर्पदेव-जन-विद्या, दर्शन, निरुक्त, धनुर्विद्या और गायन-विद्या आदिका भलो-भाँति अभ्यास कर लिया है।]

भगवान्‌का आदेश

इसके पश्चात् ब्रह्माजीने उन्हें आदेश दिया कि अब तुम विवाह कर लो। किन्तु नारदजीको इस आदेशसे बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने अपने पिताजीसे प्रार्थना की कि मुझे इस विषय-भोगमें मत फँसाइए। मुझे आप कृष्ण-भक्ति ही प्रदान कीजिए।

पहले तो ब्रह्माजीने उन्हें बहुत समझाया किन्तु जब देखा कि वे किसी प्रकार विचलित नहीं होते तब उन्होंने आज्ञा दे दी और वे कई सहस्र वर्षतक तपस्या करते रहे। अन्तमें उन्हें भगवान्के दर्शन हुए और वे बदरिकाश्रममें जाकर भगवान्से कथाएँ सुनते रहे। बदरिकाश्रममें कुछ दिन रह चुकनेपर जब वे ब्रह्म लोक जानेके लिये प्रस्तुत हुए तब भगवान्ने उनसे कहा कि तुमने जो मार्ग ग्रहण किया है वह है तो बड़ा कल्याणकारी किन्तु उसमें एक बाधा उपस्थित हो रही है जिसे तुम दूर कर डालो। बाधा यह है कि महाराज सृंजयकी कन्या तुम्हें पति बनानेके लिये तपस्या कर रही है। उसकी तपस्या व्यर्थ नहीं जायगी इसलिये पहले तुम उससे विवाह करके उसका तप सफल कर डालो। इसी प्रसंगमें भगवान्ने उन्हें बताया कि एक कल्पमें तुम उपबर्हण नामक गन्धर्व थे और तुम्हारे पचास स्त्रियाँ थीं। उनमेंसे एक स्त्रीने शंकरजीकी आराधना करके तुम्हें पति रूपमें माँग लिया था। वही स्त्री अब सृंजयकी कन्या स्वर्णग्रीवाके नामसे उत्पन्न होकर तप कर रही है।

स्वर्णग्रीवासे विवाह

भगवान् नारायणके उपदेशके अनुसार नारदजीने स्वर्णग्रीवासे विवाह कर लिया और उसके प्रेममें इतने अधिक निमग्न हो गए कि उन्हें सारा पूर्व ज्ञान विस्मृत हो गया। वे किसी-किसी प्रकार सनत्कुमारजीके उपदेशसे इस बन्धनसे मुक्त हो पाए।

दक्ष प्रजापतिके पुत्रोंको उपदेश

श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके पाँचवे अध्यायमें विवरण आता है कि एक बार नारदजीने एक ही दिनमें दक्ष-प्रजापतिके दस सहस्र पुत्रोंको आत्म-ज्ञानका उपदेश प्रदान किया और उन्हें परमहंसके धर्मका उपदेश दिया। यह उपदेश सुनकर वे सबके

सब सांसारिक कर्म-धर्म छोड़कर संन्यस्त होकर चल दिए। इससे दक्ष प्रजापतिको बड़ा क्लेश हुआ और उन्होंने अपनी स्त्री असिक्नीसे एक सहस्र सबलाश्व नामक मानस पुत्र उत्पन्न किए। उन्होंने प्रजाकी उत्पत्तिका निश्चय करके उसी नारायणाश्रम तीर्थ-पर जाकर तपस्या की जहाँ उनके बड़े भाई सिद्ध लोग तपस्या कर रहे थे। वहाँ जाते ही प्रणवका जप करनेसे उन सबका मन भी निर्मल हो गया और नारदजीने उन्हें भी आत्मज्ञानका उपदेश दे डाला। जब दक्ष प्रजापतिको इसकी सूचना मिली तो वे बड़े रुष्ट हुए। संयोगसे उसी समय नारदजी भी वहाँ आ पहुँचे। नारदजीको देखते ही दक्ष प्रजापति भड़क उठे और उन्होंने शाप दे डाला कि 'तूने साधुओंका वेष धारण करके मेरे पुत्रोंको भिक्षुकोंके मार्गपर चला दिया है, मैं तुझे शाप देता हूँ कि तेरा सारा जीवन संसारमें भ्रमण करते हुए ही बीते और तू कहीं एक स्थानपर ठहरकर न रह सके।' नारदजीने यह सब सुना और हँसते हुए वहाँसे चल दिए।

ध्रुवको उपदेश

श्रीमद्भागवतमें कथा प्रसिद्ध ही है कि राजा उत्तानपादको छोटी रानीके पुत्र ध्रुवको नारदजीने ही द्वादशाक्षर मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का उपदेश दिया था जिससे उन्होंने ध्रुव-लोक प्राप्त कर लिया।

चित्रकेतुको ज्ञान प्रदान

नारदजीके सम्बन्धमें एक कथा प्रसिद्ध है कि शूरसेन-वंशीय राजा चित्रकेतुने पुत्रेष्टि-यज्ञके द्वारा पुत्रका मुख तो देखा किन्तु संयोगवश अन्य रानियोंको उस राजकुमारके उत्पन्न होनेसे बड़ा ईर्ष्या हुई और उन्होंने राजकुमारको विष दे डाला। फिर क्या था, सारे राज्य भरमें हाहाकार मच गया। नारदजीने आकर उन्हें बहुत उपदेश भी दिया फिर भी राजा और रानीका

शोक किसी प्रकार कम नहीं हुआ। तब नारदजीने उस मृत राजकुमारके आत्माका आह्वान किया जो उस मृत शरीरमें आकर प्रविष्ट हो गया। उस मृत शरीरमें प्रविष्ट राजकुमारको सम्बोधन करके नारदजीने कहा कि 'हे जीवात्मा! देख, तेरे इस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। इसलिये तू इसी शरीरमें रहकर सब राजसी सुखोंका भोग कर और समय आनेपर राज्यका शासन कर।'

नारदजीके यह वचन सुनकर राजकुमारके आत्माने कहा—'भगवन्! मैंने अनेक जन्मोंमें अनेक योनियोंमें भ्रमण करके अनेक पुत्र-पौत्र आदि सम्बन्धी बनाए हैं किन्तु अब कोई मेरा सम्बन्धी नहीं रहा क्योंकि शरीरके नाश होते ही वह आत्मा सम्बन्ध-रहित हो जाता है जो नित्य, विकार-शून्य, सूक्ष्म, सबका आश्रय, स्वयं-प्रकाश और विभु है। उसका न कोई प्रिय होता है न वैरी। वह तो सदा उदासीन और ईश्वर होकर कार्य-कारणका द्रष्टा मात्र रह जाता है।'

इतना कहकर राजकुमारका आत्मा शरीर छोड़कर चला गया। उसका उपदेश सुनकर महाराज चित्रकेतु और उनकी रानीने शोकका परित्याग कर दिया और राजकुमारकी हत्या करनेवाली सब रानियाँ हाथ मल-मलकर पछताने लगीं। महाराज चित्रकेतु भी सब राजपाट त्यागकर यमुनामें स्नान करके नारदजीके चरण पकड़कर और उनसे दीक्षा लेकर परमार्थमें लीन हो गए।

प्रह्लादको मंत्रोपदेश

श्रीमद्भागवतके सप्तम स्कन्धमें कथा आई है कि भक्त प्रह्लादको नारदजीने ही 'नारायण-नारायण' मन्त्र जपनेका उपदेश किया था जिससे प्रह्लाद सब प्रकारके कष्टोंसे मुक्त होकर भगवान्के परम भक्त बन गए।

नारदजीके लोक-कल्याणकारी कार्य

अनेक पुराणोंमें ऐसी बहुत-सी कथाएँ आती हैं कि नारदजीने दैत्योंके कल्याणके लिये उन्हें उपदेश दिया, बाणासुरकी रानीको धर्मका उपदेश दिया और जब विश्वरूप नामक ब्राह्मणके वधके कारण इन्द्रको इन्द्र-पदसे गिरकर जलमें छिपकर दिन व्यतीत करने पड़े तब नारदजीने ही महाराज नहुषको इन्द्र-पद प्रदान कराया। इतना ही नहीं, नारदजीने ही सांसारिक जीवोंके उद्धारके लिये वैदिक पञ्चदेव (सूर्य, शक्ति, विष्णु, शङ्कर और गणेशजी) की प्रतिमाओंकी स्थापना और पूजाका विधान बताया तथा तीर्थ-यात्राका महत्त्व समझाया।

सात्वत धर्मका उपदेश

एक बार जब नारदजी बदरिकाश्रममें नारायणके पास गए तब उन्होंने नारायणको प्रणाम करके पूछा कि वेद तथा पुराणोंमें आपके पूजनका तो विधान किया गया पर आप किसका पूजन और तर्पण करते हैं। इसपर नारायणने कहा कि 'जो इन्द्रियातीत, अमेय, अव्यक्त, अचल और ध्रुव तत्त्व है वही समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है। वह सत्त्व, रज और तमोगुणसे रहित है। फिर भी इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिकी उत्पत्ति उसीसे होती है। देव तथा पितृ-कार्योंमें मैं उसीका पूजा करता हूँ क्योंकि उससे बढ़कर कोई परम देव नहीं है। जो वेदज्ञ और आश्रम-धर्मी लोग विधि-पूर्वक उस परमात्मामें भक्ति करते हैं उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है और वे अन्तमें परमात्म-रूपमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं।' इसके पश्चात् भगवान्‌ने अपनी चारों मूर्तियों (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) का रूप दिखाकर विस्तारसे उनका महत्त्व समझाया और नारदजीको सात्वत धर्म अर्थात् पांचरात्र-शास्त्रका उपदेश प्रदान किया।

नारदजीकी महत्ता

नारदजी सर्वज्ञ हैं, आदि गुरु हैं तथा भूत, भविष्य, और वर्तमानके ज्ञाता हैं। वे परम भागवत हैं और भक्ति-सूत्रके रचयिता हैं। वे ज्ञान-विद्याके परम आचार्य हैं। उन्होंने जाम्बवती, सत्यभामा और रुक्मिणीसे सङ्गीत-विद्या सीखकर संसारमें उसका प्रचार किया। इससे पूर्व उन्होंने उलूकेश्वरसे भी गान-विद्या सीखी थी। उन्होंने अपनी सङ्गीत-विद्याका प्रयोग केवल भगवद्-भजनमें ही किया जो वास्तवमें सङ्गीत-विद्याका उद्देश्य है।

वाल्मीकीय रामायणके अनुसार वाल्मीकि ऋषिने जिस मूल रामायणके आधारपर अपने रामायणकी रचना की वह नारदजी-द्वारा वर्णित मूल रामायण ही है।

नारद-संहितामें जिन १८ ज्योतिषाचार्योंका उल्लेख मिलता है उनमें नारदजीका भी नाम है। नारदजी ऋग्वेदके आठवें मंडलके तेरहवें सूक्तके मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी हैं। इस प्रकार वेदोंमें भी उनका विवरण आता है।

नारदजीने अपने जीवनसे जहाँ एक ओर आत्म-तत्त्वके महत्त्वकी शिक्षा दी वहीं लोक-कल्याणका मार्ग भी प्रशस्त किया।

व्राभ्रव्य मुनि

नारदजीके पट्ट शिष्योंमें वाभ्रव्य मुनिके नामका उल्लेख मिलता है। स्कन्द-पुराणके माहेश्वरी-खण्डके अन्तर्गत कौमारिका-खण्डमें वर्णन आया है कि नारदजीके संकेत-पर उन्होंने अर्जुनको वह स्तोत्र सुनाया जो भगवान् कृष्णने उग्रसेनको सुनाया था और जिसे देवराज इन्द्र नित्यप्रति पढ़ा करते थे। उसी ग्रन्थमें लिखा हुआ है कि हारीत वंशके वाभ्रव्य नामक एक ब्राह्मण नारदजीके पास सदा रहा करते थे। इसके अतिरिक्त वाभ्रव्य मुनिका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता।

दाल्भ्य मुनि

छान्दोग्य-उपनिषद्के प्रथम प्रपाठकके अष्टम खण्डमें महामुनि

दाल्भ्यकी कथा मिलती है कि एक बार शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य और प्रवाहण जैवलि तीनों ऋषियोंने सामवेदके वास्तविक आश्रयपर गम्भीर विचार-विमर्श किया था। उसी छान्दोग्य-उपनिषद्में दूसरी कथा भी आई है कि एक दिन महामुनि दाल्भ्य जिस समय स्वाध्यायके लिये निर्जन स्थानमें बैठे थे उसी समय उन्होंने देखा कि एक बड़ा-सा श्वेत कुत्ता खड़ा है और उसके पास खड़े हुए अन्य कुत्ते उससे अन्नकी प्रार्थना कर रहे हैं। इसपर उस बड़े कुत्तेने उन्हें दूसरे दिन प्रातःकाल आनेके लिये कहा। दूसरे दिन दाल्भ्य भी वहाँ पहुँच गए और उन्होंने देखा कि वहाँ बैठकर उस बड़े कुत्तेने अन्य कुत्तोंको निम्नांकित मंत्र बताया जिसके आधारपर दाल्भ्य मुनि भी अन्न प्राप्त करनेकी विद्या सीख गए—

ओमदामों पिबामों देवो वरुणः प्रजापतिः
सविताऽन्नमिहाऽऽहरदन्नपतेऽन्नमिहाहराऽऽहरोमिति।

[हम खायें, हम पीएँ। देव, वरुण, प्रजापति, सविता हमारे लिये अन्न लावें। हे अन्नके स्वामी! अन्न लाओ।]

महाभारतमें भी कथा आती है कि जब महाभारतके युद्धके पश्चात् युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये अर्जुनके-संरक्षणमें अश्वमेधका घोड़ा छोड़ा तो वह घोड़ा घूमते-घामते समुद्रका उल्लंघन करके एक निर्जन द्वीपमें चला गया जहाँ एक वृक्षके नीचे पत्ते बिछाकर एक अद्भुत मुनि लेटे हुए मिले। उसी प्रसंगमें उन मुनिने बताया कि 'हमारे देखते-देखते न जाने विश्वमें कितने परिवर्तन हो चुके और न जाने कितनी बार तुम्हारा और कृष्णका जन्म हो चुका और न जाने कितनी बार महाभारतका संग्राम हो चुका।' यही महामुनि दाल्भ्य थे।

जयमुनि

महामुनि दाल्भ्यके शिष्य जयमुनिजी थे। वे घूम-घूमकर महाभारतकी कथा सुनाया करते थे। इनके सम्बन्धमें कोई विशेष उल्लेख नहीं प्राप्त होता।

संजीवनमुनि

कहा जाता है कि युधिष्ठिरकी प्रथम शताब्दीमें संजीवनमुनि विद्यमान थे जो जयमुनिजीके शिष्य रह चुके थे और जिन्हें संजीवनी विद्याका प्रयोग भी आता था। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने ही उन काश्यप ऋषिको संजीवनी विद्या सिखाई थी जो परीक्षितको तक्षकके विषसे बचानेके लिये गए थे। किन्तु इन्होंने कब और किस प्रसंगमें जयमुनिजीसे दीक्षा ली थी इसका कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं है।

पद्ममुनि

संजीवन मुनिके अनन्तर युधिष्ठिरकी आठवीं शताब्दी-तक १७ उदासीन मुनि हुए किन्तु उनका कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। युधिष्ठिरकी आठवीं शताब्दीमें पद्म मुनिका जो विवरण प्राप्त होता है उसकी ऐतिहासिकता प्रामाणिक नहीं है। उनके सम्बन्धमें यही कहा जाता है कि उन्होंने देशसे नास्तिकता दूर करनेके लिये वेदोंका प्रचार प्रारम्भ किया, किन्तु वे कहांके थे और इनके गुरु कौन थे यह बताना सम्भव नहीं है।

विधिदेव

युधिष्ठिरकी ग्यारहवीं शताब्दीमें सत्यमुनिजीके शिष्य विधिदेव बताए जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि पद्म मुनिसे लेकर विधि-देव-तक ग्यारह मुनि हुए थे।

श्रुतिसिद्ध

विधिदेवसे लेकर श्रुतिसिद्ध मुनि-तक तीन मुनि हुए बताए जाते हैं। ये श्रुतिसिद्ध मुनि युधिष्ठिरकी बारहवीं शताब्दीमें सुजन-मुनिके शिष्य थे।

सुवेशमुनि

विक्रमीय संवत्से पाँच सौ वर्ष पूर्व हिरण्यकेश मुनिके शिष्य सुवेशमुनिका विवरण मिलता है। कहा जाता है कि श्रुतिसिद्धसे

सुवेशमुनि तक चौंतीस मुनि हुए किन्तु उनमें किसीका पूरा विवरण प्राप्त नहीं होता। सुवेशमुनिके सम्बन्धमें यही कहा जाता है कि उन्होंने जैनों और बौद्धोंके नास्तिकवादसे लोहा लेकर वैदिक धर्मकी रक्षा की। सुवेशमुनिसे सुयत्न मुनि-तक सात मुनि हुए किन्तु उनका भी कोई विवरण प्राप्त नहीं है।

सुयत्नमुनि

सुयत्न मुनिके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वे लोकपाल मुनिके शिष्य थे और उन्होंने मुनियोंके अलग अलग मंडल बनाकर तपस्या, तत्त्वज्ञान और स्वतंत्रताका प्रचार किया।

सुनयमुनि

सुयत्न मुनिके शिष्य सुनय मुनि हुए जिन्होंने अपने गुरुके समान ही तपस्याका महत्व समझाया और सम्भवतः विक्रम पूर्व २१८ में सुवेश मुनिके ब्रह्मलीन होनेके अनन्तर उनका स्थान ग्रहण किया।

अभयमुनि

सुनय मुनिके शिष्योंमें अभयमुनि अधिक प्रसिद्ध हुए जिन्होंने योगमें अद्भुत शक्ति प्राप्त कर ली थी।

रोचिष्णु मुनि

अभय मुनिके शिष्य रोचिष्णु मुनि थे जो अत्यन्त उत्साही, तेजस्वी और दृढप्रतिज्ञ थे। उन्होंने भी अपने गुरुके समान वैदिक धर्मका प्रचार किया था।

रोचिष्णु मुनिसे पंचम स्थानपर चन्द्रमुनि हुए जो श्रुतपा नामक मुनिके शिष्य थे।

महेशमुनि

चन्द्रमुनिसे महेशमुनि-तक चौदह मुनियोंका जो नाम-विवरण मिलता है उनमेंसे महेश मुनि चिदानन्द मुनिके शिष्य थे। इन

बीचके मुनियोंका कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। महेश मुनिके सम्बन्धमें कहा जाता है कि उन्होंने नैतिक एकता, वैदिक यज्ञ आदिका पुनः प्रचलन और पूर्वजोंके विनष्ट स्मारकोंका पुनरुद्धार ये तीन मुख्य कार्य किए।

हारीतमुनि

हारीत मुनिने शोभन मुनिसे दीक्षा ली थी। इन्होंने भी वैदिक धर्मका प्रचार किया।

बप्पा

यह भी कहा जाता है कि मेवाड़ वंशके प्रसिद्ध वीर बप्पा रावल भी हारीत मुनिके शिष्य थे किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है।

लोकप्रियमुनि

हारीतमुनि और लोकप्रिय मुनिके बीच लगभग पाँच सौ वर्षका अन्तर पड़ता है जिसमें लगभग २६ मुनियोंके होनेका विवरण प्राप्त होता है किन्तु इनमें किसीका भी कोई प्रामाणिक परिचय उपलब्ध नहीं होता। लोकप्रिय मुनिने भी अन्य प्राचीन मुनियोंकी परम्परामें रहकर तत्कालीन भारतकी नैतिक और धार्मिक स्थिति-को दृढ बनानेका प्रयत्न किया। कहा जाता है कि लोकप्रिय मुनिने पारस्परिक विरोध दूर करके हिन्दुओंके संघटनका महत्त्वपूर्ण कार्य किया और शैव, शाक्त तथा वैष्णव आदि सब सम्प्रदायों-को समान रूपसे देखते हुए पञ्चदेवोपासनाका प्रचार करके सबका पारस्परिक भेद-भाव मिटानेका प्रयत्न किया।

इस बीच शङ्कराचार्यजी और कुमारिल भट्टके प्रयत्नसे अद्वैतवाद अत्यन्त वेगसे बढ़ने लगा। शङ्कराचार्यजीके केवलाद्वैतके पश्चात् अद्वैतवादके अनेक अर्थ लगाए गए और उन अर्थोंके अनुसार भारतवर्षमें रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द, चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्यजीने अपने-अपने मतके

अनुसार अद्वैतकी व्याख्या की और उस व्याख्याके अनुसार हमारे यहाँ केवलाद्वैतके पश्चात् विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत आदि मतोंका प्रचार हुआ।

उदासीन साधु-परम्परामें लोकप्रिय मुनिसे लेकर अविनाशी मुनि-तक १६ उदासीन मुनियोंका उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु उनका कोई क्रमिक इतिहास या विवरण प्राप्य नहीं है।

अविनाशी मुनि

अविनाशी मुनिका जन्म अजमेरके एक विद्वान् ब्राह्मणके घर हुआ था। बचपनसे ही वैदिक संस्कार पड़ जानेके कारण थोड़े ही दिनोंमें उन्होंने सम्पूर्ण वेद, वेदांग आदि चतुर्दश विद्याएँ आत्मसात् कर लीं। एक दिन वे सहसा घरसे निकल पड़े और इधर-उधर गुरुकी खोजमें घूमते हुए आबू पर्वतपर जा पहुँचे जहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे ऋषियों, मुनियों, साधुओं और सन्तोंका समागम होता रहता था। उन्हींका सत्सङ्ग करते हुए वे एक दिन संयोगवश श्री वेदमुनिकी ओर जा निकले। उनके सम्पर्कसे उन्हें यह अनुभव होने लगा कि मेरे मनमें उलझी हुई समस्त लौकिक और पारमार्थिक गुत्थियोंका समाधान इन्हींसे हो सकता है। तदनुसार उन्होंने अत्यन्त विनय-पूर्वक अपने मनकी सारी कठिनाइयाँ, समस्याएँ और प्रश्न उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दिए। जब श्री वेदमुनिने उनके सभी प्रश्नोंका सटीक उत्तर देकर, उनकी समस्याओंका समुचित समाधान करके और उनके प्रश्नोंका याथातथ्य विवेचन करके उनकी सब शंकाओंको पूर्णतः निर्मूल कर दिया तो वे उनसे इतने अधिक प्रभावित हुए कि तत्काल उनके अनन्य भक्त बन गए।

दीक्षा

अविनाशी मुनिने विरक्तिके कारण ही घरका त्याग किया था क्योंकि उनकी वृत्तियाँ बाल्यावस्थासे ही निवृत्ति-परक

हो चुकी थीं। अतः, ज्योंही उन्हें योग्य गुरु प्राप्त हुए त्योंही वे २४ वर्षकी अवस्थामें ज्ञानचक्षु-उद्घाटक सुयोग्य गुरु पाकर संवत् १५३८ विक्रमीमें श्रीवेदमुनिसे दीक्षा लेकर उदासीन साधु हो गए।

देश-सेवाका व्रत

आबू पर्वतपर उन्होंने अनेक अग्नि-कुण्डोंके अवशेष देखे जिनमेंसे वेद-विद्याके विद्वान् श्रोत्रियोंने म्लेच्छोंके विध्वंसके लिये परमार, प्रतिहार (परिहार), सोलंकी और चौहान नामक चार क्षत्रियकुमार उत्पन्न किए थे। इन्हीं चारों राजकुमारोंके परिवारके वीर राजपुत्रोंने म्लेच्छोंसे लोहा लेकर समय-समयपर भारतकी रक्षा की। इन कुण्डोंका दर्शन करके उनके मनमें यह चिन्ता होने लगी कि वह भी कैसा युग था जब अनेक वेद-विद्या-विशारदोंने इस देवभूमि भारतकी रक्षाके लिये वैदिक यज्ञ कराकर ऐसे वीर महापुरुषोंको उत्पन्न करानेमें योग दिया जिन्होंने अपने शौर्य और पराक्रमसे भारतके अत्याचारी तथा हिन्दू संस्कृतिके विध्वंसक म्लेच्छ दस्युओंको समाप्त करके और उनकी शक्ति क्षीण करके भारतीय संस्कृतिकी पुनः स्थापना की। इसी प्रकार विचार करते हुए उन्होंने निश्चय किया कि यदि हमारी दैवी शक्तियाँ इतनी उदात्त नहीं हो पाई हैं कि हम यज्ञ-क्रिया अथवा दैवी प्रयत्नोंसे शूर-वीर और पराक्रमी राजकुमार उत्पन्न कर सकें तो कमसे कम इतना तो अवश्य कर सकते हैं कि हम अपने प्रयत्नोंसे, अपने चरित्र और कार्योंसे ऐसे विलक्षण महापुरुष प्रस्तुत करके उन्हें ऐसी प्रेरणा दें कि वे भारतवर्ष और हिन्दू धर्मकी रक्षाके लिये लोगोंमें सात्त्विक जीवनकी प्रेरणा देनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहें। यह निश्चय करके उसी समय उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके देशकी सेवाका संकल्प ले लिया।

धार्मिक प्रवचन

इस प्रकारका संकल्प करके वे आबू पर्वतसे चलकर पंजाब जा पहुँचे जहाँ उन्होंने धार्मिक प्रवचनके द्वारा निराश जनतामें वैदिक धर्मका प्रचार करना प्रारंभ कर दिया क्योंकि उन दिनों इसलाम धर्मके प्रचारकगण तत्कालीन मदान्ध तथा धर्मान्ध शासकोंका आश्रय पाकर छल-बल-कौशलसे भोली-भाली हिन्दू जनताको मुसलमान बनानेके निमित्त किसी प्रकारका भी उपाय काममें लानेसे नहीं हिचकते थे। उस समयके छिट-पुट हिन्दू राजा भी इतने असंघटित थे कि वे स्वयं परस्पर युद्ध करते हुए एक दूसरेकी शक्ति क्षीण करनेके साथ-साथ हिन्दू धर्म और संस्कृतिकी शक्ति भी क्षीण करते जा रहे थे।

अविनाशी मुनिजीका कार्यक्षेत्र केवल प्रान्तकी सीमा-तक ही परिमित नहीं था। वे समस्त देशमें घूम-घूमकर अपने उपदेशोंसे भारतीय हिन्दू-जनताको उपकृत और उत्साहित करते जा रहे थे। संवत् १५७५ विक्रमीमें वे सहसा किसी अदृष्ट संयोगसे कश्मीरके प्रसिद्ध तीर्थं अमरनाथकी यात्राके लिये चल पड़े।

कश्मीरमें स्वागत

ज्यों ही श्री अविनाशी मुनिने कश्मीरकी सीमामें चरण रक्खे त्योंही सम्पूर्ण कश्मीरकी भावुक जनतामें आनन्द और उल्लासकी लहर दौड़ गई। उस समय कश्मीरमें तीसरी बार सैयद वंशवालोंका दौहित्र मुहम्मदशाह शासन कर रहा था इसलिये कश्मीरमें उन दिनों सैयदोंका ही दबदबा था। अविनाशी मुनिके आगमनसे पूर्व कश्मीरमें एक बड़ी लोमहर्षक घटना हो चुकी थी। श्रीकण्ठ भट्ट आदि विद्वानोंने सोम राजानकके समयसे विलुप्त होनेवाली सम्पूर्ण हिन्दू क्रियाओं और संस्कारोंका जब पुनरुद्धार प्रारम्भ किया तब ख्वाजा मीर अहमदने निर्मल आदि सभी प्रतिष्ठित ब्राह्मणोंको यह कहकर तलवारके घाट उतार दिया कि अब न तुम्हारा ब्रह्मतेज रह गया है, न आचार ही रह गया है। इस दुष्काण्डसे कश्मीरकी जनता बहुत क्षुब्ध तो हुई किन्तु इतना साहस किसीमें नहीं हुआ कि उस आततायी

यवन शासकके विरुद्ध विद्रोह करके इस भयंकर हत्याकाण्डका प्रतिशोध ले। अतः, जब अविनाशी मुनिके आगमनका समाचार कश्मीरमें प्राप्त हुआ तब वहाँके हिन्दू इस आशासे अधिक उल्लसित हुए कि स्वयं भगवान् ही हमारी रक्षाके लिये अवतार लेकर आ गए हैं।

तपोबलका प्रभाव

जिस समय अविनाशी मुनि उदासीन कश्मीर पहुँचे और वहाँ वे अपनी ओजस्विनी वाणीसे सनातनधर्मके शाश्वत वैभवकी व्याख्या करके अन्य सम्प्रदायोंकी संकुचित वृत्तियोंका विश्लेषण करने लगे, उस समय जहाँ एक ओर लोगोंको यह मानसिक सन्तोष प्राप्त हो रहा था कि अब निश्चय ही हमारा कल्याण होगा, वहीं दूसरी ओर उन्हें पिछले हत्याकाण्डका स्मरण करके यह भय भी हो रहा था कि कहीं अविनाशी मुनिजीपर भी कोई विपत्ति न घहरा पड़े। किन्तु भारतवर्ष-भरमें उनके चरित्र, तपोबल और तेजका इतना आतंक व्याप्त था कि कश्मीरके यवन शासकमें इतना साहस न हुआ कि उनके उपदेशोंमें बाधा दे सके।

योग्य शिष्यकी प्राप्ति

उन दिनों कश्मीरमें श्रीचन्द्रजी भी विद्याध्ययन कर रहे थे। जब उनके गुरुजीने उन्हें बताया कि भारतके प्रसिद्ध तपस्वी अविनाशी मुनिजी यहाँ पधारे हैं तो उनसे मिलनेके लिये उनके मनमें बड़ी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। फलतः, अगले दिन जब वे अविनाशी मुनिजीके सम्मुख पहुँचे तो उनके तेज, वाक्सिद्धि और विद्यासे प्रभावित होकर उन्होंने तत्काल उन्हें अपना गुरु मान लिया। वहाँसे अपने स्थानपर लौट आनेपर उनके मनमें बड़ा उद्वेग होने लगा। मस्तिष्कमें उठे हुए समस्त विचार स्वयं पारस्परिक द्वन्द्वसे उलझ-उलझकर एक दूसरेसे संघर्ष करने

लगे। अपने भावी कर्त्तव्यके बीच आ पड़नेवाले कौटुम्बिक मोह और माताके ममत्वने उनके हृदयका भली-भाँति मंथन कर डाला। वे सोचने लगे कि क्या हमारा कर्त्तव्य केवल संसारके प्रति ही है, घरवालोंके प्रति कुछ भी नहीं? क्या केवल विरक्त होकर ही लोक-कल्याण किया जा सकता है, गृहस्थ होकर नहीं? ये दो प्रश्न सम्पूर्ण जटिलताओंके साथ उनके मनको रौंदे डालने लगे और वे अपने ज्ञान-संस्कार, शास्त्र तथा आप्त-वचनके सहारे उस जटिलतामेंसे समुद्भूत प्रश्नोंका क्रमशः समाधान और निराकरण करने लगे। अन्तमें प्राक्तन जन्मके संस्कार बलवान् होकर इस जन्मके सम्पूर्ण बन्धनोंका समर्थन करनेवाली प्रक्रियाओंपर प्रहार करने लगे और जिस प्रकार प्रचण्ड वायुसंघातके चपेटोंसे विशाल घनखण्ड भी फट-फटकर तितर-बितर हो जाता है और पीछे उठा हुआ चन्द्रमा अपनी धवल चन्द्रिकासे तमसाच्छन्न धरणीको चन्द्रिका-स्नान कराने लगता है उसी प्रकार उनके मनसे सब तर्क-वितर्क लुप्त हो गए। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मेरा जन्म लोक-कल्याणके लिये ही हुआ है, विवाह करके गृहस्थी चलाने और व्यापार करनेके लिये नहीं।

तदनुसार अगले दिन वे सीधे श्री अविनाशी मुनिजीके पास जा पहुँचे और उन्होंने अपना सङ्कल्प उनसे कह सुनाया। श्री अविनाशीजी तो चाहते ही थे कि मुझे कोई ऐसा सुयोग्य शिष्य प्राप्त हो जो अपनी तपस्या, चरित्र और सङ्कल्प-बलसे लोगोंमें नवीन जीवन भर सके और उन्हें प्रेरणा देकर सात्त्विक जीवनकी ओर प्रवृत्त कर सके। उन्होंने तत्काल श्री चन्द्रजीको शिष्य-रूपमें स्वीकार कर लिया और उन्हें उदासीन-परम्पराके अनुसार दीक्षित कर लिया।

तत्कालीन मिथ्या-ब्रह्मवाद

यद्यपि श्री श्रीचन्द्रजीने अपने सन्त पिता नानकजीके घर ही शिक्षा-दीक्षा पाई थी किन्तु नानकजीकी निर्गुणवादी पद्धति उन्हें

तनिक भी अच्छी नहीं लगी। उसका प्रथम कारण तो यह था कि श्री श्रीचन्द्रजीका पालन-पोषण ननिहालमें हुआ था जहाँ सभी लोग देवोपासक, मूर्तिपूजक तथा भारतीय संस्कृति और आचार-विचारके प्रति आस्थावान् थे। दूसरा प्रबल कारण यह था कि श्रीचन्द्रजीने कश्मीरमें जहाँ शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी वहाँ उन्होंने वैदिक धर्मानुष्ठानका विधिवत् अध्ययन और पालन भी किया था। स्वभावतः, वे नानकजीकी उस निर्गुणवादी वैराग्य-वृत्तिके अनुयायी नहीं हो सकते थे जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड तथा वैदिक आचार-पद्धतिके प्रति तनिक भी आस्था नहीं थी। यही कारण था कि उनके जीवनपर नानकजीका कोई भी प्रभाव न पड़ सका और उन्होंने अपना वह मार्ग अपनाया जो पूर्णतः वैदिक-परम्परासे आबद्ध था। तीसरा कारण यह था कि उनके गुरु श्रीअविनाशी मुनिने उन्हें जिस मार्गमें दीक्षित किया था वह पूर्णतः नानकजीके मार्गसे भिन्न था। यही कारण है कि नानकजीके पुत्र होते हुए भी वे उस समयके मिथ्या ब्रह्मवादके भ्रमजालमें न उलझ पाए।

उस समय ब्रह्मवाद कितना भ्रामक और पाखण्ड-पूर्ण हो गया था इसका आभास गोस्वामी तुलसीदासके उस दोहेसे मिल सकता है जिसमें उन्होंने तत्कालीन दम्भी, आडंबरपूर्ण, पाखण्डी ब्रह्मवादियोंको ललकारते हुए कहा था—

हम लखि, हमहिं, हमार लखि, हम हमारके बीच।
तुलसी अलखहि का लखै, राम-नाम जपु नीच॥

यह ब्रह्मवादका आतंक इतने प्रबल वेगसे फैल गया था कि वर्णाश्रम-धर्मकी समस्त मर्यादा सर्वथा लुप्त हो चली थी और कोई भी व्यक्ति जनेऊ उतारकर, चुटिया कटाकर, सिर मुँड़ाकर, ब्रह्मवादी बनकर, 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अलख जगाता फिरता था। यह मर्यादा इतनी विशृंखल हो गई थी कि इसका परिचय देते हुए गोस्वामीजीने ही कहा था—

बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुमतें कछु घाटि।
ग्रह जे जानहिं विप्र ते, आँख दिखावहिं डाँटि॥

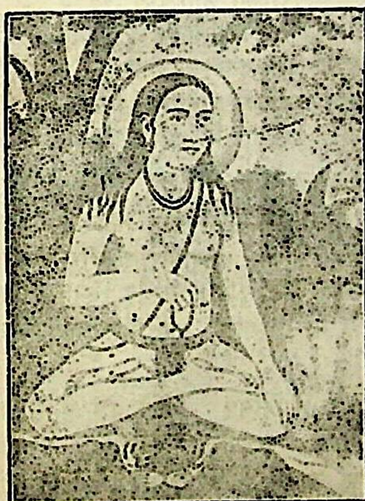
अतः, नानकजी तथा अन्य तत्कालीन समाज-सुधारक संतोंने जो व्यक्तिगत चरित्रसे लोक-कल्याणकी भावना पल्लवित करनेके लिये और पारस्परिक हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य दूर करनेके लिये ब्रह्मेश्वर-वादका मध्यम मार्ग ग्रहण किया था उसका सामान्य लोगोंने अनुचित लाभ उठाया। उसका भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ कि समाजमें चारों ओर भयंकर अराजकता व्याप्त हो गई। ऐसी स्थितिमें श्री श्रीचन्द्राचार्यजीने अपने गुरु अविनाशी मुनिसे दीक्षा लेकर अपने पिता नानकदेवके विचारोंके विरुद्ध प्राचीन वैदिक पद्धतिका पुनरुद्धार करनेका सत्संकल्प कर लिया। यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी थी।

सप्तम प्रकरण



जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्य

भगवान् श्रीरामचन्द्रने साकेत-लोक प्रस्थान करनेके पूर्व ही अपने ज्येष्ठ पुत्र कुशके नामपर विन्ध्य-पर्वतमालाके एक ओर कुशावती नगरी वसा दी जिसे कुशने अपनी राजधानी बना ली थी। रामके कनिष्ठ पुत्र लवने लवपुर (लाहौर) में अपने राज्यका केन्द्र स्थापित कर लिया था। जहाँ अनेक शताब्दियोंतक उनके वंशज परस्पर प्रेम-भावसे प्रजा-पालन भी करते रहे और एक दूसरेकी सहायता भी करते रहे। किन्तु सहसा उनमें परस्पर ऐसा मनोमालिन्य और विद्वेष हुआ कि कुशावतीके राजाने लवपुरके अधीश्वरपर आक्रमण करके उसका राज्य हड़प



लिया। पराजित लवपुराधीश ज्यों-त्यों करके अपने प्राण बचाते हुए दक्षिणापथकी ओर चले गए। मार्गमें अमृत नामक अत्यन्त पराक्रमी तथा कुलीन क्षत्रियने लवपुराधीशका परिचय प्राप्त करके तथा उनकी परम्परागत कीर्ति श्रवण करके उन्हें अपनी कन्या प्रदान की और वे अपने श्वसुर-गृहमें ही निवास करने लगे। कुछ वर्षोंके अनन्तर उन्हें सदीराव नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। युवा होनेपर सदीरावने जब अपनी माताके मुखसे अपने पिताके वैभव और पराभवका पूर्ण विवरण सुना तब उसने अपने नानाकी सेना लेकर कुशावती तथा लवपुरके अधीश्वरोंपर चढ़ाई कर दी और अपने पराक्रमसे उसने दोनों राज्य हस्तगत कर लिए।

दुर्दैवके मारे कुशावतीके पराजित अधीश्वरने वह द्वेष-वृत्ति यहीं समाप्त करके, क्षत्रिय-कर्मको तिलांजलि देकर काशीमें चारों वेदोंका सम्यक् अध्ययन करके पढ़ने-पढ़ानेका व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया और तभीसे उनके वंशज अपने नामके साथ वेदी लिखने लगे।

इसी वेदी वंशमें कालू या कल्याणराय भी थे जो लाहोरकी खड्गपुर तहसीलके तलवंडी ग्राममें छोटा-मोटा व्यापार करते हुए अपना जीवन-यापन करते थे। कल्याणराय और उनकी धर्मपत्नी दोनों धार्मिक और श्रद्धालु थे। सम्वत् १५२६ (सन् १५६८ ई०) में इसी धर्मात्मा दम्पतिके घर नानकका जन्म हुआ था।

बचपनसे ही नानक कुछ विचित्र प्रकृतिके थे। वे न तो किसीसे अधिक बातचीत करते थे न भोजन-वस्त्रादिमें ही उनकी कोई रुचि थी। वे जबतक जागते तबतक इस प्रकार बैठे रहते मानो विश्वकी कोई गम्भीर समस्या उनके मस्तिष्कमें चक्कर लगा रही हो। उस बालककी यह एकान्त-प्रियता और विरक्ति देखकर उनके पिताजी उन्हें एक वैद्यके पास ले गए, किन्तु

उस वालकसे बातचीत करनेपर और उसके दार्शनिक तर्कसे विमुग्ध होकर उसने कालू (कल्याण राय) को यही परामर्श दिया कि एकान्तवास ही इसकी सबसे बड़ी औषधि है। पढ़ने-लिखनेमें भी उनकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। पाठशालामें अपने गुरुजीसे वे पढ़ते कम थे, शास्त्रार्थ अधिक करते थे। सयारुल मुताखरीनके रचयिताने लिखा है कि 'नानकने तलवण्डीके एक मौलवीसे भी कुछ विद्या प्राप्त की थी।' छोटी हीं अवस्थामें नानक जङ्गलमें जाकर एक-एक दो-दो दिनतक अकेले रह जाते और माता-पिता उन्हें ढूँढ़ते रह जाते। ईश्वर एक है, यह बात उनके मनमें बैठ गई और वे अन्य सब धार्मिक कर्मकाण्डको आडम्वर समझने लगे।

त्याग और विरक्तिकी भावना उनमें इतनी प्रबल थी कि पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें उन्हें जब उनके पिताने चालीस रुपये देकर सेवकके साथ नमक मोल लेने भेजा तो मार्गमें ही भूखे साधुओंको देखकर उन्होंने उन रुपयोंका अन्न लेकर साधुओंको खिला दिया। जब वे रिक्त-हस्त घर लौटकर आए तो उनके पिताने उन्हें बहुत पीटा क्योंकि वे सदा हीं जब अवसर मिलता तब घरसे रुपया लेकर दीन-दरिद्रोंमें बाँट आते, यहाँतक कि उन्हें जो दाल-चावलकी दूकान कराई गई उसकी भी सब सामग्री उन्होंने साधुओंको बाँट दी।

श्रीचन्द्रजीका जन्म

जब कल्याणरायने देखा कि यह बालक किसी प्रकार भी नहीं सुधरता तब उन्होंने सोलह वर्षकी अवस्थामें गुरुदासपुर जिलेमें बटालाके पास पक्खोके-ग्रामवासी मूलाकी कन्या सुलक्षणीके साथ उनका विवाह कर दिया, फिर भी उनके स्वभावमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनकी बड़ी बहन नानकीके पति जयराम उन दिनों पंजाबमें कपूरथलाके पास सुलतानपुर नामक नगरमें दिल्लीके बादशाह बहलोल लोदीके

यहाँ उच्च कर्मचारी थे इसलिये कल्याणरायने नानकको उनके पास भेज दिया कि किसी काममें लगा दें। वहाँ नानकको राजकीय अतिथिशालाका प्रबन्ध करनेका कार्य सौंपा गया। वहाँ भी वे इतनी उदारताके साथ दरिद्रोंको दान करने लगे कि थोड़े ही समयमें अतिथिशालाकी सब सामग्री समाप्त हो गई। उन्हीं दिनों बत्तीस वर्षकी अवस्थामें भाद्रपद शुक्ला नवमी, संवत् १५५१ (सन् १४९४ ई०) को तलवण्डीमें सुलक्षणी देवीकी कोखसे इन्हें प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। पण्डित हरदयालु शर्माजीने बहुत सोच-विचारकर कहा कि जैसे अन्धकारके समय उदित होकर चन्द्रमा अपने प्रकाशसे अन्धकार भी दूर करता है और शीतलता भी प्रदान करता है वैसे ही यह बालक भी इस अन्धकारके युगमें हिन्दू जातिको प्रकाश भी देगा और अपनी दिव्य शीतलतासे उनके तीनों ताप भी हरण करेगा। इसलिये इसका नाम श्रीचन्द्र ही निश्चित करता हूँ।

श्रीचन्द्रजीका वैराग्य

श्रीचन्द्रजी ज्यों-ज्यों बड़े होने लगे त्यों-त्यों स्वाभाविक मुसकान-के साथ-साथ उनकी वैराग्य-वृत्ति भी अत्यन्त स्पष्ट रूपसे लक्षित होने लगी। पास-पड़ोसके न जाने कितने बालकोंको वे देवताओंके दर्शनके लिये मन्दिरोंमें ले जाते और भगवान् राम तथा भगवान् कृष्णजीके जीवनपर वहाँ जो कथाएँ होतीं उन्हें प्रेमसे बैठकर सुनते। कभी-कभी वे अपने साथी बालकोंको लेकर पण्डित हरदयालु शर्माजीके घर भी जाते और वहाँ महापुरुषों और अवतारोंके जीवन-चरित सुननेके साथ-साथ अनेक धार्मिक उपदेश भी श्रवण किया करते।

इन्होंने सुन रखा था कि हमारे पिता नानकजी भी बचपनमें जंगलमें जा-जाकर एकान्तवास किया करते थे। अतः, उनके मनपर भी इस बातका ऐसा संस्कार बैठा कि कभी-कभी वे

भी अन्य बालकोंके साथ पासके जंगलमें चले जाते और जब वहाँ अन्य बालक खेल-कूदमें मग्न रहते तब वे पद्मासन लगाकर भूख-प्यासकी चिन्ता छोड़कर बहुत देरतक समाधिस्थ होकर बैठे रह जाते। बालकोंमें इतना साहस कहाँ था कि इन्हें समाधिसे जगा देते। इसलिये वे जब घर जाकर समाचार देते तब कहीं घरके लोग वनमें आकर इन्हें साथ ले जाते। परिणाम यह हुआ कि उनके साथ जो अन्य बालक वनमें जाया करते थे, उनके माता-पिताओंने अपने बच्चोंको इस डरसे उनके साथ भेजना छोड़ दिया कि कहीं वे भी श्रीचन्द्रजीके साथ विरक्त न हो जायँ।

नानाके घर

जब ये सात वर्षके हुए तब इनके नाना मूलचन्द्रजी इनको, इनके छोटे भाई लक्ष्मीचन्द्रको और इनकी माता सुलक्षणीको पक्खोके नामक अपने गाँव ले गए जहाँ ये तीन वर्ष-तक अपने मातामहके परिवारवालों और ग्रामवासियोंको अपने मधुर व्यवहार तथा हासमय मुख-मुद्रासे कृतकृत्य करते रहे।

एक रातका वनवास

जिन दिनों ये पक्खोकेमें रहते थे उन्हीं दिनोंकी घटना है। ये आठ वर्षके हो चले थे। एक दिन सहसा ये अपने कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मीचन्द्रको साथ लेकर वनकी ओर चल दिए और सूर्यास्त-तक इधर-उधर वनमें परिभ्रमण करते रहे। लक्ष्मीचन्द्र भी छोटा बालक ही था। इस परिभ्रमणसे उसके पैर तो थक ही गए, साथ ही उसे यह भी चिन्ता हुई कि कहीं हम लोग मार्ग भूलकर भटक तो नहीं गए हैं। इधर जब दोपहर-तक दोनों बालक घर नहीं लौटे तो भाग-दौड़ मच गई। इनके मातामह और मातामही दोनों चिन्तासे व्याकुल हो उठे। जब गाँवमें इधर-उधर ढूँढनेपर भी दोनों भाइयोंकी खोज न मिली तब बहुतसे साथियोंको लेकर मूलचन्द्रजी इन्हें ढूँढते हुए वनमें

जा पहुँचे। दिनभर जगलका कोना-कोना छान मारा किन्तु दोनों भाइयोंका कहीं कोई चिह्न न मिला।

अन्तमें दोनों वालक स्वयं हँसते-खेलते सामने आते दिखाई दे गए जिनके पीछे-पीछे ग्रामवासियों और ग्राम-वालकोंका विशाल समुदाय 'आ गए जी, आ गए जी' की पुकार मचाता हुआ उनके घरकी ओर बढ़ा चला रहा था।

हर्ष-विह्वल माता और मातामहीने दौड़कर दोनों वालकोंको गलेसे लगा लिया। क्षण भरमें सारा परिवार इस प्रकार आनन्द-मग्न हो उठा मानो उनके शरीरपर किसीने अमृत-वर्षा कर दी हो।

यज्ञोपवीत-संस्कार

जिन दिनों श्रीचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मीचन्द्रके साथ पक्खोके आए थे, उन दिनों इनकी पितामही तृप्ताजी इनके विना वड़ी खोई-खोई सी रहने लगी थीं। अपने इन पौत्रोंको देखे विना उन्हें न दिनको चैन न रातको नींद। उन्होंने अपने पति कल्याण-रायजासे कहा कि दोनों बच्चोंको ले आओ, मेरा जी नहीं लग रहा है। इन दोनों भाइयोंको गए भी दो वरस हो चुके थे, इसलिये दादीका घवराना भी स्वाभाविक ही था। फलतः कल्याणरायजी पक्खोके गए और मूलचन्द्रकी इच्छा न रहते हुए भी उन्हें समझा-बुझाकर दोनों वालकोंको अपने घर ले आए।

नानाके घरसे लौटने-तक ये ग्यारहवें वर्षमें पदार्पण कर चुके थे। कुल-परम्परा और वर्णाश्रम-मर्यादाके अनुसार पंडित हरिदयालु शर्माजीने शुभ मुहूर्त देखकर इनका यज्ञोपवीत-संस्कार कर दिया और इसके पश्चात् ये उन्हींके पास शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेज दिए गए।

विद्यार्जन

यों तो इन्होंने वाल्यावस्थासे ही अपने ज्ञान, उच्च विचार और भावोंका परिचय देना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु जव

इन्होंने नियमित विद्याध्ययन प्रारम्भ किया तब इनके प्राक्तन जन्मके विद्या-संस्कार सहसा उद्बुद्ध हो गए। अपनी अध्ययन-शीलता, मेधाविता तथा निष्ठासे इन्होंने अपने गुरुजीको इतना प्रभावित किया कि वे इन्हें विद्यादान करनेमें किसी प्रकारका कभी संकोच नहीं करते थे तथा अत्यन्त तत्परता, स्नेह और मनोयोगके साथ समय-असमयका विचार किए बिना भी इन्हें विद्यादान करते ही रहते थे।

उधर श्री चन्द्रजीके पितामह कल्याणरायकी यही अभिलाषा थी कि स्थानीय पाठशालामें थोड़ी-सी धार्मिक शिक्षा दिलाकर इन्हें कोई अर्थकरी विद्या पढ़नेकी ओर प्रवृत्त कर दिया जाय। जब श्रीचन्द्रजीको ज्ञात हुआ कि मेरे पितामह मेरे उच्च संस्कृत-अध्ययनमें बाधा बनकर मुझे फ़ारसी पढ़ाने और मेरा विवाह करानेके लिये उद्योगशील हैं तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने विचार किया कि अपने दादाको समझाना तो कठिन है किन्तु यदि अपनी माताजीको सहमत कर लूँ तो मुझे सुविधा हो जायगी। एक दिन जब कल्याणरायजी कहीं बाहर गए थे तब ये अपनी दादी श्रीमती वृष्ताजीके पास गए और उनसे कहा कि मैं अपनी माताके पास जाना चाहता हूँ। उनकी दादी भला कब उन्हें आँखोंसे ओझल होने दे सकती थीं। उन्होंने कहा—'नहीं! मैं नहीं जाने दूँगी। किन्तु जब उन्होंने बहुत हठ किया तब उस वृद्धा पितामहीका सम्पूर्ण तेज बाल-हठकी सरितामें बह गया और उन्होंने यह वचन लेकर पक्खोके जानेकी आज्ञा दे दी कि एक-दो दिनमें लौट आना।

माताकी आज्ञा

पक्खोके पहुँचनेपर इनके नाना, नानी और माताके हर्षका ठिकाना न रहा। एकान्त पाकर इन्होंने अपनी माताजीसे कहा—'मैं इस समय बड़े संकटमें पड़ गया हूँ। दादाजी मुझे फ़ारसी पढ़ाकर मेरा विवाह करके मुझे किसी व्यवसायमें जोत देना

चाहते हैं, किन्तु न मैं फ़ारसी ही पढ़ना चाहता हूँ न विवाह करना ही।

श्रीमती सुलक्षणीजी अपने पुत्रकी वैराग्य-वृत्तिसे भली भाँति परिचित थीं। वे तत्काल सहमत हो गईं और उन्होंने आदेश दे दिया कि तुम्हारी जहाँ इच्छा हो और जहाँ तुम्हारे गुरुजी कहें वहाँ जाकर अध्ययन कर लेना।

कश्मीरके लिये प्रस्थान

माताजीके आदेशानुसार अपने गुरुकी आज्ञा लेकर उन्होंने कश्मीरके लिये प्रस्थान कर दिया। काशी और कश्मीरके आचार्योंमें ज्ञान-दानके साथ-साथ इतनी उदारता भी थी कि वे अन्तेवासी छात्रोंको ज्ञानदान देनेके साथ-साथ उनके निवास और भोजनकी भी व्यवस्था कर देते थे। ऐसे ही उदार और विद्वान् ब्राह्मणोंकी सात्त्विक परम्परामें कश्मीरके पण्डित पुरुषोत्तम कौल भी थे।

अपने गुरु पण्डित पुरुषोत्तम कौलजीकी आज्ञाके अनुरूप श्रीचन्द्रजी अत्यन्त तीव्र गतिसे सम्पूर्ण ज्ञानको आत्मसात् करने लगे। उनकी इतनी प्रतिभा देखकर गुरुजीने उन्हें चन्द्रमौलिकी उपाधि दे डाली।

असाधारण बालक

केवल पंडित पुरुषोत्तम कौलको ही नहीं वरन् कश्मीरके अन्य पंडितोंको भी यह विश्वास हो गया कि यह बालक असाधारण है और यह निश्चय ही कोई योगभ्रष्ट योगी, तपस्वी या देवता है। थोड़े दिनों पश्चात् श्रीचन्द्रजीने विद्यालयमें पढ़नेके बदले दिन-दिन-भर वनमें जाकर एकान्त तपस्या करनी प्रारम्भ कर दी। वे रात्रिको अपने गुरुजीके यहाँ आकर केवल शरीर-निर्वाह मात्रके लिये उनसे कुछ फल-फूल लेकर पुनः वनको ही लौट जाते। उन्होंने चारों वेदों और शास्त्रोंका मन्थन तो कर ही डाला था, इसलिये स्वाभाविक रूपसे उनकी वैराग्य-वृत्ति

प्रदीप्त हो उठी और उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब किसी सद्गुरुको खोजकर मुझे चतुर्थाश्रममें प्रविष्ट हो जाना चाहिए।

एक दिन श्री श्रीचन्द्रजी जब संध्या समय अपने गुरुजीके घर पहुँचे तो उन्होंने सूचना दी कि भारत-प्रसिद्ध तपस्वी अविनाशी मुनिजी उदासीन यहाँ कश्मीरमें आए हुए हैं। तत्काल उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं भी कल अविनाशी मुनिजीका उपदेश सुनने अवश्य जाऊँगा।

आत्म-समर्पण

अगले दिन निर्दिष्ट समयपर श्रीचन्द्रजी भी उस सभामें जा पहुँचे जहाँ विशाल जन-समूहके बीच उच्चासनपर अत्यन्त शान्त, गम्भीर, तेजःपूर्ण मुद्रामें अविनाशी मुनिजी बैठे उपदेश दे रहे थे। श्रीचन्द्रजी मौन होकर साधारण दर्शककी भाँति सामने बैठ गए।

लगभग डेढ़ घण्टे-तक अपने मुखारविन्दसे अमृत-वर्षा करके अन्तमें उन्होंने कश्मीर-वासियोंको अपने प्रवचनका सारांश बताते हुए आदेश दिया कि पारस्परिक गृह-कलह दूर करें और भगवान्‌से शुद्ध मनसे प्रार्थना करें कि देश और धर्मकी रक्षाके लिये भगवान् अपने तेजका कोई ऐसा विभूतिमान्, श्रीमान् और ऊर्जस्वित् महापुरुष भेजें जो समाजके सम्पूर्ण विकार दूर करके लोक-कल्याणका मार्ग प्रशस्त करें।

प्रवचन सुन चुकनेके पश्चात् जैसे अन्य लोग उठकर अपने-अपने घर चले गए वैसे ही श्रीचन्द्रजी भी अत्यन्त प्रभावित हृदयसे अपने गुरुजीके घरसे अपना नियमित नित्यका भोजन लेकर अत्यन्त चिन्तनशील मुद्रामें तर्क-वितर्क करते हुए अन्यमनस्कसे होकर वनकी ओर पैर बढ़ाते हुए चल दिए। गम्भीर मनन करनेके उपरान्त उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वह सारा प्रवचन, सम्पूर्ण उपदेश केवल अकेले मेरे लिये ही उद्दिष्ट हो। अगले दिन वे प्रवचनके समय तो नहीं पहुँच पाए,

किन्तु जब सभा विसर्जित हो रही थी उसी समय सहसा वे अविनाशी मुनिजीके आसनके पास जा पहुँचे और मर्यादानुकूल प्रणाम करके वहीं बैठ गए। बहुत देरतक श्रीचन्द्रजी मौन होकर वहीं बैठे रहे और फिर कुछ न कहकर उन्हें प्रणाम करके सीधे वनमें अपनी गुहाकी ओर चले गए, अपने गुरुजीके घर भी नहीं गए। उस गुहामें श्री श्रीचन्द्रजीकी यह अंतिम रात्रि थी। उस दिन आषाढके शुक्ल पक्षकी चतुर्दशी थी।

दीक्षा

प्रातःकाल स्वस्थ होकर अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा और निर्विकल्प भावसे ये आसनसे उठे और सीधे अविनाशी मुनिजीके पास जा पहुँचे। इन्होंने मुनिजीसे अत्यन्त विनित भावसे प्रार्थना की—'मैंने रात्रिभर चिन्तन और आत्म परीक्षण करके मनको साध लिया है। अतः, आप कृपा करके मुझे चतुर्थाश्रममें दीक्षित कर लीजिए।

श्री अविनाशी मुनिने तत्काल विधि-विधानके साथ इन्हें उदासीन धर्ममें दीक्षित कर लिया। दीक्षाकी संस्कार-विधि पूर्ण हो चुकनेपर श्रीचन्द्रजीने उनसे पूछा कि मेरा कर्त्तव्य क्या होगा? यह सुनकर अत्यन्त भावाविष्ट होकर श्री अविनाशी मुनि कहने लगे—'वत्स! इस समय सम्पूर्ण वर्णाश्रम-व्यवस्था संकटमें पड़ गई है। पिता और पुत्र, गुरु और शिष्य, पति और पत्नी, स्वामी और सेवक सबकी मर्यादा नष्ट हो गई है। वैदिक धर्मपर होनेवाले चतुर्दिक् प्रहारोंने हमारी धार्मिक भित्ति जर्जर कर दी है। अनेक सम्प्रदायोंने अपनी संकुचित भावनासे हिन्दू जातिका व्यापक संघटन शिथिल कर किया है। बौद्धोंके वज्रयानसे समुद्भूत तान्त्रिकोंके वामाचारने जनताको अनेक प्रकारके मायाजालसे चकित करके उनमें दुर्व्यसन और व्यभिचारकी वृद्धि कर दी है। अतः, इन सब समस्याओंके समाधानका गुरुतम भार मैं तुम्हारे सबल कन्धोंपर डालकर आज शान्ति

और सुखकी साँस ले रहा हूँ। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। भगवान्‌की जो श्री, विभूति और ऊर्जस्विता तुममें जन्मसे है वह तुम्हें निश्चित सफलता भी प्राप्त करावेगी।

श्री श्रीचन्द्रजीने स्वीकृतिके साथ सिर झुका लिया। अविनाशी मुनिजीने उनके सिरपर हाथ रखकर कहा—

'शिवास्ते पन्थानः सन्तु'

इसी आशीर्वादके साथ उसी समय वे अपने कर्त्तव्यका गुरुभार अपने सिर लेकर भारत-भ्रमणके लिये निकल पड़े।

देशाटन

तिब्बत, भूटान और नेपालमें शाक्त वामाचारी तन्त्रका भली प्रकार अध्ययन करने और लोगोंको उसकी ओरसे विरत करनेमें उन्होंने पाँच वर्ष वहीं बिता दिए। छठे वर्ष गंगा-यमुनाके पुण्य उद्गम-तीर्थोंका सेवन करते हुए केदार, बदरीनारायण होकर वे हरिद्वार पहुँचे और वहाँसे दिल्ली होते हुए मथुरा चले गए। वहाँ यमुना-स्नान करके उन्होंने भगवान् कृष्णकी विहार-भूमिके उन पवित्र स्थलोंकी यात्रा की जिनमें भगवान् नन्दनन्दनने अपना बचपन बिताया था। इस प्रकार गोकुल, वृन्दावन, गोवर्धन और बरसानेमें वे महीनों घूमते रहे।

वहाँसे चलकर वे अयोध्या पहुँचे जहाँ मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामके पुण्य जन्मस्थलका दर्शन करके वे सकल-सुमंगल-तीर्थराज त्रिवेणी प्रयाग चले गए और वहाँसे १५८२ वि० की शिवरात्रिके दिन काशी पहुँचे। काशीसे चलकर पटना, राजगृह, वैद्यनाथ धाम, नवद्वीप, बंगाल असम होते हुए वे जगन्नाथ-पुरी जा पहुँचे।

इन सब विभिन्न प्रदेशोंमें धर्म और कर्त्तव्यका उपदेश करते हुए, वर्णाश्रम-मर्यादाकी दुंदुभी बजाते हुए, हिन्दू धर्मकी श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए, लोगोंमें विश्वास और स्फूर्ति भरते हुए वे जगन्नाथपुरीसे जनकपुर, हरिहरक्षेत्र, गोरखपुर और नैमिषारण्य

होते हुए पंजाबमें जालन्धर जा पहुँचे। वहाँसे वे रावीके तटपर स्थित करतारपुर चले गए और वहाँ उन्होंने पुनः अपनी माताजीके दर्शन किए।

इन ग्यारह वर्षोंके बीच श्री श्रीचन्द्रजीके कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मीचन्द्रका विवाह हो चुका था और उसके धर्मचन्द नामक पुत्र भी हो गया था। जिस समय उस परिवारको ज्ञात हुआ कि श्रीचन्द्रजी करतारपुरमें आए हैं, उनकी माता सुलक्षणीजी, उनके भाई लक्ष्मीचन्द्रजीको साथ लेकर वहाँ जा पहुँची। माताजीको देखते ही श्रीचन्द्रजीने तत्काल उठकर उन्हें प्रणाम किया और कनिष्ठ भ्राताके प्रति उनकी ममता उमड़ पड़ी। बहुत देरतक तो वे तन्मय होकर अपने पुत्रकी ओर एकटक निहारती रहीं और फिर बीच-बीचमें कुशल-मंगल और देश-देशान्तरोंका वर्णन सुन-सुनकर अपने दिव्य पुत्रके श्रीमुखसे निकलती हुई वाक्सुधाका पान करती रहीं। यद्यपि माताजीने घर चलनेके लिये बड़ा आग्रह किया, पर अपनी आश्रम-मर्यादाके कारण वे घरपर तो नहीं गए तथापि अपनी माताजीके विशेष अनुरोधसे उसी स्थानपर कई मास-तक ठहरे रहे।

इसी बीच उनके छोटे भाई लक्ष्मीचन्द्रका देहान्त हो गया। तब श्रीचन्द्रजीने उस वंशके अंतिम बालक धर्मचन्द्रको उदासीन ऋषि-दीक्षा देकर दीक्षित कर लिया जिसमें मुनिके समान गृहस्थ-त्याग या संन्यस्त वेश नहीं धारण करना पड़ता और यह भी सुविधा रहती है कि वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीनों आश्रमोंमें रह सके।

नानकजीके पुत्र होते हुए भी श्री श्रीचन्द्रजी कभी नानकके मतसे सहमत नहीं हुए। नानकजीने यद्यपि अपने वचनोंमें सभी देवी-देवताओंको स्वीकार किया है फिर भी वे मूलतः उसी ईश्वरकी सत्ता मानते हैं जो निर्गुण, निराकार, निर्लेप तथा सर्वान्तर्यामी हैं। इसीलिये वे वर्णाश्रमकी भी बहुत मर्यादा

नहीं मानते थे। किन्तु श्रीचन्द्रजी तो शुद्ध सनातन वर्णाश्रम-धर्मका समर्थन ही नहीं उसका प्रचार भी कर रहे थे। यह बड़ा भारी भ्रम है कि नानकजीने सिक्ख-सम्प्रदायका प्रचलन किया। उन्होंने जिस साधुव्रतमें स्वयं दीक्षा ली थी, उसी परम्परामें गोविन्दसिंहजीने समयकी आवश्यकताके अनुसार शिष्य या सिक्ख-समाज स्थापित किया था जो मूलतः हिन्दू धर्मका ही एक अंग था। पीछे चलकर अनेक राजनीतिक तथा संकुचित साम्प्रदायिक भावनाके कारण अँगरेज़ोंकी कूटनीतिका आखेट होकर वह हिन्दू समाजसे भिन्न घोषित कर दिया गया।

कुछ काल वहाँ विताकर तथा अपने चमत्कारपूर्ण पवित्र तपस्यामय जीवनसे सबको तुष्ट और मुग्ध करके वे पुनः कश्मीर चले गए। कहा जाता है कि इस बार कश्मीरमें सात वर्ष रहकर उन्होंने ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता तथा वेदोंपर भक्ति-ज्ञान-समुच्चयवादी सिद्धान्तके अनुसार श्रीचन्द्र-भाष्य नामक अत्यन्त विस्तृत भाष्य लिखा किन्तु उसकी खंडित प्रतिके अतिरिक्त पूरी पुस्तकका विवरण कहीं प्राप्त नहीं हो सका। इसके पश्चात् वे धर्मप्रचारार्थ घूम-घामकर पुनः पेशावर लौट आए।

पेशावरसे लौटकर उन्होंने कुछ दिन पक्खोकेमें विताए और फिर वारठ होते हुए हरिद्वार जा पहुँचे। वहाँसे वे उत्तर काशी जानेका विचार कर ही रहे थे कि अपने सिन्धी भक्त रामचन्द्रकी प्रार्थनापर सिन्धकी दुर्दशा दूर करनेके लिये हरिद्वारसे चलकर भटिण्डा और मुल्तान होते हुए सिन्धके नगरठट्ठे नगरमें पहुँचकर एक सघन जङ्गलमें धूनी जगाकर बैठ गए।

उन दिनों नगरठट्ठा केवल सिन्धके मुसलमान पीरोंका ही अड्डा नहीं था, वरन् हिंगलाज देवीकी यात्रा करनेवाले तान्त्रिकोंका भी विशाल अड्डा था।

गुजरातमें धर्मका प्रचार करके और वहाँकी जनतामें धार्मिक तत्परता और स्फूर्ति भरकर वे द्वारकाकी ओर बढ़ गए। मार्गमें कच्छ

प्रदेशमें कुछ दिन रहकर उन्होंने तान्त्रिकोंके अनाचारका भण्डाफोड़ करके उनके सब डेरे वहाँसे उखाड़ दिए। फलतः तान्त्रिकोंके आतङ्कमें पड़े हुए सब लोग वहाँ भगवान् श्रीचन्द्रजीके प्रभावसे पुनः श्रौत धर्मका रहस्य समझकर, वामाचार छोड़कर सात्त्विक जीवन बिताने लगे। वहाँसे द्वारका और द्वारकासे सुदामापुरी होते हुए श्री श्रीचन्द्रजी कुछ कालतक गुजरातकी जनताको अपने धर्मोपदेशसे आप्यायित करते रहे।

वहाँसे वे उदयपुर राज्यके अधिष्ठातृ देवता श्री एकलिंग महादेवकी यात्राके लिये बढ़ गए। श्री श्रीचन्द्रजी राजस्थानके प्रसिद्ध नगरोंका भ्रमण करके पञ्जाब होते हुए कश्मीर जा पहुँचे। वहाँकी जनताने जब उनके आगमनका समाचार सुना तो अपार जन-समूह उनके दर्शनके लिये उमड़ पडा जिनमें पण्डित हरिदत्त और उनकी पत्नी प्रभावती देवीका पुत्र कमलासन भी वहाँ आया करता था। कभी-कभी तो वह इतना तन्मय होकर वहाँ धूनेके पास बैठा रहता था कि उसे भोजन-पानी-तरुकी सुध भी नहीं रहती थी। वह श्री श्रीचन्द्रजीका इतना अनन्य भक्त हो गया कि वह सदा भगवान्की कन्था-गुदड़ी अपने कन्धेपर बाँधे साथ चलता था, भौंरेके समान मस्त रहता था और सदा मोटा कम्बल ओढ़े रहता था। इसी कारण श्री श्रीचन्द्रजी उसे गुदड़िया, कन्थाधर, कमलिया और अलिमत्त नामसे पुकारा करते सम्वत् १६३१ में इस अलिमत्तको श्रीचन्द्रजोने अपना शिष्य बना लिया। इन्हींके साथ उनका छोटा भाई बालकृष्ण भी शिष्य हो गया और उस दिनसे उसका नाम बालकृष्णके बदले बाल-हास (बालू हसना) पड़ गया।

इन दो शिष्योंके अतिरिक्त श्री श्रीचन्द्रजीके दो और शिष्य हुए—गोविन्ददेव और पुष्पदेव (फूल साहब)। इन दोनोंका जन्म भी श्रीनगरमें हुआ था। इनकी माताका नाम सुभद्रा और पिताका नाम जयदव था। इन्हीं चारों शिष्योंके नामपर ही

श्रीचन्द्रजीके चार शिष्य-संघ चले जो 'चार धूएं' के नामसे प्रसिद्ध हैं।

जिन दिनों श्री श्रीचन्द्रजी कश्मीरमें थे उन्हीं दिनों उन्हें सिन्धके हिन्दुओंकी दुर्दशाका पुनः समाचार मिला। अतः, वे तत्काल अपने शिष्योंके साथ सिन्धकी ओर चल पड़े और नगर-ठ्ठमें जाकर उन्होंने मुसलमानी और तान्त्रिक आतङ्क समाप्त कर दिया।

दक्षिणकी यात्रा

कादिरावादके वनमें कुछ वर्ष एकान्त-सेवन करनेके पश्चात् उन्होंने दक्षिण भारतकी यात्राका सङ्कल्प किया। वे शेष तीर्थोंकी तो यात्रा कर ही चुके थे, अतः, इस वार वे अपने शिष्य कमलिया (अलिमत्त) के साथ दिल्ली, ग्वालियर, जवलपुर, नागपुर होते हुए सम्वत् १६८० में रामगिरिके पास ठाकली ग्राममें जा पहुँचे।

मात्राशास्त्र

फिर वारठमें कुछ दिन ठहरकर वे श्रीनगर चले गए जहाँ आषाढकी पूर्णिमाको पूजनादि कर चुकनेके पश्चात् उन्होंने अपने शिष्योंको मात्राशास्त्र नामसे जो उपदेश दिया वह उदासीन साधुओंमें वेद-वाक्यके समान आदृत होता है (परिशिष्ट १ देखिए)। वह उपदेश अत्यन्त सरल नागरी भाषामें कुछ तो दार्शनिक तत्व-ज्ञानके रूपमें है और कुछ व्याख्याके रूपमें। दार्शनिक तत्त्वोंमें उन्होंने स्वयं अपनेसे प्रश्न करके प्रारम्भ किया है—'कहु रे वाल! किसने मूँडा किसने मुँडाया, किसका भेजा नगरी आया ?' [हे जीव! तुम किसकी आज्ञासे यहाँ संसारमें आए हो ?] इसका उत्तर उन्होंने दिया है—'सद्गुरु मूँड़ा, लेख मुँड़ाया, गुरुका भेजा नगरी आया।' [सद्गुरु अविनाशी मुनि-द्वारा दीक्षित होकर, पूर्व जन्मके लेखके अनुसार श्रौत प्रव्रज्या लेकर लोक-कल्याणके लिये मैं आया हूँ।]

अतः— चेतहु नगरी तारहु ग्राम,
अलख पुरुषका सुमिरहु नाम।

[अब तुम सावधान तथा आत्मज्ञ होकर अलख पुरुष सच्चिदानन्द परमेश्वरका स्मरण करो और अपने ग्राम और नगरी अर्थात् समाजका उद्धार कर डालो।] आत्म-प्रेरणाके आधारपर अपने गुरुजीका विवरण देते हुए उन्होंने कहा—

गुरु अविनाशी खेल रचाया।
अगम-निगमका मन्त्र बताया॥

[अविनाशी गुरुजीने मुझे यंह वेद-शास्त्र-सम्मत कल्याणका मार्ग बताया और विहित कर्मका उपदेश दिया।] इसके पश्चात् इन्होंने साधुके सम्पूर्ण वेश और समस्त साधनोंका रूपकात्मक विवरण देते हुए बताया है कि—'ज्ञान ही गुदड़ी (कन्था) है, क्षमा ही टोपी है, यत या संयम ही आड़बन्द (कमर-बन्द) है, शील ही कौपीन, है अपनेको कालके बन्धनसे मुक्त समझना ही कन्था है, इच्छाओंसे रहित भावना ही झोली है, युक्ति ही टोपी है गुरुके मुखसे सुना हुआ आदेश ही बोली है, धर्म ही चोला है, सत्य ही सेली (ऊनका यज्ञोपवीत) है, मर्यादा-पालन ही गलेमें पड़ी हुई कफनी है, ध्यान ही बटुआ है, भावाविष्ट नृत्त ही सीना है; ब्रह्म ही अंचल है जिसे सुजान या चतुर लोग पहनते (अपनाते) हैं, निर्लेप वृत्ति ही मोरछल है, द्वेषहीन निर्भयता ही जंगडोरा है, जाप ही जाँघिया है, गुण ही उड्डयिनी (उड़नेकी विधि) है; अनहद नाद या अनाहत गुरुवाणी ही सिंगीका शब्द है, ज्ञान ही कानकी मुद्रा (कुण्डल) है, शिव ही विभूति है, हरिभक्ति ही वह मृगछाला है जिसे गुरुपुत्र पहनते हैं, सन्तोष ही सूत है, विवेक ही धागे हैं जिनके द्वारा बहुत-सी थेकलियाँ (पैबन्द) इस कन्थेमें सिली हुई हैं। इसे जो अपने पास रखता है वह निर्भय होकर निवास करता है। इस श्याम, श्वेत, पीत और रक्तवर्णोंके वस्त्र-खण्डोंसे

बने हुए कन्थेको जो पहनता है वही हमारा गुरुभाई है। तीन गुण अर्थात् सत्त्व रज, तमके चकमकसे अग्निमन्थन करके दुःख-सुखके कुण्डमें हमने अपनी देहकी आहुति दी है। शोभा-युक्त संयम-रूपी महादेवजीके चरण-कमलोंमें हमारी अत्यन्त प्राति लगी हुई है। हमने भावका भोजन ही अमृत बनाकर प्राप्त किया है इसलिये हमारे मनमें भले-बुरेकी भावना ही नहीं रह गई है। पात्र-अपात्रका विचार ही हमारा बहुगुण-संयुक्त फरुआ, कमण्डलु, तुम्बी और किश्ती है। जो साधु उस परम अमृतके प्यालेको मन लगाकर पीता है वही शान्ति पाता है, वह परम शक्ति इडा और पिंगलामें दौड़ती रहती है और फिर सुषुम्नामें स्वाभाविक रूपसे निवास करने लगती है। हमारा काम है कि हम सम्पूर्ण इच्छाएँ छोड़कर इस निराश (इच्छा-हीन) मठ में निरन्तर ध्यान लगाए रहें और निर्भय नगरीमें गुरुज्ञानका दीपक जलाएँ जहाँ स्थिरता ही हमारी ऋद्धि हो, अमरत्व ही हमारा दण्ड हो, धैर्य ही हमारी कुदाली हो, तप ही खड्ग हो, वशीकार या इन्द्रियोंको वशमें करना ही आसा अर्थात् डण्डा हो और समदृष्टि ही चौगान या बैरागिन (सोपाश्रय) हो जिससे कि किसी प्रकार मनमें हर्ष या शोक न आवे। सहज वैरागीको इसी प्रकार मायाकी सम्पूर्ण मोहिनी त्यागकर वैराग्य साधना चाहिए। ऐसा करनेवालेके लिये भगवान्‌का नाम ही पक्खर (कवच) है, पवन या प्राणायाम ही उसका वह घोड़ा है जिसकी जीन कर्मोंसे विरक्ति है, तत्त्व ही उसका जोड़ा (वेश) है, निर्गुण ही ढाल है, गुरुका शब्द ही धनुष है, बुद्धि ही सन्नाह (कवच) है, प्रीति ही बाण है, बुद्धि ही बर्छी है, गुण ही कटारी है और इस प्रकार संयमके शस्त्रोंसे सुसज्जित साधक अपने मनको मारकर जब सवारी करने लगता है तब वह मायाके विषय-गढ़को तोड़कर निर्भयता-पूर्वक अपने घर अर्थात् ब्रह्ममें लौट जाता है, जहाँ पहुँचनेपर अनेक प्रकारके वाद्यों और शंखोंसे उसका स्वागत किया जाता है। इस निर्वाण-विद्याके

अपार सूक्ष्म तत्त्वको गुरु अविनाशी मुनिजी ही भलीभाँति जानते थे।' शुद्ध साधकको व्याख्या करते हुए श्री श्रीचन्द्रजीने बताया है कि 'स्वतः अखण्ड आनन्द ब्रह्म ही उसका यज्ञोपवीत है, मानसिक निर्मलता ही उसकी धोती है, सोऽहं जप ही सच्ची माला है, गुरु-तन्त्र ही शिखा है, हरिनाम ही गायत्री है जिसे वह स्थिर आसनपर बैठकर विश्रामके साथ जपता है, पूर्ण ब्रह्मका ध्यान ही उसका तिलक है, यश ही तर्पण है, प्रेम ही पूजा है, ब्रह्मानन्द ही भोग है, निर्वैरता ही सन्ध्या है और ब्रह्मका साक्षात्कार ही छापा है। इतना होनेपर वह अपने मनके सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प स्वयं नष्ट कर डालता है। ब्रह्मकी प्रीति ही पीताम्बर है, मन ही मृगछाला है, चित्तमें चिदम्बर परमेश्वरका स्मरण ही रुनझुन-माला है। ऐसे व्यक्तिकी जो बुद्धि पहले रोएँवाले बाघम्बर, कुलह अर्थात् ऊँची टोपी, खोस (जूते) और खड़ाउओंमें ही लीन रहती थी वह सब प्रकारके चूड़े और शृंखला आदि बन्धन तोड़कर उदासीन साधुका बाना ग्रहण कर लेता है और केवल जटा-जूटका मुकुट बाँधकर ऐसा मुक्त हो जाता है कि फिर वह किसी बन्धनमें नहीं पड़ता। यही मार्ग नानकके पुत्र श्री श्रीचन्द्रजीने बताया है जिसका रहस्य जान लेनेपर ही परम तत्त्व मिलता है। इस मात्राको जो धारण कर लेता है वह आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

इस मात्रा-शास्त्रमें श्री श्रीचन्द्रजीने अपने समयके सब धार्मिक सम्प्रदायोंके बाह्याचार, वेषाचार और कर्मकाण्डके बदले शुद्ध निराडम्बर अध्यात्म-मार्गका पथ स्पष्ट कर दिया है।

अंतिम सन्देश

इसके अनन्तर उन्होंने अपने शिष्योंको अन्तिम सन्देश देते हुए कहा—'महात्माओ ! आप लोगोंने सनातन वैदिक धर्मके कल्याणका पवित्र व्रत लेकर उसके पालनमें जो प्रशंसनीय प्रवृत्ति दिखलाई है उसे समृद्ध बनाकर देशके कोने-कोनेमें आप लोग

धर्म-प्रचारकी लपटें जगा दीजिए। आप लोगोंपर ही हिन्दू धर्मके कल्याणका भार है। अब मैं एकान्त-सेवन करना चाहता हूँ। सम्भव है भविष्यमें आप लोगोंसे हमारी भेंट न हो। अतः, हमारा अंतिम सन्देश यही है कि इस धर्मप्रचारकी परम्पराको अखण्ड बनाए रखिएगा।

यह सन्देश सुनकर उनकी शिष्य-मण्डलीपर मानो वज्रपात हो गया। किन्तु सबने तत्काल गुरुका आदेश सिरमाथे धारण कर लिया।

चार धूणोंकी प्रतिष्ठा

श्री श्रीचन्द्रजीके आदेशके अनुसार धर्म-प्रचारकी परम्परा बनाए रखनेके लिये समस्त साधुओंने कमलासन अलिमत्त (अलमस्त), बालहास, गोविन्ददेव और पुष्पदेव (फूल साहब) इन चारों महापुरुषोंको मण्डलाधीश नियुक्त कर दिया। श्री श्रीचन्द्रजीने भी अपनी शिष्य-मण्डलीके इस सुन्दर निर्णयका समर्थन करके उन्हें आशीर्वाद दिया कि भविष्यमें जो भी उदासीन महात्मा अपने जप, तप, विद्या और चरित्रके कारण इस सम्प्रदाय-द्वारा मंडलपति या मण्डलाधीश पदपर प्रतिष्ठित किए जायँगे उनकी शिष्य-परम्परा उनके नामसे धर्मका प्रचार और उदासीन सम्प्रदायकी रक्षा करेगी। अबतक भी उदासीन सम्प्रदायमें यह प्रथा है कि श्री श्रीचन्द्रजीके सम्मुख जो मण्डलपति नियुक्त हुए थे उनकी पद्धतिके साधु लोग धूणे (अग्निकुण्ड) के साधु कहलाते हैं और जो भगवान्‌के पीछे छह मण्डल-पति नियुक्त हुए वे पुरस्कृत पद पानेके कारण बख्शीशके साधु (पुरस्कृत साधु-मण्डल) कहे जाते हैं। जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्यके पश्चात् न तो कोई आचार्य ही हुआ और न आचार्य-प्रणाली ही चली।

चम्बेमें अन्तर्धान

कश्मीरसे दक्षिण-पूर्व, गुरुदासपुर जिलेके उत्तर और काँगड़ा जिलेके पश्चिममें चम्बा नामका छोटा-सा पार्वत्य

प्रदेश है जो सम्वत् २००६ में देशी राज्योंके भारतमें विलय होनेसे पूर्व चम्बा नामका अलग राज्य था। उस प्रदेशमें चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं जो अपनी तुषारमण्डित शिखर-शृङ्खलाओंसे आवृत करके उसे एक द्रोणके समान मनोहर हरियाली वनश्रीसे सम्पन्न सुन्दर, रमणीक एकान्त साधना-स्थली वनाए हुए हैं। इसके पश्चिम और दक्षिण भागकी भूमि अत्यन्त शस्य-श्यामला उर्वरा भूमि है जहाँ चन्द तथा रावी नदियाँ इस प्रदेशको सींचती हुई दक्षिण-पूर्वसे उत्तर-पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती हैं।

इस प्रदेशकी पर्वत-शृङ्खलाओंमें जहाँ घने नित्य-हरित जंगल हैं वहीं इन पर्वतोंमें जलप्रपातों तथा जलाशयोंसे सम्पन्न अनेक ऐसी गुहाएँ भी है जिनमें एकान्तसेवी ऋषि, मुनि और तपस्वी निश्चिन्त तथा निर्विघ्न तपश्चर्या कर सकते हैं। साधककी उदर-चिन्ता दूर करनेके लिये अखरोट तथा अन्य फलोंसे लदे हुए वृक्ष, तृषा शान्त करनेके लिये जल-प्रपातोंका सुमधुर नीर और शीतसे बचानेके लिये उष्ण गुफाएँ इतनी पर्याप्त हैं कि किसी साधकको वहाँ किसी प्रकारका आहार-कष्ट या ऋतु-कष्ट नहीं हो सकता। संसारसे विरक्त तथा ब्रह्मकी एकान्त उपासना करनेवाले साधु-महात्माओंकी तपश्चर्याके लिये इससे बढ़कर एकान्त सुख-स्थान और कहाँ मिल सकता है? इसलिये समय-समयपर अनेक ऋषि, मुनि, साधु और तपस्वी संसारकी वासनाओंको लात मारकर एकान्त समाधिकी सिद्धिके लिये ऐसे स्थानोंपर निरन्तर आते रहते हैं।

अब तो चम्बा नगरके पास रावीकी प्रचण्ड वेगवती धारा-पर लोहेका लटकता हुआ पुल वन गया है किन्तु जिस सोलहवीं शताब्दीकी वात कही जा रही है तव केवल नौका ही आर-पार जानेका एकमात्र अवलम्ब थी और वह भी धाराकी प्रखरताके कारण छूटती कहींसे थी और लगती कहीं थी। साथ ही सदा यह भय भी वना रहता था कि वीचमें पड़ी हुई कहीं

किसी अदृश्य जलमग्न शिलासे टकराकर वह जल-समाधि न ले ले। इस मनोहर एकान्त स्थलीकी प्राकृतिक रमणीयता, सरसता और निर्जनतासे प्रभावित होकर श्री श्रीचन्द्रजीने निश्चय किया कि चम्बेमें चलकर एकान्त साधना की जाय क्योंकि बाहरी प्रचार-कार्य करनेके लिये उदासीन साधुओंकी वह विशाल सेना तैयार हो चुकी है जिसने लोक-सेवा, धर्म-सेवा और देश-सेवाका व्रत ही ले लिया है।

श्री श्रीचन्द्रजीके अनन्य शिष्य भूटानवाले ब्रह्मकेतुजीको जब यह समाचार मिला तो वे भी झट चम्बेकी ओर चल दिए। चम्बेमें श्री श्रीचन्द्रजीसे मिलकर वे हर्षसे गद्गद् हो उठे और वहीं निरन्तर बारह वर्षतक साथ रहते हुए सेवा करते रहे।

विक्रमीय सम्वत् १७०० में कि एक दिन प्रातःकाल ही श्री श्रीचन्द्रजी समाधिसे उठकर रावी नदीके उस पार जा पहुँचे। ब्रह्मकेतुजीको यह ज्ञात हुआ तो वे भी शीघ्र ही नावपर बैठकर उस पार पहुँच तो गए किन्तु तबतक श्री श्रीचन्द्रजी दूर निकल चुके थे। फिर भी ब्रह्मकेतु उनके पास पहुँच ही गए।

उन्होंने भक्त ब्रह्मकेतुको स्नेहपूर्वक सान्त्वना दी, ज्ञान प्रदान किया और मोहसे मुक्त होनेका उपदेश दिया। उसके पश्चात् उन्होंने अपने शिष्योंके लिये सन्देश देते हुए उनसे कहा—'देखो ब्रह्मकेतु! अब हम एकान्तवास करना चाहते हैं। आपसे हमारा यही आदेश है कि आप कश्मीर जाकर अपने सब गुरु-भाइयोंको हमारा सन्देश दीजिएगा और अब फिर मुझसे मिलनेका हठ न कीजिएगा।'

यह कहकर वे वहीं वनमें प्रविष्ट हो गए। इसीलिये पौष कृष्णा पंचमी, सम्वत् १७०० विक्रमीको ही उदासीन साधु लोग श्री श्रीचन्द्रजीकी निर्वाण-तिथि मानते हैं।

फूलि फलहिं परहेत

श्री श्रीचन्द्रजी यद्यपि हिन्दू जातिपर विशेष कृपा करके उनके कल्याणका मार्ग प्रशस्त करके एकान्त तपस्याके लिये चम्बेके वनमें प्रविष्ट हो गए किन्तु उनका जीवन सब मनुष्योंके लिये शक्ति, स्फूर्ति और कर्मठताकी प्रेरणा देनेवाला है। उन्होंने केवल अपने सम्प्रदायका ही नहीं वरन् अपने सम्प्रदायके द्वारा हिन्दू धर्मके पुनरुज्जोवनके लिये सशक्त और सबल संघटन भी स्थापित कर दिया। अपने लोक-धर्मके समयमें उन्होंने हिन्दू-विद्वेषी तथा अनाचार-प्रसारक सब सम्प्रदायों, मतों और क्रियाओंका खण्डन करके श्रौत सनातन-धर्मी मार्गका निर्देश दिया और अपने धर्मोपदेशोंके द्वारा लोगोंको नवीन चेतना, नवजीवन और नवीन जागर्तिकी प्रेरणा दी।

इस दृष्टिसे श्री श्रीचन्द्रजीका जीवन-चरित अनुकरणीय और अध्ययनीय है, विशेषतः ऐसे जिज्ञासुओंके लिये जो अपने आदर्शके लिये लोक-संग्रही महापुरुषकी खोज करते हैं, ऐसे महत्त्वाकांक्षियोंके लिये जो लोक-सेवाका व्रत लेकर महान् बनना चाहते हैं, ऐसे साधकोंके लिये जो विरक्त होकर आत्म-कल्याणके साथ लोक-कल्याण करना चाहते हैं और ऐसे नवयुवकों, भावी नेताओं तथा तेजस्वी अधिनायकोंके लिये, जिनकी प्रबल अन्तःप्रेरणा उन्हें निरन्तर संघर्ष, प्रगति, उन्नयन और अभ्युन्नतिकी ओर अग्रसर करती रहती है।

अष्टम प्रकरण



चार धूणे

जिन दिनों जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्रजी लाहौरमें थे उन्हीं दिनों उनके पास रामदेव और देवराज नामके दो युवक उनसे उपदेश लेनेके लिये निरन्तर आया करते थे।

रामदेवका जन्म माघ कृष्णा सप्तमी, संवत १६४५ को पंडित राजारामके घर उनकी धर्मपत्नी रत्नदेवीसे हुआ था। देशराज इनसे कुछ अवस्थामें छोटा और वहींके एक खत्रीका पुत्र था। रामदेवमें तो ब्राह्मण होनेके कारण संस्कारतः विरक्तिकी भावना विद्यमान थी किन्तु देशराजको इसलिये विरक्ति हो चली थी कि उसके पिताने जहाँगीरके प्रभावशाली पार्षद होनेके कारण अनेक अनैतिक उपायोंसे ही धनसंग्रह किया था। रामदेव और देशराज बड़े घनिष्ठ मित्र थे इसलिये वे साथ-साथ श्री श्रीचन्द्राचार्यजीके यहाँ उपदेश सुनने जाया करते थे।

कर्त्तारायजी

जब ये दोनों मित्र युवास्थामें पदार्पण कर रहे थे उस समय इनके माता-पिताने विचार किया कि इनका विवाह कर दिया जाय। तदनुसार पहले रामदेवका विवाह निश्चित हुआ। संयोगवश

जब उसकी व्रात (वारात) चली जा रही थी उसी समय बीचमें ही अचानक एक मकानकी दीवार गिर पड़नेसे देशराज दबकर तत्काल संसार छोड़कर चल बसा। सारी बारातमें हाहाकार मच गया। रामदेवने तुरन्त अपने बारातके कपड़े उतार फेंके और देशराजके शवको श्मशान-तक ले गया। वहाँसे लौटनेपर वह विरक्त होकर घरसे निकल पड़ा। लोगोंने बहुत समझाया-बुझाया किन्तु उसने किसीकी एक न सुनी और सीधा कादिराबादके उस वनमें जा पहुँचा जहाँ श्री श्रीचन्द्रजी विराजमान थे। रामदेव जाते ही उनके चरणोंमें गिर पड़ा और अपने हृदयकी सारी व्यथा सुनाकर शान्तिका उपाय पूछने लगा। श्री श्रीचन्द्रजीने उसे अध्यात्म-ज्ञानका उपदेश देकर उसका सम्पूर्ण शोक और मोह तत्क्षण नष्ट कर दिया।

तबसे रामदेव नियमित रूपसे श्री श्रीचन्द्रजीके पास रहने लगा जिसे आश्विन शुक्ला १०, संवत् १६६३ को उन्होंने उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके अपना शिष्य बना लिया और उसका नाम कर्त्ताराय रख दिया। दो वर्ष पश्चात् आश्विन शुक्ला १०, संवत् १६६५ को जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्यजीने उन्हें अपनी हरिद्वारकी गद्दी सौंप दी। कर्त्तारायजी बड़े सत्यनिष्ठ, मृदुभाषी, विद्वान्, सदाचारी और तपस्वी महात्मा थे। इन्हींके दो प्रसिद्ध शिष्य स्वामी वक्तानन्दजी और संगत साहब हुए हैं। माघ शुक्ला १५, संवत् १७३४ को दक्षिण भारतके सुचीन्द्रम् नामक स्थानमें ये ब्रह्मलीन हो गए।

चार धूने

श्री श्रीचन्द्राचार्यजीके अगणित शिष्योंमें चार प्रधान शिष्य हुए—अलमस्त (अलिमत्त) जी, फूल साहब (पुष्पदेवजी), गोविन्द साहब तथा बालूहसना (बालहास) जी, और ये चारों उदासीन सम्प्रदायमें चार धूणेके नामसे प्रसिद्ध हैं।

धूणा १ : अलमस्त (अलिमत्त) जी

श्रीनगर (कश्मीर) के गौड ब्राह्मण पंडित हरिदत्त कौलके यहाँ उनकी धर्मपत्नी श्रीमती प्रभावती देवीकी पावन कुक्षिसे कार्तिक कृष्णा ५, बुधवार, संवत् १६१० को कमलासनका जन्म हुआ था। इनका प्रारम्भिक नाम श्याम कौल था। बचपनसे ही वे निरन्तर कश्मीरमें तत्कालीन यवन शासकोंके अत्याचारोंकी कथा सुनते और उनके अत्याचारोंका प्रत्यक्ष दर्शन करते चले आ रहे थे। उन्होंने अपने कुलकी मर्यादाके अनुसार शुद्ध सनातन-धर्मकी परम्परामें सांगोपांग चारों वेदोंका अध्ययन किया था तथा स्वभावसे हीं वे सत्त्ववृत्तिवाले, अत्यन्त सदाचारी और विद्वान् थे।

संयोगवश उन्हीं दिनों जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्यजी कश्मीर पहुँचे हुए थे जहाँ उनकी विद्वत्ता और तपस्याकी कथा घर-घर व्याप्त हो गई थी। श्रीचन्द्राचार्यजीसे वे इतने प्रभावित हुए कि ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा, संवत् १६३१ से वे श्री श्रीचन्द्राचार्यजीकी सेवामें रहते हुए अध्ययन और आध्यात्मिक साधना साथ-साथ चलाते रहे। श्री श्याम कौल इतने सरल स्वभावके व्यक्ति थे कि वे शीघ्र ही उनके आत्मीय और प्रियपात्र हो गए।

चैत्र शुक्ला १५, संवत् १६६३ को श्री श्रीचन्द्राचार्यजीने कीर्तिपुरीमें उन्हें उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके अपना शिष्य बना लिया और उनका नाम अलिमत्त (अलमस्त) रखकर दीपावलीके दिन उन्हें नानकमतेका महन्त बना दिया क्योंकि उस समय नानकमतेके आश्रममें काई महन्त नहीं था। नानकमते स्थानके सम्बन्धमें बड़ी विचित्र कथा बताई जाती है कि यह स्थान किसी समय मतंग मुनिका आश्रम था। उसके पश्चात् यह स्थान प्रसिद्ध सिद्ध बाबा गोरखनाथजीके हाथमें रहा और गोरखमताके नामसे प्रसिद्ध हुआ। जब गोरखनाथजीके शिष्योंने यह स्थान छोड़ दिया तब उस स्थानका नाम नानकमता पड़ गया।

विशेष रूपसे श्री श्रीचन्द्राचार्यजीके प्रति कृतज्ञताके रूपमें वहाँके लोगोंने एक आश्रम बनवा दिया और उनकी चरण-पादुका वहाँ स्थापित कर दी। अलमस्तजीकी साधु-वृत्ति और सिद्धिसे प्रभावित होकर वहाँके राजाने उन्हें बारह गाँवें दान कर दिए थे।

वहीं नानकमतेमें निवास करते हुए ज्येष्ठ शुक्ला ११, संवत् १७०० को श्री अलमस्तजीने ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त किया। उनके पश्चात् वहाँ उनके शिष्य मखूचन्द्रजी महन्त हुए जिनके शिष्य-प्रशिष्योंकी परम्परा आजतक वहाँ विद्यमान है। श्री मखूचन्द्रजीके शिष्य मीठारामजी बड़े सिद्ध पुरुष थे जिनकी अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ उधर बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्हीं श्रीमीठारामजीके शिष्य श्री गुरुदासजी दक्षिणी बहुत प्रसिद्ध हुए।

गुरुदासजी दक्षिणी

श्री गुरुदासजी दक्षिणीका जन्म दक्षिण हैदाबादमें माघ कृष्णा ४, संवत १७०६ विक्रमीको तैलंग ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। इसीलिये वे दक्षिणी कहलाते थे। श्रावण शुक्ला ५, संवत् १७२० को वे उदासीन सम्प्रदायके अनुसार श्री मीठा रामजीके शिष्य बने और भाद्रपद कृष्णा १, संवत १७२५ को नानक-मतेकी गद्दीपर बैठे। वे बड़े उच्च कोटिके सन्त, परोपकारी, विद्वान् और तपस्वी थे। कुछ समय पश्चात् अपनी गद्दी अपने शिष्यको सौंपकर वे उदासीन साधुओंको साथ लेकर धर्मके प्रचार-के लिये निकल पड़े। कहा जाता है कि उन्होंने बहुतसे ग्रन्थ लिखे थे किन्तु उदासीन मात्राके अतिरिक्त उनका अन्य कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं।

निर्वाण कृपालदासजी

श्री गुरुदासजी दक्षिणीके गुरुभाई बाबा नन्दजी, बाबा नत्था साहब और बाबा कृपालदासजी प्रसिद्ध हो गए हैं। इनमेंसे महन्त कृपालदासने दशम पातशाही गुरु गोविन्दसिंहजीको

अपने ५०० नागे साधु देकर बड़े संकटके समय उनकी तब सहायता की थी जब उनके साथके खालसे लोग भाग खड़े हुए थे। कृपालदासजीकी इस तत्परता-पूर्ण संकटकालीन सहायताकी बात गोविन्दसिंहजी आयु भर नहीं भूले। महन्त कृपालदासजीका स्थान हेहर (हरिपुर), जिला फीरोजपुर (पंजाव)में है जहाँ श्रावण शुक्ला पंचमी (नागपंचमी), संवत् १७५७ को वे ब्रह्मलीन हुए। इन्होंने अपने साथमें जो कुतक लेकर युद्ध किया था वह अभी-तक सुरक्षित है जिसका दर्शन कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाको प्रतिवर्ष कराया जाता है।

श्री गुरुदासजी दक्षिणीके दूसरे गुरुभाई वावा नत्था साहबने वंगालमें जाकर हिन्दू धर्मका प्रचार किया और ढाका शहरमें अपना आश्रम वनाकर निवास करते रहे जो अभीतक ढाका (पाकिस्तान) में महन्त वावा नत्था साहवजीकी धर्मशालाके नामसे प्रसिद्ध है।

गुरु वनखण्डीजी (नैपालवाले)

नैपालके प्रसिद्ध संत और महात्मा गुरु वनखण्डीजीका जन्म भाद्रपद कृष्णा १०, संवत् १७२० को पटियालेके सारस्वत ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। उन्होंने वावा नत्थासाहवसे ही शिष्यत्व ग्रहण किया था और नैपालकी मोरंग झाड़ीमें अपना अखण्ड धूणा जमाकर तपस्या की थी।

नगाधिराज हिमालयकी चिरोन्नत पर्वत-श्रेणियोंके बीच पूर्वसे पश्चिमतक फैली हुई पार्वत्य अधित्यकामें नैपाल राज्य और उसकी उपत्यकामें वह ढाई मील चौड़ी सघन तराई है जो विशाल शालके ऊँचे-ऊँचे सघन वनोंसे ढका हुआ फैला है और जिसके दक्षिणमें प्रकृत तराईकी उपजाऊ भूमिकी पश्चिमी सीमापर कोसी नदी और पूर्वी सीमापर मीची नदी वहती हुई दक्षिणकी ओर वढ़ जाती है। इन्हीं कोसी और मीची

नदियोंके बीच वह मोरंग नामकी वनभूमि तराईमें फैली हुई है जिसे श्री वनखण्डी स्वामीजीने अपनी तपस्याके प्रभावसे पवित्र कर दिया था।

धूनेकी स्थापना

सम्वत् १७५६ में दरभंगेके वन्य प्रान्तसे होते हुए वनखण्डीजी नेपाल-स्थित पशुपतिनाथ महादेवके दर्शनके निमित्त पैर बढ़ाए चले जा रहे थे। कोसी नदीके तटपर पहुँचते-पहुँचते रात हो गई फिर भी वनखण्डीजी नावसे कोसी नदी पार करके उस पार जा पहुँचे। माघकी रात्रिके कारण कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा था। उन्होंने निश्चय किया कि पास ही विरल पार्वत्य बस्तीमें जहाँ गौओंके गलेमें बँधी हुई घण्टियाँ सुनाई पड़ रही हैं वहाँ रात बिताई जाय। तदनुसार एक गृहस्थके द्वारपर उन्होंने नारायण-नारायणकी जा पुकार लगाई। भीतर झोपड़ीसे एक ग्वाला निकला और उसने बड़ी भाव-भक्तिके साथ उनका आतिथ्य-सत्कार किया। अगले दिन प्रात:काल जब उन्होंने नेपाल जानेका विचार सुनाया तो उस ग्वालेने अत्यन्त आर्त होकर उनसे निवेदन किया कि 'मेरे पिताजी अत्यन्त रुग्ण होकर पड़े हैं। जबतक उनका श्वास चल रहा है तबतक उनपर कृपा करके यहीं सेवा ग्रहण करें।' संयोगवश ठीक शिवरात्रिके दिन उस ग्वालेके पिताने अन्तिम श्वास छोड़ा और वनखण्डीजी महाराज नेपाल जानेके लिए सन्नद्ध हो गए। उस ग्वालेने स्मरण दिलाया कि शिवरात्रि तो आज ही है, अब जानेसे क्या लाभ होगा। आप यहीं अपनी धूनी जगाइए और हम लोगोंका कल्याण कीजिए। स्वामीजीने अपना नेपाल जानेका सङ्कल्प छोड़ दिया और उसी मोरङ्ग झाड़ीमें उन्होंने अपनी धूनी जगा दी जहाँ यह प्रसिद्धि हो गई कि सिंह उस भूमिको अपनी पूँछसे झाड़ते हैं और जङ्गली हाथी अपनी सूँड़से लकड़ी तोड़कर धूनीको प्रज्वलित रखते हैं। उन्होंने अपनी कठोर तपस्यासे इतनी दिव्य शक्तियाँ

श्रौर सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं कि दूर-दूरसे अनेक श्रद्धालु साधु, महात्मा श्रौर गृहस्थ उनके यहाँ दर्शन करने श्रौर उनकी कृपा प्राप्त करने आने लगे थे।

नैपाल-नरेश-द्वारा सत्कार

उनकी इस व्यापक प्रसिद्धिसे कुछ आस-पासके तथाकथित साधु उनसे अकारण द्वेष करने लगे जिनमें धूनी साहबसे छह कोसकी दूरीपर बसा हुआ चतुरामठका गोसाईं भी था। उसने धीरे-धीरे लोगोंको वनखण्डीजीके विरुद्ध भड़काना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु स्वामीजीकी प्रसिद्धिपर इसका कोई प्रभाव न पड़ा क्योंकि जो लोग चतुरामठके गोसाईंके पास भी आते-जाते थे उन्होंने भी स्वामीजीके पास आना-जाना नहीं छोड़ा। जब चतुरामठके गोसाईंने देखा कि गोटी नहीं बैठ रही है तो वह जाकर मोरङ्ग झाड़ीके तपस्वीके विरुद्ध नैपाल-नरेशके कान भरने लगा कि यह तांत्रिक आपका राज्य नष्ट करनेके लिये यहाँ आया हुआ है। नैपाल-नरेशने भी गोसाईंके मुखसे ये सब बातें सुनी तो सशंक हो उठे और उन्होंने अपने सेनापतिको आज्ञा दी कि तत्काल उस महात्माको बुला लाया जाय। जब उनके सेनापति स्वामीजीके पास पहुँचे तो उन्होंने अपना मौन व्रत भंग करके भी परम स्नेह और माधुर्य-भरे शब्दोंमें उनसे कहा कि आप लोग चलिए, मैं स्वयं वहाँ पहुँचा जाता हूँ। यह सुनकर सेनापति और सैनिक चले गए। काठमाण्डू (काष्ठमंडप) में जब नैपाल-नरेशको समाचार मिला तो वे स्वयं उनकी सपर्याके लिये वहाँ आ पहुँचे और बड़ी आवभगतके साथ उन्हें अपने भवनमें लिवा ले गए जहाँ उन्होंने विधिवत् उनका पूजन-अर्चन किया।

प्रियतमदासजीपर कृपा

नैपालके महाराणाके द्वारा वनखण्डीजीका भव्य स्वागत होनेके कारण उनकी प्रसिद्धि और भी अधिक बढ़ गई और बड़े-बड़े साधु-महात्मा भी उनके पास दर्शनके लिये आने लगे।

इन्हींमें एक श्री हरिदासजी उदासीन भी थे। श्री वनखण्डीजीने हरिदासजीको अपना आशीर्वाद देकर अपना परम आत्मीय बना लिया था और वे स्वामीजीके पास ही रहकर उनकी सेवा कर रहे थे। एक दिन धूनी साहबके पास प्रवाहित लंगोट गंगामें स्नान करके एक पत्थरकी चट्टानपर हरिदासजी बैठे ही थे कि उनके पास धरा हुआ लोहेका चिमटा पास पड़े हुए पारस पत्थरके स्पर्शसे सोनेका हो गया। उन्होंने तत्काल पारस पत्थर और चिमटा दोनोंको उठाकर लंगोट गंगामें फेंक मारा कि कहीं इनसे मेरी तृष्णा और न बढ़ जाय। वहीं पास खड़े हुए साधु प्रियतमदासजीने यह देखा तो उन्हें उपालम्भ देने लगे कि 'घर आई हुई लक्ष्मीका भी कोई इस प्रकार अपमान और तिरस्कार किया करता है! इससे न जाने कितने साधु-महात्माओंका कल्याण हो सकता था।' इसपर हरिदासजीने हँसकर कहा—'भाई! यह सारा विश्व ही मिथ्या है। यह सोनेका चिमटा और यह पारस दोनों सामान्य धातु और पत्थरके अतिरिक्त हैं क्या। मैं तो स्वामी वनखण्डीजीकी कृपाको ही बहुत समझता हूँ।' उनकी बात सुनकर श्री प्रियतमदासजीकी आस्था वनखण्डीजीमें और भी अधिक बढ़ चली। भक्त प्रियतमदासजीने वनखण्डीजीकी कृपा प्राप्त करनेके लिये बारह वर्ष बड़ी कठोर तपस्या की जिससे प्रसन्न होकर स्वामी वनखंडीजीने उन्हें शरणमें ले लिया और तब प्रियतमदासजी उनके अनन्य शिष्य और सेवक बनकर उन्हींके पास रहने लगे।

पांच वर्षके पश्चात् प्रियतमदासजीने स्वामीजीसे निवेदन किया कि लोक-कल्याणके लिये साधुओंको संघटन यदि किया जाय तो कितना अच्छा हो। स्वामीजीने तत्काल अपनी धूनीसे विभूति उठाकर उनके मस्तकपर लगाते हुए और उन्हें थोड़ी धूनी-की विभूति देते हुए कहा कि 'यह विभूति ले जाओ। इसे मस्तकपर लगाते रहना और इसकी पूजा करते रहना। तुम्हारा कल्याण

होगा।' यह कहकर उन्होंने प्रियतमदासजीको लोक-कल्याणके लिये विदा कर दिमा। वह विभूतिका गोला आजतक अखाड़ेमें गोला साहबके नामसे पूजा जाता है।

श्री वनखण्डीजी महाराजका आशीर्वाद और वरदान पाकर प्रियतमदासजी साधु-सङ्घटनका पुनीत व्रत लेकर चल पड़े। उन्होंने गया, हरिद्वार, प्रयाग, नासिक और उज्जैन आदि सम्पूर्ण भारतके तीर्थोंमें घूम-घूमकर उदासीन साधुओंके बड़े-बड़े अखाड़े स्थापित कर दिए।

जौरा-भौरा

कुछ दिनों पश्चात् वनखण्डीजी महाराजकी सेवामें जौरा और भौरा नामके दो और शिष्य आ गए। जिस समय स्वामीजी समाधि लगाकर वैठते थे उस समय जौरा और भौरा उनकी कुटियाके सामने द्वारपाल बनकर पहरा दिया करते थे। एक दिन अचानक संयोगवश भेड़िया मठमें निवास करते हुए वनखण्डीजी महाराजने जौरा-भौरासे कहा 'कि मैं लम्वी समाधि लगानेवाला हूँ। तुम घवराना मत। मैं दस दिनके पश्चात् समाधिसे उठूँगा। इस अवधिमें तुम दोनों सावधानीके साथ देख-भाल करते रहना।'

वनखंडीजीका निर्वाण

दस दिनकी समाधिका समाचार पाकर अनेक लोग उनके दर्शनके लिये आने लगे जिनमें चतुरामठका कुचक्री गोसाईं भी था। उसने आकर बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम करके उनकी नाड़ी और उनके हृदयपर हाथ रखकर अत्यन्त घवराहट, भय और आशङ्काके साथ कहना प्रारम्भ किया कि स्वामीजी ब्रह्मलीन हो गए हैं। यद्यपि जौरा-भौराको स्वामीजीने बहुत समझा भी दिया था किन्तु वे भी किं कर्तव्य-विमूढ हो गए और उन्होंने चतुरामठके गोसाईंकी बात ही ठीक समझ ली। फिर क्या था? उनके अन्तिम संस्कारकी व्यवस्था की जाने लगी। यद्यपि

साधुओंके लिये प्रवाहका ही विधान है किन्तु चतुरामठके गोसाइंने यह व्यवस्था दी कि उनका दाह ही होना चाहिए। तदनुसार ज्योंही उन्हें अग्नि-संस्कारके लिये रक्खा गया और अग्नि प्रदीप्त की गई त्योंही स्वामीजी समाधि तोड़कर जाग उठे। किन्तु तबतक उनका शरीर कुछ जल चुका था। उन्होंने तत्काल गोसाइंको सम्बोधित करके कहा 'कि हमने कभी तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं किया फिर भी तुमने षड्यन्त्र करके हमारे शिष्योंको भ्रममें डालकर हमारे समाधिस्थ शरीरको अग्निपर चढ़ा दिया। अब तुम्हारी गद्दीपर यतिके बदले गृहस्थ ही बैठता रहेगा।'

तत्काल स्वामीजीने अपने त्रस्त शिष्य जौरा-भौरासे कहा कि साढ़े तीन हाथ लम्बा लकड़ीका खम्भा ले आओ। उसे वहीं गड़वाकर स्वामीजीने गोसाइंसे कहा कि अबसे यह मौन व्रत-धारी लकड़ीका खम्भा ही मौनदास बनकर यहाँका चिरस्थायी महन्त बना रहेगा। तत्पश्चात् उन्होंने जौरा-भौराको आदेश दिया कि तुम दोनों यहीं रहकर धूनी जगाते रहना और अन्तमें तुम दोनोंकी समाधि भी यहीं बनेगी। यह कहकर स्वामीजी ब्रह्मलीन हो गए और आश्विन शुक्ला १०, सम्वत् १८१९ को उनका पार्थिक शरीर भस्म हो गया।

मोरंग झाड़ीमें जहाँ बनखण्डीजी महाराजने अपनी धूनी जगाई थी वह आज भी प्रदीप्त है। उनके भक्तोंने उनकी स्मृति चिरस्थायी करनेके लिये धूनी साहबके पास ही कुएँकी ओर बनखण्डीजी महाराजकी मूर्ति स्थापित करा दी है। इसी आश्रमके पास दक्षिणकी ओर लँगोट गङ्गा नामकी वह नदी है जिसके तटपर साधु प्रियतमदासजीका स्थान भी बना हुआ है। आज भी नैपाल राज्यकी ओरसे बनखण्डीजीके आश्रमपर रहनेवाले साधुओंके लिये हाँडियाँ मिलती हैं और वह भूमि आज भी उसी धूनीके नामपर अर्पित है।

धूणा २ : पुष्पदेवजी (फूल साहब)

फूल साहब (पुष्पदेवजी) का जन्म फाल्गुन कृष्णा ८, संवत् १६३० को श्रीनगर (कश्मीर) में हुआ था। ये गोविन्द साहबके कनिष्ठ भ्राता थे और इनका जन्म-नाम दीवानचन्द्र था। ये भी अपने ज्येष्ठ भ्राताके चरणोंका अनुसरण करते हुए अपने घरका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर चैत्र शुक्ला संवत् १६६१ को श्री श्रीचन्द्रजीकी सेवामें आ पहुँचे और उनकी आज्ञासे माघ शुक्ला ५, संवत् १६६३ को उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित हो गए और आश्विन शुक्ला ६, संवत् १६६४ को इन्हें बहादुरपुरका महन्त बना दिया गया। ये स्वभावसे बड़े मृदुभाषी और प्रभावशाली वक्ता थे। आषाढ कृष्णा ४, संवत् १७२० को बहादुरपुरमें ही आप ब्रह्मलीन हुए। वहाँ आपका विशाल स्थान बना हुआ है।

धूणा ३ : गोविन्ददेवजी

श्री गोविन्ददेवजीका जन्म श्रीनगर (कश्मीर) में लाला जयदेव दासके यहाँ माता सुभद्रा देवीकी कुक्षिसे आश्विन कृष्णा ५, संवत् १६२६ को हुआ था। इनका जन्म-नाम सहदेवसिंह था। फाल्गुन शुक्ला १५, संवत् १६५५ को ये भी घरबार छोड़कर और घरका प्रबन्ध अपने पुत्रोंको सौंपकर श्री श्रीचन्द्रजीकी सेवामें आ पहुँचे। उन्हींकी आज्ञासे चैत्र शुक्ला ६, संवत् १६६३ को ये उदासीन धर्ममें दीक्षित कर लिए गए और इनका नाम गोविन्ददेव या गोविन्दसाहब रख दिया गया। इसके पश्चात् इन्हें कीर्तिपुरका महन्त बनाकर वहाँकी गद्दी सौंप दी गई।

गोविन्ददेवजी बड़े दयालु, धार्मिक और अच्छे उपदेशक थे। आश्विन कृष्णा ५, संवत् १७०६ को ये ब्रह्मलीन हो गए। इनकी समाधि जालंधर जिलेके फिल्लौर नगरमें संस्थित है।

धूणा ४ : बालू हसना (बालहास) जी

श्री बालू हसनाका जन्म श्रीनगर (कश्मीर) में माघ शुक्ल १०, संवत् १६२१ को हुआ था। ये श्री अलमस्तजीके ही

कनिष्ठ भ्राता थे और इनका जन्म-नाम चूडामणि था। जबसे इनके बड़े भाई घर-बार छोड़कर गए तबसे ये घरमें बड़े खोए-खोएसे रहते थे। किसी-किसी प्रकार इन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया और इनके तीन पुत्र भी हुए जो बड़े होकर घरका सब काम-काज सँभालने लगे। जब इन्होंने देखा कि अब घरकी व्यवस्था ठीक हो गई है तब ये भी संवत् १६५० में घर-बार छोड़कर पंजाबमें आकर श्री श्रीचन्द्रजीके साथ रहने लगे। इन्हें सदा हंसमुख रहते देखकर श्री श्रीचन्द्रजीने इनका नाम 'बाल-हास' (बालू हसना) रख दिया और आषाढ शुक्ला १५, संवत् १६६३ को उदासीन धर्ममें दीक्षित कर लिया। ये बड़े विद्वान्, तपस्वी और भजनीक थे। चैत्र शुक्ला ९, संवत् १६६४ को इन्हें डेरा बाबा नानककी गद्दी सौंप दी गई। कार्तिक शुक्ला १५, संवत् १६९८ को श्री बालू हसनाने अपने शिष्य लालदासको अपनी गद्दी सौंप दी और समस्त पंजाबमें वैदिक धर्मका प्रचार करनेके लिये अपने साथ बहुतसे उदासीन साधुओंको लेकर निकल पड़े। यद्यपि उस समय यवन शासनके कारण चारों ओर बड़ी अव्यवस्था व्याप्त थी और हिन्दुओंका धन-जन, धर्म-कर्म सब संकटग्रस्त था तथापि बालू हसनाजीने अत्यन्त निर्भयता-पूर्वक घूम-घूमकर सनातनधर्मका प्रचार किया। वे अनेक तीर्थोंकी यात्रा करते हुए देहरादून आ पहुँचे और मार्गशीर्ष शुक्ला ११, संवत् १७१७ को वहीं ब्रह्मलीन हो गए जहाँ अभी-तक उनकी समाधि बनी हुई है।

अखाड़ेमें छाँदा इसी क्रमसे बाँटा जाता है—प्रथम, अलमस्तजीकी पंगतको दूसरे, फूल साहबकी पंगतको; तीसरे, गोविन्द साहबकी पंगतको और चौथे, बालहासजीकी पंगतको।

नवम प्रकरण



बख्शीश और उपबख्शीश

बख्शीशका अर्थ है वरदान। जिन महात्माओंने श्री श्रीचन्द्राचार्यजीसे वरदान लेकर उदासीन सम्प्रदायका अभिवर्धन किया वे बख्शीशके अन्तर्गत आते हैं और जिन्होंने उनके प्रति मानस-भक्ति करके उनसे मानस वरदान प्राप्त करके उदासीन सम्प्रदायका शाखा-प्रसार किया वे उपबख्शीशके अन्तर्गत आते हैं। उदासीन सम्प्रदायके छह बख्शीशोंमें सर्वप्रथम नाम गुरु भगत भगवान दरगह परवानका आता है। इनका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा ४, संवत् १५५६ को बोधिगयाके उत्कल ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। ये पहले बहुत दिनोंतक दशनामी सम्प्रदायमें दीक्षित होकर बोधिगयाके महन्त रहे। उस समय इनका नाम भगत गिरि था। एक बार ये अपनी मंडलीके साथ कर्तारपुर आए जहाँ उन्होंने श्री श्रीचन्द्रजीके गुणोंका वर्णन सुनकर उनसे भेंट करनेकी इच्छा की। यह सोचकर वे लाहौर होते हुए ननकाणा साहब आए जहाँ महन्त धर्मचन्द्रजीने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया।

भगत-भगवानजी : प्रथम बख्शीश

वहाँसे चलकर भगत गिरिजी श्रीचन्द्रजीकी सेवामें सिन्धु देशके नगरठट्ठे जा पहुँचे। वहाँ श्री श्रीचन्द्रजीने कार्तिक शुक्ला १५, संवत् १६०१ को उन्हें उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके और उनका

नाम भगत भगवान रखकर यह वरदान (वख्शीश) दिया कि जो व्यक्ति भगत भगवानजीका या भगत भगवानके सम्प्रदायका शिष्य या सेवक बनेगा वह दरगाह (परमात्माके धाम) में परवान (प्रमाण) माना जायगा (स्वीकार किया जायगा)। यही कारण है कि उदासीन सम्प्रदायमें गुरु भगत भगवानजी ही सर्वप्रथम वख्शीश (वरदान) प्राप्त-कर्ता माने जाते हैं। इसके पश्चात् भगत भगवानजीके जितने भी ३६० शिष्य थे वे सवके सव उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित कर लिए गए और इस प्रकार उदासीन साधुओंका सवल दल तैयार करके उन्होंने सव प्रशिष्योंको वैदिक धर्मकी रक्षा और उसके प्रचारके लिये सिन्धु, पंजाव, युक्तप्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश), विहार आदि प्रदेशोंमें भेज दिया जिन्होंने विभिन्न स्थानोंमें जाकर अपने-अपने डेरे स्थापित कर लिए।

उनके ३६० शिष्योंमें मुख्य रूपसे टीकारामजी, वदरीदासजी, पुष्पदासजी, रामसहायजी, नारायणदासजी, वखत मललजी, दुर्गादासजी, तुलसीदासजी, लालदासजी, संगतदासजी, जगतरामजी और श्यामदासजी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

अजीतानन्दजी : द्वितीय बख्शीश

अजीतानन्दजीका जन्म कार्तिक शुक्ला ९, संवत् १९५२ को पंजाब प्रान्तके फतेहपुर नगरके दयारामजी सोंढी खत्रीके घर देवी निहाल कौरको कुक्षिसे हुआ। इनका जन्म-नाम रामकुमार था। प्रारम्भिक संस्कार हो चुकनेके पश्चात् इनके शिक्षणकी व्यवस्था होने ही वाली थी कि अकस्मात् एक दिन रामकुमारको अपने पिताजीके साथ नगरसे वाहर अपनी जमींदारीपर चला जाना पड़ा। मार्गमें एक लूला (विना हाथ-पाँव-वाला) व्यक्ति वैठा हुआ ऊँचे स्वरसे कह रहा था—'कर राम-भजन सुख पावेगा, नहीं पड़ा-पड़ा पछतावेगा।' यह सुनकर रामकुमार मनही मन विचार करने लगा कि यह लूला जो कुछ कह

रहा है यही नितान्त सत्य है। इसी धुनमें जब वह अत्यन्त चिन्तित अवस्थामें घर पहुँचा और उसकी माताने उदासीका कारण पूछा तब उसने बड़े भोलेपनके साथ अपनी माताजीसे पूछा कि 'रामका भजन कैसे किया जाता है।' माताजीने उत्तर दिया कि रामके भजनका मार्ग तो साधु-महात्मा लोग जानते हैं, हम गृहस्थोंको घरके झंझटोंसे ही अवकाश कहाँ मिलता है कि उस रहस्यको जान सकें।

तदनुसार अपने माता-पिताकी आज्ञा लेकर वह श्री श्रीचन्द्राचार्यजीकी सेवामें जा पहुँचा जहाँ उन्होंने वैशाख शुक्ला ४, संवत् १६७२ को उसे अपना शिष्य बनाकर उसका नाम अजीतानन्द रख दिया। साथ ही उन्होंने यह वरदान (बख्शीश) दिया कि तुम वेद-वेदान्त आदिके पंडित होगे और जो कुछ कह दोगे वह सत्य होगा। इस प्रकार श्रीचन्द्रजीके वरदान-(बख्शीश) प्राप्त-कर्त्ताओंमें श्री अजीतानन्दजी दूसरी बख्शीश-वाले माने जाते हैं। ये शरीरसे बड़े हृष्ट-पुष्ट और मल्लयुद्ध तथा व्यायाममें बड़े सिद्ध थे। इसीलिये पंजाबमें लोग इन्हें अजीतानन्दके बदले अजीतमल सोढ़ी कहते थे क्योंकि ये सोढ़ी वंशमें उत्पन्न हुए थे। इन्होंने रामदासजीके पुत्र पृथ्वीचन्द्रसे फ़ारसी भी पढ़ी थी, इसीलिये उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके पूर्व ये पृथ्वीचन्द्रजीको अपना उस्ताद (गुरु) कहा करते थे। संभवतः इसी भ्रमसे कुछ सिक्ख इतिहास-कारोंने अजीतानन्दजीको पृथ्वीचन्द्रका शिष्य लिख दिया है। इनकी गद्दी फतेहपुर (पंजाब) में है और वहीं फाल्गुन कृष्णा १, संवत् १७४४ को ये ब्रह्मलीन हुए। ये अजीतानन्द उन अजीतानन्द रन्धावासे भिन्न हैं जो नानक देवजीके समय विद्यमान थे।

सुथरेशाहजी : तृतीय बख्शीश

सुथरेशाहजीका जन्म भाद्रपद शुक्ला ७, संवत् १६३८ को बहरामपुरमें नन्दराम खत्रीके घर हुआ था। इनका पालन-

पोषण हरिगोविन्दजीने किया था और इन्हें बड़े अध्यवसायसे सब हिन्दू-धर्मशास्त्रोंका अभ्यास कराया था। फाल्गुन शुक्ला १५, संवत् १७१६ को ये नत्था साहबके शिष्य बनकर उदासीन धर्ममें अलमस्तजीकी परम्परामें दीक्षित हो गए।

सुथरेशाहजीने बड़ी तपस्या की थी और कहा जाता है कि उस तपस्यासे प्रसन्न होकर माघ शुक्ला १५, संवत् १७१७ की रात्रिको स्वप्नमें श्री श्रीचन्द्रजीको वरदान दिया था कि तुम वचन-सिद्ध होगे तथा सब सिद्धियोंके स्वामी बनोगे।

इनके सम्बन्धमें प्रसिद्ध है कि इन्होंने अनेक प्रकारके ऐसे आश्चर्यजनक चमत्कारोंका प्रदर्शन किया था कि तत्कालीन दिल्ली-पतिने शाही हुक्मनामा निकाल दिया था कि प्रति दुकान पीछे एक पैसा सुथरेशाहका 'कर' निकाल दिया जाया करे। अबतक भी वहाँके दूकानदार इस परम्पराका निर्वाह करते आ रहे हैं।

सुथरे शाहजी संवत् १७३८ में ठीक शिवरात्रिके दिन ब्रह्मलीन हुए। इनके शिष्योंमें भुञ्भा शाह, बावा रजाल शाह और अंधेर शाह प्रसिद्ध हैं। रजाल शाहके शिष्य सहजानन्दजीका स्थान स्यालकोटमें और उनके दूसरे शिष्य भंगड़ शाहका लाहौरके किलेके पास प्रसिद्ध है। रजाल शाहजीने ऋक्थमें गुरुवाणीका गुटका सहजानन्दजीको और गंडे भंगड़ शाहजीको दिए थे।

मीहाँ साहब : तृतीय बख्शीश

मीहाँ साहबका जन्म भाद्रपद शुक्ला ६, संवत् १७०० को पंजाबके धमधाड़ ग्राममें मीहाँ क्षत्रिय वंशमें हुआ था। ये मीहाँ क्षत्रिय अब भी चम्बा (कश्मीर) की तराईमें विद्यमान हैं। इनका जन्म-नाम रामसिंह था। ये अत्यन्त चतुर, बड़े होनहार, भाग्यशूर और विद्वान् थे। अपने विषयको अत्यन्त उत्तम रीतिसे समझानेकी कला इन्हें भली-भाँति आती थी। ये कार्तिक कृष्णा

१५, संवत् १७२० की दीवालीके दिन बाबा नन्दलाल सोहनासे शिष्यत्व ग्रहण करके उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित हो गए और उनका नाम रामदेव या रामानन्द रक्खा गया। किन्तु उदासीन सम्प्रदायमें ये मीहाँ साहबके नामसे ही प्रसिद्ध हैं।

रामदेवजी (मीहाँ साहब) के मनमें एक दिन यह विचार उठा कि श्री श्रीचन्द्राचार्यजीके दर्शन प्राप्त किए जायँ। इसी बीच उन्हें स्वप्नमें इस प्रकारका संकेत हुआ कि यदि आप श्रीचन्द्रजीके मात्रा-शास्त्रका अनुष्ठानपूर्वक जप करें तो अवश्य दर्शन होगा। अनुष्ठान पूर्ण होनेसे पूर्व ही वैशाख पूर्णिमा, संवत् १७३६ को इन्होंने श्रीचन्द्राचार्यजीके मानस दर्शन प्राप्त कर लिए जिन्होंने वरदान किया कि आपके शिष्य-प्रशिष्योंकी परम्परामें बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा होंगे। इसीसे ये तृतीय बख्शीश माने जाते हैं।

मीहाँ साहब बड़े चमत्कारी महापुरुष थे और बड़े राजसी ठाट-बाटसे रहा करते थे। ये बड़े दयालु, विरक्त; सत्यनिष्ठ, परोपकारी, देशभक्त, निष्पक्ष न्यायकर्त्ता और समदृष्टिवाले थे। इन्होंने सिन्ध, पञ्जाब तथा उत्तर प्रदेशमें वैदिक धर्मका व्यापक प्रचार किया। कार्तिक शुक्ला १५, सं० १७७१ को ये देवलोक पधारे। इनकी समाधि पञ्जाब (पाकिस्तान) के स्यालकोट जिलेमें मस्ता ग्राममें विद्यमान है। इनके शिष्य लक्ष्मीदासजीका स्थान बाबा मनीरामजीके नामसे पटियाला राज्यमें विद्यमान है। इनकी परम्परामें गुरुनारायण दासजीने लखनऊमें बड़ा विशाल स्थान बनवाया था जो हज़ारा बागके नामसे प्रसिद्ध है।

इनके प्रधान शिष्य (बड़े चेले) बाबा मल्ल साहब हुए, जिनका स्थान पंजाबके अंबाला जिलेमें कहीड़ कोट्ट माजरामें विद्यमान है। इनके शिष्य बाबा संतोषीदासजी हुए जिनकी शिष्य-परम्परामें श्यामदासजीने एक स्थान पटियालामें बनवाया और दूसरा स्थान कुरुक्षेत्र (थानेश्वर) में बनाकर अपने बड़े

शिष्य भगतरामको सौंप दिया। इन्हीं भगतरामजीके शिष्य महात्मा मेलारामजी हुए जिनके शिष्य परम प्रसिद्ध साधुवेला तीर्थके संस्थापक वनखण्डीजी महाराज थे।

वनखण्डीजी महाराज

कुरुक्षेत्र (थानेश्वर) नगरमें विक्रमकी उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें पंडित रामचन्द्र शर्मा नामके एक गौड सद्गृहस्थ ब्राह्मण निवास करते थे। ब्राह्मण-संस्कारके अनुरूप उन्होंने सभी शास्त्रोंका भली प्रकार व्यवस्थित अध्ययन करके अपने शील और चरित्रसे सात्त्विक ब्राह्मणका धर्म-कर्म सुरक्षित-कर रक्खा था।

विद्या और संपत्तिका इतना प्रशस्त वैभव तथा कीर्तिकी इतनी विशाल समृद्धि प्राप्त कर लेनेपर भी प्रौढावस्थातक उनके संतुष्ट तथा सर्वसुख-पूर्ण घरमें अपनी बाल-लीलाओंसे मुग्ध करनेवाला बालक नहीं था। अपने समस्त सांस्कृतिक तथा भौतिक वैभवमें यह पुत्रका अभाव उन्हें निरन्तर शूलके समान पीडित किए रहता था क्योंकि केवल बालविनोदसे आत्मतुष्टि करने मात्रके लिये ही नहीं, अपितु पारलौकिक सुख तथा वृद्ध-वस्थामें सहारेके लिये भी पुत्रकी आवश्यकताका वे निरन्तर अनुभव कर रहे थे।

स्वामी मेलारामजी

उन दिनों स्वामी मेलारामजी उदासीनकी उस प्रदेशमें बड़ी ख्याति थी, जो अपने साथ सदा सौ साधु लेकर लोक-कल्याण करते हुए घूमते रहते थे। उनकी सिद्धियों और चमत्कारोंकी अनेक कथाएँ बहुत लोक-प्रसिद्ध हो चुकी थीं, यहांतक कि साधारण जनसमाजका यह विश्वास हो चला था कि लोकोत्तर सिद्धियां उनकी दासी हैं और उनकी वाणीमें सरस्वतीका वास है।

इसी प्रकार लोक-कल्याण करते हुए मेलारामजी उदासीन अपमे सौ साधुओंकी मण्डलीके साथ देश-देशान्तर घूमते हुए एक बार कुरुक्षेत्रकी उदासीन गुरुस्थलीमें आ पधारे। पण्डित रामचन्द्र शर्मा भी स्वामी मेलारामजीकी सिद्धियोंका वर्णन भली-भाँति सुन चुके थे। उन्होंने भी अपने मनमें विचार किया कि ऐसे दिव्य महात्माके सम्मुख अपनी प्रार्थना तथा व्यथा उपस्थित कर देनेमें क्या सङ्कोच है। वे भी अन्य भक्तोंके समान फल-फूलकी भेंट लेकर स्वामीजीको शरणमें जा पहुँचे और अत्यन्त श्रद्धाके साथ उनका चरण-स्पर्श करके अत्यन्त भावमय होकर उनकी स्तुति करने लगे।

वरदान

पण्डित रामचन्द्र शर्माकी विद्वत्तापूर्ण शुद्ध संस्कृतमयी ललित वाणी सुनकर तथा उनकी निष्कपट भावपूर्ण आस्था देखकर स्वामीजी अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने पंडित रामचन्द्र शर्मासे कहा कि 'आपकी' ललित, निष्ठापूर्ण मधुर वाणीने मेरा हृदय और मेरा आत्मा तुष्ट कर दिया है। मुझे आपकी रस-स्निग्ध वाग्धारासे अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ है। मुझे इतनी प्रसन्नता हुई है कि अपने उस हर्षातिरेकको तृप्त करनेके लिये मैं आपका कुछ उपकार करना चाहता हूँ। अतः, मेरी हार्दिक इच्छा हैं कि आप मुझसे कोई वर माँगिए।

स्वामी मेलारामजीकी यह कृपामयी वाणी सुनकर पंडित रामचन्द्र शर्माके हृदयमें हर्षका सागर लहरें मारने लगा। किन्तु अपनी उस उल्लासपूर्ण उत्सुकताको अपनी विद्वतापूर्ण गम्भीरतासे दबाकर उन्होंने अत्यन्त गद्गद कण्ठसे निवेदन किया—

'भगवन्! संसारकी सब सिद्धियाँ आपकी मुठ्ठीमें हैं। विश्व की समस्त कामनाएँ इच्छाएँ और लालसाएँ आपकी वाणीके संकेतपर फलवती होती हैं। ऐसा कोई कार्य नहीं है जो आपके लिये दुष्कर हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आपके लिये अदेय हो, किन्तु

इस समय मेरी एक ही आकांक्षा और प्रार्थना है कि आप अपने चरण-रजसे मेरी कुटिया पावन कर दें।'

स्वामी मेलारामजी तो पहले ही इतने भावित हो गए थे कि विश्वकी सम्पूर्ण निधियाँ भी यदि पंडित रामचन्द्र शर्मा माँगते तो उनपर न्यौछावर कर देते। इसलिये जब उन्होंने शर्माजीको यह छोटी सी प्रार्थना सुनी तो उसे स्वीकार करनेमें उन्होंने तनिक भी देर नहीं की और तत्काल उनके निवास-स्थान-पर चलनेके लिये सन्नद्ध हो गए। ऐसे लोकविख्यात, प्रसिद्ध और सिद्ध अतिथिको अपने आवासपर पाकर पंडित रामचन्द्रजी तथा श्रीमती मनोरमादेवीको ऐसी प्रसन्नता हुई मानो चातकको स्वातिका जल मिल गया हो, साधकको सिद्धि मिल गई हो और अन्धकारमें पड़े हुए पथिकको सहसा सहस्र-रश्मिका आलोक प्राप्त हो गया हो। इस भक्त तथा धर्मनिष्ठ दम्पितिने पहले तो परम भक्ति तथा सात्त्विक निष्ठासे स्वामीजीका षोडशोपचार पूजन किया, फिर उनके चरण धोकर चरणामृत लिया और शेष चरणामृतसे घरका अभिषेक करके सब प्रकोष्ठोंका मार्जन किया। अतिथिदेवका सविधि पूजन-अर्चन कर चुकनेपर देवी मनोरमाने अत्यन्त मनोयोगसे उन्हें भोजन कराया।

भोजन हो चुकनेके पश्चात् शास्त्र-चर्चा होने लगी। स्वामी मेलारामजीको यह देखकर और भी अधिक आश्चर्यमय आनन्द हुआ कि शास्त्रका कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो शर्माजीकी सूक्ष्म दृष्टि और उनके अध्ययनसे वच रहा हो। अपने आतिथेयकी विद्वता, निष्ठा, भक्ति और स्नेहसे वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने फिर शर्माजीसे कहा कि—'हम आपकी विद्वत्ता, सेवा-भावना, निष्ठा और भक्तिसे इतने प्रभावित हैं कि हमारा मन हमें आपका कल्याण करनेकी निरन्तर प्रेरणा दे रहा है। इसलिये आप निश्चिन्त होकर हमसे कुछ वरदान माँगिए।'

स्वामीजीके इस आग्रहसे समुत्साहित होकर पंडित रामचन्द्र शर्माने अत्यत्त विनय भावसे कहना प्रारम्भ किया—'भगवन्!

मेरा क्या यही कम सौभाग्य है कि आप-जैसे सिद्ध अतिथि मेरी इस दीन कुटियाको अपने चरण-रजसे पवित्र कर रहे हैं। आप-जैसे महात्माओंके आगमनके साथ-साथ सम्पूर्ण इच्छाएँ और कामनाएँ अपनी सब सिद्धियोंके साथ स्वयं सम्पूर्ण हो जाती हैं। आप अन्तर्द्रष्टा हैं, मेरे मनकी कौन-सी ऐसी गति है जो आपकी अन्तर्दृष्टिसे छिपी रह गई है, फिर भी आपने अपनी कृपासे प्रोत्साहन देकर मुझे अपनी अभिलाषा व्यक्त करनेके लिये जो प्रेरणा और आज्ञा दी है उसका पालन करनेके निमित्त ही मैं कुछ निवेदन करनेकी धृष्टता करता हूँ। भगवन्! आप तो सर्वज्ञ हैं। आप जानते ही हैं कि संतानके विना मनुष्य इस जीवनमें भी उचित सेवा-सहायता न पानेके कारण खिन्न बना रहता है। घरमें वालक न होनेसे गार्हस्थ्य-जीवन भी शून्य, उदास और चेतनाहीन हो जाता है। पुत्रके द्वारा तर्पणका जल और पिण्डदान न मिलनेसे परलोकमें भी दुःख पीछा नहीं छोड़ता। मुझे केवल अपना ही नहीं, अपने उन पितरोंका भी बड़ा क्लेश है जो मेरे अपुत्र होनेके कारण अभीसे लुप्तपिण्डोदक होनेकी कल्पनासे दुखी हो रहे होंगे। इसलिये आपसे यही याचना है कि यदि आप सचमुच मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि मैं सुपुत्रका मुख देख सकूँ, उसके बाल-विनोदसे अपना गार्हस्थ्य-जीवन चेतन कर सकूँ और अपने पितरोंके ऋणसे उऋण होनेका सन्तोष प्राप्त कर सकूँ।'

जिस भावपूर्ण मनोरम शैलीमें पंडित रामचन्द्र शर्माने अपनी मनोभावना प्रस्तुत की, उससे स्वामीजीका उदार हृदय इतना प्रफुल्लित हुआ कि उनकी वाणी सहसा अत्यधिक उदार होकर मुखरित हो उठी—

'हे ब्राह्मण-वंशावतंस। हम आपकी सेवा और श्रद्धासे अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। आपने केवल एक पुत्रकी याचना की है किन्तु हमारा वरदान है कि आपके दो पुत्र होंगे, जिनमेंसे पहला पुत्र आप हमें समर्पित कर दीजिएगा।'

वरदान पाकर उस धर्मनिष्ठ दम्पत्तिके हर्षकी सीमा न रही। अत्यन्त गद्गद् कण्ठसे दोनोंने उनके चरणोंमें सिर नवाकर अपनी कृतज्ञता अर्पित को तथा अत्यन्त विनयोपचारके साथ वे मेलारामजीको उदासीन-गुरुस्थलीतक पहुँचा आए।

स्वामी मेलारामजीके मंगलमय आशीर्वादसे सं० १८२६ विक्रमी (सन् १७६३ ई०) की चैत्र शुक्ला सप्तमीको सोमवारके दिन रोहिणी नक्षत्रमें पंडित रामचन्द्र शर्माके घर श्रीमती मनोरमा देवीके गर्भसे एक दिव्य बालकका जन्म हुआ। कर्मकाण्डी और शास्त्रज्ञ होनेके कारण उन्होंने पूर्ण विधिके साथ उस बालकके जातकर्म संस्कार कराए और यथा-दिन शास्त्र विधिसे नामकरण संस्कार करके अपने इष्टदेव भगवान् शंकरके नामपर उसका नाम रक्खा भालचन्द्र।

सिद्धका आगमन

अभी वह दिव्य बालक एक वर्षका भी न हो पाया था कि गिरनार पर्वतमें तपस्या करनेवाला एक सिद्ध एक दिन पण्डित रामचन्द्र शर्माके द्वारपर आया और बोला कि नैपालकी तराईमें मेरे जिस सिद्ध गुरुने मुझे सिद्धियाँ सिखाई थीं उनका अवतार आपके घरमें हुआ है। अतः, आप कृपा करके उनका दर्शन हमें करा दीजिए। शर्माजीको उस सिद्धकी बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे झट भीतर गए और शिशु भालचन्द्रको अपने दोनों हाथोंमें उठाए लिए चले आए। उस बालकको देखते ही उस सिद्धकी आँखोंसे आँसू बह चले। उसने भावमग्न होकर अपना जटामण्डित सिर उस बालकके चरणोंमें रखकर बहुत देरतक गद्गद् कण्ठसे न जाने क्या स्तवन किया। ये सिद्ध प्रियतमदासजी ही थे।

पूतके पाँव पालनेमें दिखाई दे जाते हैं। भालचन्द्रकी तेजस्विता और अलौकिकता बचपनसे ही प्रकट होने लगी। उनको जो बात समझाई जाती, उसे इस प्रकार दुहरा देते मानो

उन्हें पहलेसे उसका ज्ञान हो। इतना मेधावी होनेपर भी उस बालककी प्रकृति अत्यन्त एकान्त प्रिय थी। अपने पुत्रकी यह अवस्था देखकर माता-पिताको बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने यह प्रयत्न किया कि खेल-तमाशे, कथा-वार्ता तथा अन्य मनोविनोदके साधनोंमें उस बालकका मन बहलाया जाय।

बालक भालचन्द्रने अपनी उस गम्भीर चिन्तनशील मुद्राके साथ नौ शरद् तो ज्यों-त्यों करके पार कर लिए किन्तु दसवें वर्ष उसके मनमें अचानक एक प्रकारकी विरक्ति उद्बुद्ध होने लगी। उसे ऐसा जान पड़ने लगा मानो भीतरसे कोई बार-बार पुकार कर कह रहा है कि तू संसारके कल्याणका साधक बनकर इस पृथ्वीपर जन्मा है, घरकी सम्पूर्ण माया-ममता तेरे लिये व्यर्थ है।

मानसिक विक्षोभकी यह अवस्था चल ही रही थी कि कुरुक्षेत्र (थानेश्वर) में एक उदासीन साधु आए और उस वृक्षके नीचे बैठ गए जिसके पास ही उस समय भालचन्द्र अपने बालक साथियोंके साथ खेल रहा था।

संस्कार जाग उठा

जिस प्रकार गोरखनाथने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथको सचेत और उद्बुद्ध किया था उसी प्रकार उस साधुने भी बालक भालचन्द्रको न जाने क्या-क्या कहकर सचेत किया और वहांसे उठकर चल दिया। बालक भालचन्द्रको सहसा विचित्र स्वयं-बोध हुआ, मनकी ग्रन्थियाँ सहसा खुल पड़ीं और उसने आँखें उठाकर एक बार आकाशकी ओर देखा और फिर जैसे उसे कोई दैवी सन्देश मिल गया हो इस प्रकार भावित होकर शून्य मनसे वह घर लौट आया।

गुरुकी खोज

बालक भालचन्द्रने अपनी माता तथा समवयस्कोंके मुखसे तो पहले ही सुन रक्खा था कि हमारे माता-पिताने स्वामी

मेलारामजीको अपना ज्येष्ठ पुत्र अर्पित करनेका वचन दे रक्खा है। कुछ उस सन्देशने, कुछ उस साधुके उद्बोधनने तथा कुछ पिछले जन्मके संस्कारने उस नौ वर्षके बालकको इतना उद्वेलित कर दिया कि उसे अपने माता-पिता, भाई, कुल-गोत्रके लोग और अपना समाज सब अपरिचित और परायेसे लगने लगे। इसी मानसिक उद्वेगकी अवस्थामें इस बालकने सुना कि स्वामी मेलारामजी उन दिनों पटियाला रियासतके फुलैली ग्राममें अपनी साधु-मण्डलीके साथ पहुँचे हुए हैं। बालक भालचन्द्रको न जाने क्या प्रेरणा हुई कि श्रावण शुक्ला १०, सं० १८२९ को वह अचानक इस सङ्कल्पके साथ घरसे निकल पड़ा कि मैं स्वामी मेलारामजीके पास पहुँचकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करूँगा।

किसी प्रकार ज्यों-त्यों करके पैरोंमें छाले और मुँहपर थकावटकी रेखाएँ लिए वह साहसी, कृत-प्रतिज्ञ, मनस्वी बालक थोड़े ही दिनोंमें फुलैली जा पहुँचा।

गुरुसे भेंट

वहाँ पहुँचनेपर उसे तत्काल ज्ञात हुआ कि स्वामी मेलारामजी अपने दल-बल-सहित वहीं ठहरे हुए हैं। अपनी छोटी अवस्था और थका हुआ शरीर लेकर वह उस स्थानपर पहुँचा जहाँ स्वामी मेलारामजी अपने सौ साधुओंको लिए दिए ठहरे हुए थे। वहाँ पहुँचनेपर ज्योंही मेलारामजीने देखा कि एक तेजस्वी बालक सामने खड़ा है, वे तत्काल पहचान गए कि यह बालक मेरा भावी शिष्य है। उन्होंने मृदुलताके साथ स्नेहसिक्त स्वरमें पुकारा—'आओ भालचन्द्र!'

बालक भालचन्द्र सुनते ही दौड़कर उनके चरणोंमें इस प्रकार जा गिरा मानो जन्म-जन्मान्तरसे उनसे पुराना परिचय हो। वैशाख शुक्ला ३, सं० १८३० वि० को गुरु-मन्त्र देकर और चरणामृत पिलाकर बालक भालचन्द्रको स्वामी मेलारामजीने

उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित कर लिया और उसका नाम वनखण्डी रख दिया। वनखण्डीजीने योगि-जीवनोचित सात्त्विक, सहिष्णु और तपोमय संस्कार सोलह वर्षकी अवस्थामें ही प्राप्त कर लिए।

वनखण्डीजी महाराजका शरीर, सिद्ध योगियोंके अनुरूप इकहरा पतला था, रंग पक्के गेहूंके तुल्य था जिसमें गौरता और लालिमाका अपूर्व तेजःपूर्ण समन्वय था। उनका मुख अत्यन्त प्रकाशमान्, दीप्त और भरा हुआ था। उनका ललाट सुन्दर, प्रशस्त और चौड़ा था। शरीरके अनुरूप उनका कम्बु-कण्ठ पतला और लम्बा था और जब वे प्रसन्न मुद्रामें मन्द-स्मितिके साथ मुसकराते थे तब कुन्दकी कलीके समान उनकी धवल दन्तावली दामिनीके समान ओठोंके बीच चमक जाती थी। उनके दोनों स्वाभाविक, रक्तिम, कोमल किसलयोंके समान पतले अधर सहसा उस स्मिति-प्रकाशमें और भी अधिक सुन्दर प्रतीत होने लगते थे। सुग्गेकी चोंचके समान उनकी पतली लम्बी नासिका उन रक्ताभ अधरोंपर कुशल शिल्पीके परम कौशलका प्रमाण बनकर उनके तेजस्वी मुखकी शोभा-वृद्धि करती थी। उनकी लम्बी पतली वलिष्ठ भुजाएँ, पतली टाँगें और छोटे-छोटे तेरह अंगुल लम्बे चरण अपने चमकीले नखों और गुलाबी तलवोंके कारण स्वयं भक्तोंकी श्रद्धा आकृष्ट करते थे। महापुरुषोंके समान उनके कान लम्बे और कन्धेतक लटके हुए थे, नाभि गोल, गम्भीर और सुन्दर थी जिसपर पड़ी हुई त्रिवली उनके साढ़े पांच फुट लम्बे नीरोग शरीरको भव्यता प्रदान करती थी। चीनांशुकके समान कोमल, स्निग्ध केश-हीन त्वचामें भी योगकी साधनाके कारण एक अपूर्व लालिमा व्याप्त हो गई थी। उनके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर भी वहुत छोटे-छोटे थोड़ेसे बाल थे किन्तु उनके सिरपर लहराते हुए कुन्तलोंकी लड़ियाँ वटकी जटाओंके समान पृथक्-पृथक् लटकती हुई भ्रमरावलीका भ्रम उत्पन्न करती रहीं। उनके प्रशस्त ललाटके नीचे तीव्र,

स्पष्ट दृष्टिवाले, ऐसे तेजस्वी नेत्र थे जो धनुषाकार भ्रुकुटियोंके साथ मिलकर किसीको भी आकृष्ट कर लेनेके लिये पर्याप्त थे।

सोलह वर्षकी अवस्था-तक वनखण्डीजी अत्यन्त नियम-पूर्वक सब ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने गुरु मेलारामजीके पास अत्यन्त निष्ठाके साथ निवास करते रहे। उसके पश्चात् जब उनके गुरुजीने देखा कि अब वनखण्डीजीका ज्ञान पूर्ण हो गया है तब उन्होंने निश्चय किया कि अब इन्हें संत-समागम और देशाटनका अनुभव करा देना चाहिए। तदनुसार मेलारामजीने अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर एक दिन वनखण्डीजीको तीर्थाटनके लिये जानेकी आज्ञा दी।

उन्होंने गुरुजीकी आज्ञा सिर-माथे चढ़ाई और सं० १८३६ के कार्तिक मासमें एक योगाभ्यासी उदासीन साधुके साथ वे देशाटनके लिये निकल पड़े। लगभग साढ़े तीन वर्ष वे उस साधुके साथ देशाटन करते रहे और फिर सं० १८४० में जब हरिद्वारका कुम्भ लगा तब वे वहाँ लौटकर पुनः अपने गुरुजीसे मिले और कुम्भका मेला समाप्त होनेपर वे अपने गुरुजीके साथ ही कुरुक्षेत्र चले आए।

संवत् १८४१ में अपने गुरुजीकी आज्ञा लेकर वे पुनः भारतकी तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। अपनी उस लम्बी तीर्थ-यात्राका प्रारम्भ उन्होंने पटियाला-राज्यस्थ फुलैली ग्रामसे किया, जहाँ उनके गुरु स्वामी मेलारामजीकी सबसे बड़ी गुरुस्थली थी। अपनी गुरुस्थलीको सादर मस्तक नवाकर वहाँसे वे हिमालय पर्वतकी उन अधित्यकाओं और उपत्यकाओंमें विचरण करनेके लिये चले गए, जहाँ कश्मीरकी मनोरम पर्वत-घाटियाँ, हरित लता-गुल्मों तथा अनेक रंग-विरंगे फूलोंसे मंडित होकर चिर वसंत-श्रीको संप्रतिष्ठित किए हुए हैं। वहाँसे जम्मू, जम्मूसे रामवन, रामवनसे कष्टवाल, कष्टवालसे भद्रवाल और भद्रवालसे वे पधरी ज्योतिका दर्शन करने चले गए जहाँ श्री श्रीचन्द्राचार्य सं० १६८२ वि० की पौष कृष्णा पंचमीको संदेह गुप्त हो गए थे।

अमरनाथकी यात्रा

उस पुण्य-स्थलका दर्शन करके और मणिमहेश होकर वे पुनः चम्बा लौट आए और वहाँसे फिर अनेक स्थानों, तीर्थों तथा कश्मीरके अनेक मनोरम स्थलोंमें विचरते हुए अमरकण्टक पर्वतपर अमरनाथजीका दर्शन करने चले गए। अमरनाथकी यात्रा करना कोई सरल कार्य नहीं है। मार्गमें इतने विकट और भयानक वन, ऊँचे-नीचे दुर्गम पथ और इतने नद, पर्वत और हिमाच्छन्न पार्वत्य प्रदेश लाँघने पड़ते हैं कि साधारण मनुष्य तो उसका नाम ही सुनकर ही विकंपित हो उठता है। वहाँसे लौटकर जब वे कश्मीरमें आए तो उन्होंने अपनी मंडलीको विदा कर दिया। इन पर्वतोंमें घूमकर फिर सं० १८५२ में वे फिर हरिद्वार कुम्भपर जा पहुँचे।

संवत् १८५५-५६ में भगवान् रामचन्द्रजीके चरण-कमलोंसे पावन बने हुए चित्रकूट और उसके आस-पासकी विन्ध्य पर्वत-मालाओंके रमणीय स्थलों और तीर्थोंका उन्होंने दर्शन किया। संवत् १८५८ में उन्होंने मानसरोवरकी यात्रा की। भारतकी प्रसिद्ध पुण्य पयस्विनियोंको जन्म देनेवाले उस विराट् मानसरोवरका दर्शन करके वे एक वर्ष-तक हिमालयकी पहाड़ियोंमें ही विचरण करते हुए सं० १८६१ में पुनः हरिद्वार आए और वहाँ बहुत दिनों-तक कनखलवाले बाबा मनोहरदासजी उदासीन तथा अन्य साधुओंको योगाभ्यास कराते रहे।

अनेक प्रदेशोंमें घूमते हुए कपिल-गंगामें स्नान करके वे फिर बम्बई लौट आए। वहाँ स्वामीजी महाराजने महालक्ष्मीके पास सन् १८७५ में अपनी धूनी जगाई। सहस्रों भक्त प्रतिदिन वहाँ दर्शन और उपदेशके लिये आने लगे। उन दिनों नलकी व्यवस्था नहीं थी और सागरका क्षार जल भी अपेय था। किन्तु स्वामीजोके प्रभावसे वहाँ मधुर जलकी वापी बन गई।

वापीके प्रकट होनेके पश्चात् स्वामीजी निरन्तर इसीके जलसे स्नान किया करते थे और इस कारण इस वापीका जल उनके नित्य स्पर्शसे वास्तवमें पुण्यतोय हो गया था। बम्बईमें लोगोंने इतना आग्रह किया कि स्वामीजी छह मास-तक वहीं टिके रहे। किन्तु फिर उन्होंने अपने छोटे गुरुभाई बाबा गुरुमुखदासजी को उस (महालक्ष्मीके पासवाले) अपने आश्रममें बैठाकर अपने साथ दो साधु तथा छोटे गुरुभाई बाबा सन्तदास तथा अभ्यागत साधु गंगारामको लेकर वहाँसे प्रस्थान किया।

इस प्रकार समस्त देशके तीर्थोंमें घूमकर, उनके इतिहाससे पूर्णतः परिचित होकर तथा साधुओंकी संगतिसे धर्म तथा आत्म-तत्त्वके रहस्य समझकर अब वे पूर्णतः सर्व-सिद्धि-सम्पन्न हो गए थे और उनके मनमें यह भी संकल्प धीरे-धीरे जम रहा था कि किसी एक स्थानपर पहुँचकर आश्रमकी स्थापना करके साधुओंके लिये एकान्त साधनका कोई केन्द्र स्थापित किया जाय और वहाँसे लोक-कल्याणका मार्ग भी प्रशस्त किया जाय।

वनखण्डीजी इस प्रकार व्यापक रूपसे घूमते-घामते सं० १८७८ में सिन्धु-प्रदेशके नगरठट्टे जा पहुँचे। वहाँसे नौकापर कोटरी तथा हैदराबाद होते हुए वे कराँची आए और वहाँ लगभग छह मास-तक टिके रह गए। वहाँ सिंधियोंका इतना विशाल जन-समूह इनका भक्त हो गया कि किसी प्रकार भी इन्हें कराँचीसे बाहर नहीं जाने देना चाहता था। फिर भी सं० १८७८ के कार्तिकमें वे हैदराबाद जा पहुँचे और दीवाली वहीं व्यतीत की।

सबको विदा करके वे अकेले ही सिन्धु नदीके पूर्वी तटपर अवस्थित रोहिड़ी नगरमें जा पहुँचे जहाँ उनका सर्वप्रथम स्वागत सेठ घूमनमल और सेठ रीझूमलने भावपूर्वक किया और उन्हींसे गुरु-मंत्र तथा दीक्षा लेकर उनके अनन्य भक्त बन गए। उन्हींके साथ-साथ तुलसीराम नामका एक और भी रोहिड़ी-निवासी भक्त था जो अनन्य भावसे एकनिष्ठ होकर स्वामीजीकी

सेवा करता रहा और जो आगे चलकर बाबा विष्णुदासजीके नामसे स्वामीजीका शिष्य भी हुआ।

जिन दिनों वनखण्डीजी रोहिड़ी नगरमें सेठ घूमनमल और रीझूकल (रीझामल) के यहां आतिथ्य ग्रहण करके विश्राम कर रहे थे, उन्हीं दिनों उन सेठोंके छोटे भाई हासानन्दके पुत्र दयारामका झंड (मुंडन या चूडाकर्म) संस्कार होनेवाला था। आतिथेय सेठोंने पहलेसे ही यह सुखनाँ (मनौती) मान रक्खी थी कि सिन्ध-नदके बीच वाली पहाड़ी (दीनवेला) पर ही मुण्डन करावेंगे, इसलिये उन्होंने वनखण्डीजीसे आदरपूर्वक आग्रह किया कि आप भी इस संस्कारमें सम्मिलित होकर बालकको आशीर्वाद दीजिए। स्वामीजीने भी उत्तर दिया कि सिन्धु-गंगाकी धाराके बीचका यह द्वीप कोटितीर्थ नामका मेरु पर्वत है। इससे बढ़कर पुण्यस्थल दूसरा कहाँ प्राप्त होगा।

सेठोंने जब स्वामीजीका यह पुण्य-वचन सुना तो उनके हर्षका पार नहीं रहा। वे तत्काल दही और लोता (मीठी रोटी) उठवाकर अपने पूरे परिवारके साथ बड़े धूमधाम और बाजे-गाजेके साथ स्वामीजीको अग्रणी बनाकर उस द्वीपमें पहुँचे जिसकी एक टेकरी बाबा दीनदयालके नामपर दीन-बेला और दूसरी टेकरी बाबा रूखड़दासके नामपर रूखड़बेला कहलाती थी।

धूनीकी स्थापना

अपने परम सेवक और भक्त तुलसीरामको साथ लेकर स्वामीजी तो वहीं ठहर गए और सेठका परिवार रोहिड़ी लौट आया। उसी दिन वैशाख कृष्णा द्वितीया, संवत् १८८० को स्वामीजीने वहाँ पहले-पहल अपनी धूनी जगाई और अपने हाथसे तीन वट-वृक्ष लगाए जिनका नाम ब्रह्मा, विष्णु, और महेश रक्खा। गद्दी साहबके दाहिनेवाले ब्रह्मा, बाईं ओरवाले विष्णु, और सामनेवाले महेश्वर हैं।

माता अन्नपूर्णाका वरदान

स्वामीजीने वहाँ विश्वकी परम पोषिका माता अन्नपूर्णाकी उपासना प्रारम्भ कर दी। उन्होंने इस शक्तिको सिद्ध करनेके लिये जो अनुष्ठान प्रारम्भ किया वह भी इतना असाधारण था कि नौ दिन पूर्ण होते ही 'वरं ब्रूहि, वरं ब्रूहि' का स्नेहपूर्ण आदेश देती हुई माता अन्नपूर्णा प्रकट हो गईं।

सब स्तुति कर चुकनेपर स्वामीजीने यही याचना की—'हे जगज्जननि! यदि वास्तवमें आप मुझसे संतुष्ट हैं तो यही वरदान दीजिए कि इस तीर्थपर अन्नका निरन्तर अक्षय दान होता रहे। जो भी साधु, संत, महात्मा, छात्र तथा अभ्यागत यहाँ आवें, उन्हें कभी किसी प्रकारका भोजन-कष्ट न हो।'

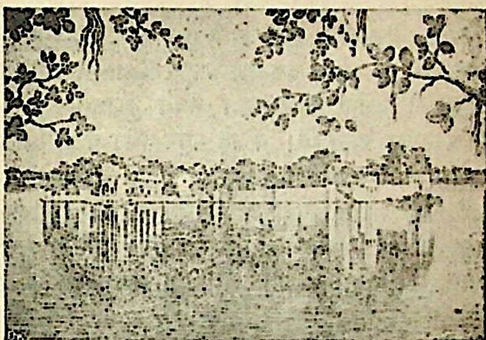
तत्काल सर्वशक्तिमती माता अन्नपूर्णाने बड़ी हरीतकी (हड़) का बना हुआ एक कमण्डलु स्वामीजीको देते हुए कहा—'वत्स! जब-तक लोगोंकी श्रद्धाभक्ति सजीव रहेगी तबतक इस कमण्डलुके प्रभावसे कभी किसी समय आश्रममें अन्नकी कोई कमी नहीं होगी। जब भी जितने भी अतिथि यहाँ आवेंगे, किसीको भोजन-का कष्ट न होगा। यह मंगल-मूल आशीर्वाद देती हुई भगवती जगदम्बा अन्नपूर्णाजी अदृश्य हो गईं।

साधुबेला तीर्थकी स्थापना

स्वामीजीने भी धीरे-धीरे इस द्वीपको वास्तविक तीर्थ बनाने-के उद्देश्यसे वहाँ आदिदेव गणेशजी, हनुमानजी, सत्यनारायणजी, भगवान् पिप्पलेश्वर तथा वटेश्वर आदि देवताओंकी प्राण-प्रतिष्ठा की और इस तीर्थका नाम उन्होंने रख दिया केवल साधु-बेला क्योंकि स्वामीजीकी प्रेरणासे अनेक साधु वहाँ आकर रहने भी लगे और निरन्तर आते-जाते भी रहे।

साधुओंके अतिरिक्त अनेक भक्त नागरिक भी विभिन्न नगरोंसे निरन्तर नावोंपर आते ही रहते थे किन्तु घाट न होनेसे उन्हें बड़ी असुविधा होती थी। इसलिये स्वामीजीने उस द्वीपके चारों ओर बीस घाट बनवा दिए और उनका नाम रक्खा—राजघाट,

वरुणघाट, गौघाट, हरिद्वार-घाट, गणेश-घाट, देवी-घाट, कृष्णघाट, रामघाट, कुशावर्त्त-घाट, सरस्वती-घाट, सूर्यघाट,



[सिन्धु नदीकी धाराके बीच साधुवेला तीर्थ]

विष्णुघाट, शिवघाट, ब्रह्मघाट, दुःखभंजन-घाट, त्रिवेणी-घाट यमुना-घाट, भैरव-घाट, यम-घाट तथा कुबेर-घाट ।

एक वर्षमें उस द्वीपका काया-पलट करके संवत् १८८१ में ज्येष्ठ कृष्णा १२ को वे गोदावरी-कुम्भपर स्नान करनेके लिये नासिक चले गए । वहाँसे वे उज्जैन आदि स्थानोंपर होते हुए ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी, संवत् १८८३ को पुनः साधुवेला लौट आए ।

अमरनाथकी यात्रा

लगभग तीन वर्षतक साधुवेलामें निवास कर चुकनेपर वनखण्डीजी महाराजके मनमें पुनः तीर्थ-दर्शनका संकल्प उदय हुआ । फलतः सम्वत् १८८५ की वैशाखी पूर्णिमाका स्नान करके दूसरे दिन वे अपने साथ बम्बईवाले गुरुभाई गुरुमुखदासजीको साथ लेकर अमरनाथके लिये चल दिए ।

अमरनाथकी यात्रा पूर्ण करके पौष कृष्णा १२, सम्वत् १८८६ को वे साधुवेला लौट आए ।

वे नियमसे नित्य प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तसे भी पूर्व छह घड़ी रात रहते लगभग तीन बजे ही जाग जाते थे। अँधेरे-मुँह सिन्धु-गंगामें अवगाहन करके पूजन-अर्चन करनेके उपरान्त ब्रह्मलएामें बैठकर भजन करते थे। फिर उदयोन्मुख सूय भगवान्को अर्घ्य देकर और प्रणाम करके दस बजे गद्दीपर आकर बैठ जाते थे और प्रेमियोंको दर्शन देकर तथा सबसे कुशल-मंगल पूछकर छात्रोंको अध्यापन करते थे। वे बड़े मधुर वक्ता थे। पंगतसे पूर्व वे नित्य श्रीमद्‌भागवतकी कथा करते थे और सन्ध्याको छह बजे योग-वासिष्ठकी कथा। प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी और अमावस्याको वे रामायणकी कथा करते थे क्योंकि उन दिनों पाठका अनध्याय रहता था। इस नियमित जीवनका ही परिणाम था कि उनका शरीर अन्त-तक अत्यन्त तेजस्वी, दिव्य और स्वस्थ बना रहा।

फ्रैंक विल्सकी करतूत

अँगरेज़ोंके द्वारा सिन्ध-विजय होनेके पश्चात् शिकारपुरमें सबसे पहला कलक्टर 'कैप्टन फ्रैंक विल्स आया था। एक दिन वह अपने पदके मदमें नौका-विहार करता हुआ सिन्धुपर घूमते-घामते साधुबेला तीर्थके पास आ निकला जहाँकी सुन्दरता तथा दृश्य-रमणीयता देखकर वह उस स्थलपर बँगला बनवानेका विचार करने लगा। उसने अगले दिन बहुतसे राज-मजदूर लेकर वहाँ काम लगवा दिया। किन्तु वहाँ विचित्र बात यह हुई कि दिनभर जितना काम होता था सब रातको ढह जाता था। उसने मुसलमान कारीगर और गोरे पहरेदार भी रक्खे पर कोई फल न निकला। तब उसने आदेश दिया कि बनखण्डी साधुको इस द्वीपसे अविलम्ब निकाल दिया जाय।

उसी दिन ठीक आधी रातको उसके और उसी पत्नीके उदरमें इतना भयंकर शूल उत्पन्न हुआ कि दोनों असह्य पीडाके मारे छटपटाने लगे। सहसा उसकी पत्नीको भान होने लगा कि इस पीडाका भौतिक कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि हम लोगोंने

कोई ऐसा अनियमित भोजन भी नहीं किया है जिससे इस प्रकारको पीडा सम्भव हो सके। निश्चय ही यह साधुवेलाके साधुको कष्ट देनेका ही परिणाम है। फ्रैंक विल्सको भी अब इसपर विश्वास होने लगा। यह समझकर उसने तत्काल मानसिक क्षमा-याचना करते हुए संकल्प किया कि कल प्रातःकाल होते ही मैं उस महापुरुषको खोजकर उनसे अपने दुष्कृत्यके लिये क्षमा माँगूँगा। यह संकल्प मनमें आते ही दोनोंका उदर-शूल सहसा कम होने लगा।

फ्रैंक विल्सने अगले दिन उनके पास जाकर अत्यन्त विनीत भावसे पश्चात्तापके साथ क्षमा माँगी। इतना ही नहीं, २३ जनवरी १८४५ को उसने यह प्रमाण-पत्र लिखकर दिया कि स्वामी वनखण्डीजी महाराज उदासीन ही प्रारम्भसे साधुवेलाके स्वामी हैं और आगे भी इनकी शिष्य-परम्परा यहाँका स्वामित्व ग्रहण करती रहेगी। तबसे उनका इतना प्रताप बढ़ा कि अनेक अँगरेज अधिकारी तथा शासक भी उनके दर्शन करने और आशीर्वाद लेनेके लिये निरन्तर आते रहे।

परिधान

उनका परिधान भी विचित्र ही प्रकारका था। गर्मीके दिनोंमें वे एक लम्बा भगवे रंगका चोला (कफ़नी) गलेमें डाल लेते थे और सिरपर एक लम्बा-सा टोपा लगा लेते थे। जब शीत अधिक पड़ने लगती थी तब वे शक्करपारेकी बखियाका सिला हुआ पैरतक लम्बा चोगा पहन लेते थे। उनकी वाणी अत्यन्त कोमल, मधुर तथा कोकिलके कूजनके समान सुरीली थी। इसलिये जब वे धीरेसे भी बोलते तो दूर-तकके लोगोंको सुननेमें कोई बाधा नहीं होती थी।

योग-गुदड़ी

उनकी सबसे विलक्षण वस्तु थी वह चारखानेकी रंग-बिरंगे कपड़ोंके टुकड़ोंसे सिली हुई गुदड़ी, जिसका नाम उन्होंने योग-

गुदड़ी रख छोड़ा था। वह योग-गुदड़ी उन्होंने योगाभ्यासकी क्रियाके क्रमके अनुसार बनवाई थी। उस गुदड़ीमें उसी प्रकार टाँके भरे हुए थे जैसे शरीरकी अनेक नाड़ियोंमें हमारा प्राण चलता है। इनमेंसे मोटे धागोंमें भरे हुए टाँके बड़ी नाड़ियोंके और छोटे धागोंसे भरे टाँके छोटी नाड़ियोंके बोधक थे। इन धागोंके साथ-साथ प्राणोंके प्रतीकात्मक ज्ञानके लिये उन्होंने रेशमी धागोंके टाँके लगा रक्खे थे और जहाँ-जहाँ इन नाड़ियोंका मेल होता था वहाँ-वहाँपर उनका मेल दिखानेके लिये रंग-बिरंगे कपड़ोंकी थेकलियाँ लगवा रक्खी थीं। इस गुदड़ीके एक ओर शरीरकी सब नसों, तंतुओं तथा प्राणोंका चित्र अनुस्यूत था और दूसरी ओर शरीरका पूरा चित्र बना हुआ था। यह गुदड़ी इस प्रकार बनाई गयी थी कि सोते समय उसका बिस्तर बन जाता था और बैठते समय वह कुरतेके रूपमें पहन ली जाती थी। इस गुदड़ीमें नाभिके स्थानपर कुण्डली मारे सर्पके आकारका एक चक्र बना हुआ था, जिसे वे योग-कुण्डली कहते थे। इसके द्वारा वे अपने भक्तों-को योगकी प्रक्रियाका क्रम सरलतासे बैठे-बैठे समझा देते थे।

टोपा

अपने लिये उन्होंने जो टोपा बनवाया था वह भी इस प्रकारका था कि उससे मस्तिष्कमें फैली हुई सब नसों और प्राण-वायुओंके संचरणका पूरा बोध हो जाता था। वे अपना टोपा भी इस प्रकार लगाते थे जिससे यह आभास मिलता था कि त्रिकुटी (नासिकाके ऊपर दोनों भौहोंके बीचका भाग) को लाँघकर मस्तिष्कके उस परम ज्योतिर्मय प्रदेशमें प्राण प्रविष्ट हो जाता है जिसे उदासीन सम्प्रदायवादी सत्य-खण्ड या ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ज्योतिर्मय प्रदेशका प्रतीक समझानेके लिये उन्होंने टोपेमें लहराते हुए टाँकोंमें सूर्यकी किरणें बनाई थीं और उसके चारों ओर तीन-तीन अंगुल लम्बी लाल और हरी झालरें लगाकर चिन्मय-स्वरूप परम ज्योति सूर्यका प्रतीक बनाकर

सी रक्खी थीं। इस टोपेसे कभी-कभी वे कान भी ढक लेते थे और कभी-कभी कानोंको ढकनेवाले पल्ले उठाकर ऊपर भी कर लेते थे। टोपेके बीचमें ऊपर राजाओंके मुकुटकी कलँगीके समान परमेश्वरकी वैजयन्ती-स्वरूप एक फूल बना रक्खा था। टोपेकी चार कलियाँ मानव-मस्तिष्कके चारों भागोंका प्रतीक थीं। प्राण-संचारके प्रतीक रेशमी धागे उसी प्रकार बीचमें बने हुए सूर्यमें मिल जाते थे जैसे योग-सिद्ध योगीके प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचकर आत्मज्योतिमें मिल जाते हैं। इस प्रकार अपना टोपा और अपनी गुदड़ी पहनकर जब वे जिज्ञासु भक्तोंके बीचमें बैठकर योगका अर्थ समझाने लगते थे, उस समय योगकी वे सब विषम गुत्थियाँ चुटकी बजाते-बजाते सबकी समझमें आ जाती थीं जो बड़े-बड़े साधक भी नहीं समझा पाते थे।

झोली

उनकी झोली भी योगाभ्यासकी सम्पूर्ण प्रक्रियाके अनुसार ही बनी हुई थी। शरीर-रचनाके अनुसार उस झोलीमें भी एक मुख बना हुआ था। छातीका प्रतीक छोटा घेरा, पेटकी अनुकृतिके रूपमें बड़ा घेरा, दोनों ओर भुजाओंके अनुरूप दो लम्बे खोल जिनपर धागोंकी सिलाई ऐसी की गई थी जिससे शरीरकी नाडियोंसे उदर और वक्षःस्थलका ठीक सम्बन्ध प्रतीत हो।

निर्वाणका संकल्प

श्री वनखण्डीजी महाराजने अपने पुण्य चरित्रसे आस-पासके देशवासियोंका कल्याण करते हुए भक्तोंको सुख, शांति, सन्तोष और वरदान देते हुए तथा वहाँके निवासियोंके हृदयमें धर्म-भावना भरते हुए, विचित्र आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करके सौ वर्षकी पूर्णायु भोगकर सं० १६२० की ज्येष्ठ शुक्ला २ को सहसा संकल्प किया कि अब यह शरीर-रूपी वस्त्र जीर्ण हो चला है, इसे बदलना आवश्यक है क्योंकि इस अनित्य जगत्से साधु-महात्माओंको अधिक स्नेह नहीं बढ़ाना चाहिए। अतः, ज्येष्ठ

शुक्ला २ को प्रातःकाल ही उन्होंने अपने परम प्रिय शिष्य हरिनारायणजीको बुलाकर आज्ञा दी कि साधुबेलाके चारों ओरके समस्त घाटोंपर स्नान करके हरिद्वार घाटसे सिन्धु-गंगाका जल भर लाओ।

हरिनारायणदासजीको यह बात कुछ विचित्र-सी लगी क्योंकि इस प्रकारकी आज्ञा उन्होने पहले कभी नहीं दी थी। वे तत्काल गुरुजीकी आज्ञा शिरोधार्य करके तड़के ही स्नान करके हरिद्वार-घाटसे जल भरकर स्वामीजीकी सेवामें ले आए।

उसी दिन प्रातःकाल ८ बजे उन्होंने साधुबेलाके साधुओंको एकत्र किया और उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—

'अपने परम शिष्य और भक्त हरिनारायणदासजीसे हम अत्यन्त प्रसन्न और प्रभावित हुए हैं। हमने यह निश्चय किया है कि साधुबेलाकी यह गद्दी उन्हींको सौंप दें।'

तन्नुसार स्वामीजीने भगवा सिरोपा (अँचला) और भगवा चोला हरिनारायणदासजीके गलेमें पहनाकर उनके मस्तकपर विभूति लगाकर कहा—'आजसे तुम इस तीर्थ-स्थानके स्वामी हुए।'

यह कहकर उन्होंने अपनी ज्योति बाबा हरिनारायणदासजीको समर्पित करते हुए कहा—'हमने सौ शरत् तक यह शरीर धारण किया। अब हमने संकल्प किया है कि इस शरीरको छोड़कर ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करें।' यह सुनकर तो हरिनारायण-दासजी तथा सभी उपस्थित साधु स्तब्ध रह गए।

बाबा हरिनारायणदासने तत्काल अपने छोटे गुरुभाई बाबा हरिप्रसादजीको तार दिया और वे पन्द्रह दिनमें आ भी पहुँचे। आषाढ कृष्णा २, बुधवार संवत् १९२० को स्वामीजीने अपने सब शिष्योंको पुनः एकत्र किया। रातको दो बजेके लगभग प्राणोंकी एक ध्वनि हुई, फिर दूसरी ध्वनि हुई। इसके पश्चात् तीसरी ध्वनि हुई और चौथी ध्वनिके साथ वे ब्रह्ममें लीन

हो गए। ११ बजे दिनमें उदासीन साधुओंकी रीति-नीतिके अनुसार तथा स्वामीजीकी इच्छा और आज्ञाके अनुसार जय-जयकारके बीच उन्हें सिन्धु-गंगामें जल-समाधि दे दी गई।

साधुबेलाकी सन्त-परम्परा

स्वामी वनखण्डीजीकी महती कृपा-दृष्टि यद्यपि व्यापक रूपसे सभी प्राणियों और भक्तोंपर समान थी, तथापि उनके परम कृपा-पात्र बननेका श्रेय यदि किसी भाग्यशालीको प्राप्त हुआ तो वह स्वामी हरिनारायणदासजीको ही।

स्वामी हरिनारायणदासजी

स्वामी हरिनारायणदासजीका जन्म जैसलमेर नगर (मारवाड़ प्रदेश) के कुलीन क्षत्रिय-परिवारमें हुआ था। उनका नाम था दलपतिशाह (दलपतिराय अथवा दलपति सिंह)। प्रारम्भसे ही क्षत्रिय होनेके नाते उन्होंने तत्कालीन युद्ध-विद्याके समस्त कौशल भली-भाँति सीख लिए थे। बड़े होनेपर उन्हें नौकरी करनेकी धुन चढ़ी। संयोगसे सक्खरके मीरोंके यहाँ उन्हें अपनी रुचिका काम मिल गया। अपनी स्वामि-भक्ति और निष्ठाके कारण उनका इतना सम्मान बढ़ा कि वे शीघ्र ही सक्खर दुर्गके बड़े कोतवाल बना दिए गए। चैत्र शुक्ला २, सं० १८८० को जब स्वामी वनखण्डीजी सक्खर दुर्ग देखनेके लिये पधारे, उस अवसरपर दलपति सिंहजीने स्वामीजीका जिस श्रद्धा-भक्तिके साथ स्वागत-समाराधन किया उससे प्रसन्न होकर स्वामीजीने उसी समय उन्हें आशीर्वाद दिया कि आप चौदह दिनमें प्रधान मंत्री (बड़े वज़ीर)—पद प्राप्त कर लेंगे। इस आशीर्वादके परिणाम-स्वरूप वैशाख कृष्णा २, संवत् १८७९ को दलपतिसिंहजी सक्खर दुर्गके प्रधान मंत्री (बड़े वज़ीर) बना दिए गए। जब सं० १९०० में अँगरेज़ोंके हाथमें अपने राज्यकी बागडोर सौंपकर मीरोंने विवशतापूर्ण संन्यास लेकर हैदराबादकी

ओर प्रस्थान किया तब दलपतिसिंह भी अपनी स्वामि-भक्तिका निर्वाह करते हुए उन्हींके साथ-साथ हैदराबाद चले गए और उस संकटके समय भी दत्तचित्त होकर मीरोंकी भी सेवा करते रहे तथा स्वामीजीके प्रति भी अपनी भक्ति दिखाते रहे।

थोड़े दिनों पश्चात् जब दलपतिसिंहजीके मनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ तो स्वामीजीने आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (शरत्-पूर्णिमा) को हैदराबादमें ही उदासीन साधुओंकी मर्यादाके अनुसार दलपतिसिंहजीको उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके उनका नाम हरिनारायणदास रख दिया। उन्होंने अपनी सब चल-अचल सम्पत्ति, रत्न, स्वर्णकी मूठमें रत्नजटित तलवारें, दो बन्दूकें, रत्न तथा हाथीदाँतको मूठोंवाली छुरियाँ सिद्धेश्वर बाबा बनखण्डीजी महाराजके चरणोंमें समर्पित कर दीं। स्वामीजीने वह समृद्धिपूर्ण भेंट स्वीकार करते हुए कहा कि इस धनसे साधुबेला-तीर्थमें अनेक स्थानोंका निर्माण होगा तथा पत्थरका पक्का कुआँ बनवाया जायगा। उसी वर्ष कार्तिक कृष्णा १० को स्वामीजीने उन्हें कोठारी नियत कर दिया।

अपनी स्वाभाविक विराग-वृत्तिके कारण उन्हें यह सब वैभव आत्म-साधनामें बाधक जान पड़ता था। इसलिये जिस दिन बनखण्डीजी महाराजको जल-समाधि दी गई उसी दिन हरिनारायणदासजीने अपने छोटे गुरुभाई बाबा हरिप्रसादजीको गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया। ८० वर्षकी अवस्थामें भाद्रपद कृष्णा सप्तमी, सं० १९२९ को वे इस लोकसे चल बसे।

स्वामी हरिप्रसादजी

स्वामी हरिप्रसादजीका जन्म वि० सं० १८६५ में हैदराबाद (सिन्ध) के एक सम्पन्न वैश्य-परिवारमें हुआ था। ४५ वर्षकी अवस्थामें उन्हें सहसा वैराग्य हुआ और कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा, सं० १९१० को अन्नकूटके दिन वे स्वामी बनखण्डीजीकी सेवामें पहुँचकर और उनसे दीक्षा लेकर उनके शिष्य बन गए। सं० १९२० में स्वामी बनखण्डीजी महाराजके ब्रह्म-निर्वाणके

दिन ही वे गद्दीपर आए। वे स्वभावसे ही विरक्त थे। उन्हें आश्रमका जीवन कुछ प्रतिबन्धपूर्ण प्रतीत हुआ। वे मुक्त और स्वच्छन्द होकर अपनी तपस्या चलाना चाहते थे। वहाँ उन्हें अपनी इस एकान्त तपश्चर्यामें वाधा जान पड़ी। लगभग एक वर्ष साढ़े तीन मासतक साधुवेलाकी गद्दीपर रहनेके पश्चात् उन्होंने विचार किया कि बैठे रहनेकी अपेक्षा परिभ्रमण करके लोक-कल्याण करना श्रेयस्कर है। अतः, शिकारपुरके बाबा कर्णदासजीको अपना कोठारी बनाकर इन्होंने अपने साथ ले लिया और बहुत दिनोंतक सिन्धके अनेक ग्रामोंमें उपदेश करते हुए निरन्तर भ्रमण करते रहे। सं० १९२४ वि० में जब हरिद्वारका कुम्भ पड़ा, उस समय बहुतसे साधुओंको साथ लेकर वे हरिद्वार गए जहाँ कुम्भ करके वे कश्मीर और अमरनाथकी यात्राके लिये चले गए। वहाँसे लौटकर उन्होंने मथुरा-वृन्दावनमें होली बिताई और तदनन्तर चैत्रमें अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। सं० १९२६ में वे प्रयागका कुम्भ करते हुए अनेक तीर्थोंका दर्शनाटन करके लगभग छह वर्ष पश्चात् साधुवेला लौटे।

इन छह वर्षोंमें उस गद्दीपर स्वामी मोहनदासजी तथा स्वामी सन्तदासजी बैठाए जा चुके थे। इसी बीच छह वर्ष तीर्थाटन करनेके पश्चात् जब हरिप्रसादजी वहाँ लौटकर आए तो स्वामी सन्तदासजी और हरिनारायण-दासजीने अत्यन्त आग्रहके साथ उन्हें सं० १९२९ की आश्विन कृष्णा चतुर्थीके दिन पुनः गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया।

उस समय-तक साधुवेलामें जितने स्थान बने थे वे सबके सब कच्ची झोपड़ियों या कुटियोंके रूपमें थे। अतः, प्रथम कार्य तो उन्होंने यह किया कि अपने समयमें साधुवेलाका कायाकल्प कर दिया। आम, वट, ताल, खजूर तथा पीपलके वृक्षोंके बीच नये नये श्वेत भवन सिर उठाने लगे। उन्हींके समयमें पक्का चन्द्रकूप बना; गुम्बजका निर्माण हुआ, सद्गुरु वनखण्डीजी महाराजका

भव्य मंदिर निर्मित हुआ, कोठार बनाया गया और साधुवेलाके चारों ओर पक्के पुश्तेके साथ घाट बाँध दिए गए। इस प्रकार सुन्दर मन्दिरों और भवनोंसे सुसज्जित होकर नई शोभा और नये सौन्दर्यके साथ साधुवेला तीर्थ उस द्वीपकी महत्ताका सम्वर्द्धन करने लगा और ऐसा ज्ञात होने लगा मानो एक साथ हौलैण्डके डाइक (बाँध); वेनिसकी नहर, पेरिसके सुघर भवनोंका सौन्दर्य स्वयं सिमटकर वहाँ आ पहुँचे हों। मार्गशीर्ष कृष्णा ६, संवत् १९४० को ७५ वर्षकी अवस्थामें अपने कृपापात्र अचलप्रसादजीको गद्दी देकर स्वामी हरिप्रसादजी ब्रह्मलीन हो गए।

स्वामी अचलप्रसादजी

स्वामी अचलप्रसादजी उदासीनका जन्म सम्वत् १८८४ में खैरपुर रियासतके निहालखाना टण्डो नगरके प्रतिष्ठित वैश्य-कुलमें हुआ था। उनका घरका नाम लखीसरदास (लक्ष्मीश्वरदास) था। ५६ वर्षकी अवस्थामें उन्हें वैराग्य हुआ और माघ कृष्ण ६, सम्वत् १९४० को उदासीन सम्प्रदायके अनुसार वे स्वामी हरिप्रसादजीके शिष्य हो गए और दूसरे ही दिन सन्ध्याको ४ बजे बाबा कर्णांदासजीने उन्हें गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया। साढ़े तीन वर्षतक उस गद्दीपर रहकर और उस बन्धनसे ऊबकर ज्येष्ठ कृष्णा १४, सम्वत् १९४३ के दिन जयरामदासजीको गद्दी सौंपकर वे तीर्थाटनके लिये उत्तर काशी चले गए जहाँ उन्होंने ज्ञानसू स्थानपर साधुवेला आश्रम स्थापित किया। ८५ वर्षकी अवस्थामें वे सिन्ध तो लौटे किन्तु साधुवेला तीर्थमें नहीं आए। उन्होंने रोहिड़ीकी ओर साधुवेला-तीर्थके सामने अपनी धूनी जगाई और उस वनका नाम तपोवन रक्खा। वहीं माघ शुक्ला १२, मङ्गलवार सम्वत् १९६९ को वे ब्रह्मलोक पधारे। उनके समयमें वनखण्डीजी महाराजके मन्दिरके भीतर सङ्गमर्मरका फर्श लगा, बँगलेके भीतरका तख्त (सिंहासन) सङ्गमर्मरका बना, बँगला बना, लाढ़ी बनी और साधुवेला तीर्थका नवीन शृङ्गार प्रारम्भ हुआ। पहला सिंहासन मीरोंका

राजसी नौका-बँगला था जो किसी कारण-वश नावसे अलग होकर बहता हुआ साधुवेलासे आ लगा था। उसीपर वनखण्डीजी महाराजने अपनी गद्दी लगा ली थी और उसीपर स्वामी जयरामदासजीके समय-तक सब महन्तोंका अभिषेक होता रहा।

स्वामी जयरामदासजी

स्वामी जयरामदासजीका जन्म चैत्र शुक्ला २, सम्वत् १८९० को जोधपुर रियासतके बालोतरके गाँवके कुलीन क्षत्रिय वंशमें हुआ था। इनका नाम जोधासिंह था और चौंतीस वर्षकी अवस्थामें ही वे सम्पूर्ण माया-मोह छोड़कर सिद्ध गुरुकी खोजमें निकल पड़े थे। घूमते-घामते सम्वत् १९२४ में साधुवेलामें आकर वे स्वामी हरिनारायण दासजीके शिष्य बने और वि० सम्वत् १९२५ की विजया दशमीको उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित हो गए। साधुवेला तीर्थमें जो भवन-निर्माण और भवन-संस्कारका क्रम चल रहा था, वह उनके समयमें यथापूर्व होता रहा। उनके समयमें सभा-मण्डपमें सङ्गमर्मरका सिंहासन बना। उन्होंने भी अनेक तीर्थोंकी यात्रा की और प्रथम आषाढ कृष्णा ८, १९५० को प्रातः ४ बजे कोठारी बाबा कर्णदासजीको यह अधिकार दे दिया कि हमारे शिष्य हरिनामदासजीको गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया जाय। उसी दिन सायं ४ बजे उन्होंने इस लोकसे प्रस्थान किया।

यद्यपि उस समय हरिनामदासजी केवल १३ वर्षके बालक ही थे तथापि उस छोटी अवस्थामें ही उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धि, तीव्र मेधा तथा प्रबन्ध-कुशलताका परिचय देना प्रारम्भ कर दिया था। स्वामी जयरामदासजीने अपने संरक्षणमें उन्हें ऐसे ढङ्गसे शिक्षा-दीक्षा दी थी कि अल्प कालमें ही उन्होंने अपना उत्तरदायित्व समझ लिया था, कर्त्तव्य निश्चय कर लिया था और सङ्कल्प-शक्ति व्यवस्थित कर ली थी। यही कारण है कि उनके समयमें साधुवेला आश्रमने सर्वांगीण उन्नति की।

स्वामी हरिनामदासजी

स्वामी जयरामदासजीके निर्देशानुसार बाबा कर्णदासजीने आषाढ कृष्णा ८, संवत् १९५० को हरिनामदासजीको साधुबेलाकी गद्दीपर प्रतिष्ठित किया। इनका जन्म पौष कृष्णा १०, रविवार संवत् १९३७ को सक्खरके धर्मनिष्ठ प्रसिद्ध सेठ आवतमलजीके घर श्रीमती कृष्णा बाईकी पावन कुक्षिसे हुआ था जिन्हें सेठ आवतमलजीने स्वामी जयरामदासजीके चरणोंमें अर्पित कर दिया था और जिन्हें आश्विन शुक्ला पूर्णिमा, संवत् १९४२ को स्वामी जयरामदासजीने उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित कर लिया। स्वामी हरिनामदासजी अत्यन्त मेधावी, कुशल प्रबन्धक और विद्याविनय-सम्पन्न महापुरुष थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका निर्माण कराया। सिन्धु-नदकी धाराके मध्यमें स्थित साधुबेला तीर्थको सब प्रकारसे समलंकृत करनेका श्रेय भी उन्हींको है। उन्होंने अनेक धार्मिक, शैक्षणिक तथा साहित्यिक संस्थाओंको जन्म दिया और उनका अत्यन्त योग्यतापूर्वक संचालन किया। भारत-भरके अनेक तीर्थोंका भ्रमण करके और विभिन्न अवसरोंपर लोक-कल्याणके कार्य करते हुए इन्होंने अत्यन्त कौशलके साथ साधुबेला-तीर्थका सम्मार्जन किया। जब सन् १९४७ में भारतका विभाजन हुआ उस समय नवम्बर सन् ४७ में एक संकल्प-पत्र लिखकर अपने



स्वामी हरिनामदासजी
(साधुबेला)

शिष्य कोठारी गुरुचरणदासजी तथा महन्त गणेशदासजीको वहाँका कार्यभार सौंपकर कार्तिक शुक्ला १३, संवत् २००४ को साधुबेला तीर्थ छोड़कर बंबई चले आए। वहाँसे पूना और महावलेश्वर होकर वे पुनः २६ मई सन् १९४८ को काशी चले आए। इसके पश्चात् तो पाकिस्तानी सरकारने साधुबेला तीर्थके साधुओंको बड़ी यातनाएँ दीं। अन्तमें विवश होकर ३१ अक्तूबर १९४९ को साधुबेला छोड़कर गणेशदासजी भी बम्बई चले आए और वहांसे चलकर १७ नवम्बर सन् १९४९ को काशी पहुँचे। वहाँके आश्रमकी सम्पत्ति स्वामी हरिदास और उसके शिष्य सन्तदासजीने स्वेच्छापूर्वक हरिनामदासजीको दे दी।

पौष कृष्णा ८, संवत् २००६ (१२ दिसम्बर, १९४९) को प्रातःकाल हरिनामदासजी भी ब्रह्मलीन हो गए और उनके निर्वाणके तेरहवें दिन पौष शुक्ल ६ संवत् २००६ (२५ दिसम्बर सन् १९४९) को स्वामी गणेशदासजी साधुबेलाकी गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिए गए।

स्वामी गणेशदासजी

स्वामी गणेशदासजीका जन्म सक्खरके अत्यन्त धर्मनिष्ठ परिवारमें सेठ गाहीमलजीकी धर्मपत्नी श्रीमती गंगाबाईकी कुक्षिसे संवत् १९८५ में हुआ। मनौतीके अनुसार उन्होंने यह पुत्र स्वामी हरिनामदासजीको अर्पित कर दिया जिन्हें श्रावण कृष्णा ६, रविवार सं० १९९७ को स्वामी हरिनामदासजीने उदासीन सम्प्रदायमें श्रौत चतुर्थाश्रमी दीक्षा देकर शिष्य बना लिया। इन्होंने काशीके उदासीन संस्कृत महाविद्यालयमें संस्कृत शिक्षा प्राप्त की। पाकिस्तान बननेपर स्वामी हरिनामदासजी इनके तथा कोठारी



(स्वामी गणेशदासजी)

गुरुचरणदासजीके नाम साधुवेलाकी सम्पत्ति लिखकर काशी चले आए। कुछ दिनोंतक तो वे वहाँ बने रहे किन्तु जब पाकिस्तानियोंने आश्रमके साधुओंको कष्ट देना प्रारंभ किया तो ये भी काशी चले आए।

स्वामी गणेशदासजी साधुबेला पीठके तो नवम महन्त हैं ही साथ हा फुलौली (पटियाला) के तत्कालीन महन्त श्री हरिदासजी जब २४. ७. १९६० को ब्रह्मलीन हुए उस समय ६. ८. १९६० को सम्प्रदायके स्थानीय वरिष्ठ महन्तोंने और उदासीन पंचायती बड़े अखाड़ेके प्रतिनिधिने उदासीन सम्प्रदायकी पद्धतिसे उन्हें वहाँके महन्तपदपर अभिषिक्त करके सबसे पहले तिलक लगाया। यह स्थान डेरा फुलौली कहलाता है जिसके लिये पटियालाके महाराज साहबसिंहजीने तत्काल मंडलेश्वर निर्वाण श्यामदासजीको वहाँ भूमि दी थी। उदारचेता, कर्मठ, कुशल प्रबन्धक, गणेशदासजीने थोड़े ही दिनोंमें अद्भुत कौशल दिखलाया। लगभग सात लाखकी लागतसे बम्बईमें आश्रम बनवाकर, बीहड़ जंगल काटकर एवं सात नलकूप लगवाकर पटियाला-में कृषि-प्रक्षेत्र और आश्रम बनाकर, स्वामी आत्मानन्दजी (पागपटन)-द्वारा प्रदत्त भूमिपर हरिद्वारमें सप्तसरोवरपर नवीन भवन बनवा रहे हैं तथा वाराणसीमें श्री साधुबेलाके अभिनव भवनोंका निर्माण तथा आधुनिकीकरण करके उन्होंने अपनी सुरुचि और व्यवस्था-कौशलका अभूतपूर्व परिचय दिया है। साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसीमें छात्रोंके लिये निःशुल्क आवास, भोजन और अध्ययनकी समुचित व्यवस्था उन्होंने की। चीनके आक्रमणके समय सरकारको रुपया तथा सोना दिया। पाकिस्तानी युद्धके समय गेहूँ (अपने पटियाला आश्रमके फार्मका) तथा सैकड़ों रुपए सुरक्षा कोषके लिए दिए तथा अपने साधुओं-सहित अपना रक्तदान भी किया। लाखों रुपये अपने भक्तोंसे सुरक्षा-कोषमें दिलाए। गणेशदासजीमें विनय, परोपकार-भावना; भारतीय संस्कृतिके विकास तथा लोक-

कल्याणकी भावना कूट-कूटकर भरी है और उनके अदम्य उत्साहको देखकर आशा है कि उनके द्वारा संस्कृत विद्या, भारतीय संस्कृति, साहित्य तथा देशकी पर्याप्त सेवा हो सकेगी।

स्वामी हरिप्रसादजी

श्री वनखण्डीजीके शिष्य स्वामी हरिप्रसादजी बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनके शिष्य श्री आत्मप्रसादजीने म्यानी रोड, सक्खरमें अपना आश्रम बनाया जहाँ पीछे-तक संतप्रसादजी कार्यभार सँभालते रहे।

पंचम बख्शीश : स्वामी वक्तानन्दजी

पाँचवें वक्शीश (वरदान) श्री वक्तानन्दजी थे जिनका जन्म श्रावण शुक्ला ३, संवत् १६९१ को पंजाबके फीरोजपुर जिलेके मालवा डरोली ग्राममें हुआ था। इनके पिता पंडित श्यामलालजी सारस्वत ब्राह्मण थे और इनकी माताका नाम श्रीमती अम्बावती था। इनका जन्मका नाम शिवलाल था। ये अभी ११ वर्षके ही थे कि इनकी माताका स्वर्गवास हो गया। किन्तु यह वालक मेधावी और विद्याप्रेमी था इसलिये काशी जाकर वेदाध्ययन करने लगा। वहाँ भी अध्ययन-अध्यापनकी समुचित व्यवस्था न होनेके कारण वह वहुत उदास रहने लगा और तीर्थोंमें भ्रमण करने लगा। अन्तमें असम (आसाम) के एक महात्माने इन्हें सर्वविद्यासम्पन्न करके इनके विषण्ण मनको शांति प्रदान की। उन्हींके उपदेशसे शिवलालने नैपालकी तराईमें आकर महात्मा स्वामी कर्त्तारायजीसे कार्तिक कृष्णा ७, संवत् १७६२ को उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ली और उनका नाम वक्तानन्द पड़ गया। इन्होंने अत्यन्त निष्ठाके साथ श्री श्रीचन्द्रजीका दर्शन प्राप्त करनेके लिये अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया और एक वर्ष पश्चात् इन्हें श्रीचन्द्राचार्यजीका मानस आशीर्वाद प्राप्त हुआ। इसलिये ये पंचम वख्शीश (वरदान-प्राप्त) महापुरुष माने जाते हैं।

षष्ठ बख्शीश : स्वामी संगतदेवजी

स्वामी संगतदेवजीका जन्म आषाढ शुक्ला १५, संवत् १६९७ को पंजाबके फीरोजपुर जिलेके डरौली ग्राममें उप्पल क्षत्रिय परिवारमें श्री विनयरायके घर हुआ था। उनका जन्म-नाम विजयराय था। विजयराय स्वभावसे ही बड़े कोमल, सहृदय, निरभिमानी और कर्मठ व्यक्ति थे। वे निरन्तर दीनोंको अन्न-वस्त्र आदिकी सहायता देते और साधुसंतोंकी सेवा करते रहते थे। एक बार स्वामी कर्त्तारायजी उस ओर चले आए और उन्होंने विजयरायजीके माता-पितासे कहा कि इस बालकको देश और धर्मकी सेवाके लिये हमें दे दीजिए। पहले तो माता-पिताको बड़ा कष्ट हुआ किन्तु पीछे चलकर उन्होंने वह बालक उन्हें सौंप दिया। तदनुसार आश्विन शुक्ला १०, संवत् १७१५ को कर्त्तारायजीने उन्हें उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके अपना शिष्य बना लिया।

बहुत दिनोंतक ये अपने गुरुजीके साथ समस्त भारतके तीर्थों, नगरों और आश्रमोंमें साधु-महात्माओंका सत्सङ्ग करते रहे। देशाटन करनेके पश्चात् संवत् १७२० में स्वामी कर्त्तारायजीने आषाढ शुक्ला १५ को श्री संगतदेवजीको फेरू ग्राममें गद्दी देकर महन्त बना दिया।

स्वामी संगतदेवजी बड़े तपस्वी थे। वे गर्मीके दिनोंमें पंचाग्नि तापते थे और जाड़ेके दिनोंमें शीतल जलमें खड़े होकर तपस्या किया करते थे। इस प्रकार १२ वर्षतक निरन्तर तपस्या करनेपर श्री श्रीचन्द्रजीने वैशाख पूर्णिमा सं० १७५८ को इन्हें मानस वरदान दिया कि तुम देश और धर्मका बड़ा कल्याण करोगे। उन्होंने संगतदेवजीको 'सच्ची दाढी' का वरदान दिया था। इसलिये वे छठे बख्शीश तथा 'सच्ची दाढीवाले महात्मा' माने जाते हैं। श्रावण शुक्ला ५, संवत् १७७८ को उनका देवलोक हुआ और फेरू ग्राममें ही उनकी समाधि भी बनाई गई।

उपबख्शीश

बख्शीश (वरदान) के जिन छह विशिष्ट महात्माओंका विवरण ऊपर दिया गया है उनके अतिरिक्त दस उप-बख्शीश अर्थात् अवान्तर वरदान के भी उदासीन महात्मा हुए हैं जिनकी परम्परा किसी न किसी धूणे या बख्शीशमें जाकर मिल जाती है अर्थात् इन उप-बख्शीशवाले महात्माओंका सम्बन्ध या तो चार धूणोंमेंसे किसी एक धूणेकी परम्परामें है अथवा बख्शीशकी किसी परम्परामें है। उदासीन महात्माओंकी इतनी विशाल, विस्तृत और भारत-व्यापी परम्परा विद्यमान है कि उसका पूर्ण विवरण प्राप्त करना भारतीय धार्मिक इतिहासकी दृष्टिसे नितान्त अपेक्षित और आवश्यक है क्योंकि इन उदासीन महात्माओंने सम्पूर्ण देश भरमें केवल अपने आश्रमोंका ही निर्माण नहीं किया वरन् स्थान-स्थानपर उन आश्रमोंके द्वारा पूर्णतः सात्त्विक, नैतिक और धार्मिक वातावरणकी भी सृष्टि की, तपस्याके द्वारा वाक्सिद्धि तथा अन्य लोक कल्याणकारी सिद्धियाँ प्राप्त करके दुखी मानव-समाजका कल्याण किया और यथा-संभव अपने तन और वचनसे लोकोपकार किया जिसका समुज्वल प्रमाण काशीके प्रसिद्ध सन्त श्री काष्ठजिह्व स्वामी-द्वारा विरचित उदासीन-साधु-स्तोत्र है। (परिशिष्ट २ देखिए)

ऐसी ही तपस्या करके सिद्धि प्राप्त करनेवाले उपबख्शीशके अग्रांकित उदासीन सन्त हैं।

१. श्री माणिकचन्द्रजी और मेहरचन्द्रजी

कार्तिक शुक्ला १५, संवत् १६२० को महन्त धर्मचन्द्रजीने माणिकचन्द्रजी और मेहरचन्द्रजीको उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके अपना शिष्य बनाया। उसके उपरान्त आषाढ शुक्ला १५, संवत् १६६३ को माणिकचन्द्र और मेहरचन्द्रने कारक ग्राममें श्रीचन्द्राचार्यजीके सादिक (साधक शिष्य अर्थात् वह शिष्य जो एक बार दीक्षित होकर भी दूसरी बार किसी दूसरे गुरुका शिष्य

बन जाता है) शिष्य बनकर बाबाकी पदवी धारण करनेका मानस वरदान प्राप्त किया। तबसे आजतक वे बावा साहबजादे श्री श्रीचन्द्रजीकी पूजा करते हुए सैली पहनते हैं और बावे कहलाते हैं।

आश्विन शुक्ला १०, संवत् १६६३ को महन्त धर्मचन्द्रजीने माणिकचन्द्रजीको डेरा बाबे नानकके देहरे (स्थान) की गद्दीपर प्रतिष्ठित किया और श्री श्रीचन्द्रजीकी आज्ञासे ज्येष्ठ शुक्ला १०, संवत् १६६५ को मेहरचन्द्रजीको नानकाणेका महन्त बनाकर प्रतिष्ठित किया। माघ शुक्ला २, संवत् १६८६ को माणिकचन्द्रजीने और चैत्र शुक्ला ८, संवत् १६८५ को मेहरचन्द्रजीने देवलोकको प्रस्थान किया। ये प्रथम उपवख्शीश माने जाते हैं।

२. सोंढी धीरमलजी

सोंढी धीरमलजीका जन्म माघ संक्रांति १३, शनिवार, संवत् १६८३ को कर्तारपुर (पंजाब) में हुआ था। ये वैशाख शुक्ला ३, संवत् १६६४ को उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित हुए और उसी दिन कर्तारपुरके महन्त बना दिए गए। आश्विन शुक्ला १०, सम्वत् १७७३ को इनका गोलोकवास हुआ। ये द्वितीय बख्शीश थे।

३. श्री निरंजनराय (हिन्दालदास)

श्री निरंजनराय (हिन्दालदास) ने मार्गशीर्ष शुक्ला ५, सम्वत् १६१२ को महन्त धर्मचन्द्रजीसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ली। ये तृतीय उपवख्शीश थे।

४. दीवाना साहब

दीवाना साहबका जन्म आश्विन शुक्ला २, सम्वत् १६३५ को हुआ था। इन्होंने कार्तिक शुक्ला १५, सम्वत् १६६० को निर्वाण मेहरबान उदासीनजीसे दीक्षा ली और कार्तिक शुक्ला १५, सम्वत् १६६२ को श्रीचन्द्रजीसे वरदान प्राप्त किया। फाल्गुन शुक्ला ११, सम्वत् १७०५ को दीवाना साहब दिवंगत हुए। ये चतुर्थ उपवख्शीश थे।

इनके गुरु निर्वाण मेहरवानजीने माघ शुक्ला ५, सम्वत् १६५८ को श्रीपृथ्वीराय उदासीनसे शिष्यत्व ग्रहण किया था और आषाढ शुक्ला १५, सम्वत् १६५६ को उन्होंने जगद्‌गुरु श्री श्रीचन्द्रजीसे वरदान पाया था। वैशाख २१ प्रविष्टा, सम्वत् १६६३ को पृथ्वीरायजीने अपने शिष्य निर्वाण मेहरवानको सेली टोपी पहनाकर अपने स्थानकी गद्दीका महन्त बनाकर प्रतिष्ठित किया। श्रीपृथ्वीरायजीका अवसान उसी दिन वैशाख २१ प्रविष्टा, सम्वत् १६६३ को हुआ।

५. कन्हैया साहव

श्री कन्हैया साहव उदासीनने वैशाख शुक्ला ४, सम्वत् १७२५ को अलमस्तजीसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ली। पौष शुक्ला ५, सम्वत् १७०७ को मन्टगुमरी (पंजाव) में इनका जन्म हुआ और आषाढ शुक्ला ६, सम्वत् १६८६ को देवलोक हुआ। इनके अनुगामी साधु अड्डनशाही कहलाते हैं। ये पंचम उपवख्शीश थे।

६. सेवादासजी

सेवादासजीने कार्तिक कृष्णा ५, संवत् १७२६ को अलमस्तजीसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ली। इनकी पद्धतिके सव साधु सेवापंथी उदासीन कहलाते हैं। आषाढ शुक्ला ७, सं० १७८६ को इन्होंने देवलोकको प्रस्थान किया। ये षष्ठ उपवख्शीश थे।

७. रामदासीय वावा बूढ़ाजी

वावा बूढ़ाजीका जन्म ज्येष्ठ कृष्णा ५, संवत १५८४ को हुआ। ये पहले कार्तिक कृष्ण १४ (दीवाली), संवत् १५८८ को नानकजीके शिष्य वने किन्तु फिर आषाढ शुक्ला १५, संवत् १६८१ को श्री श्रीचन्द्रजीके सादिक (साधक) शिष्य बने। श्री श्रीचन्द्रजीके आशीर्वादसे ही उनको यह अधिकार प्राप्त हुआ कि जबतक वे तिलक न.कर दें तवतक किसी भी पातशाहीको गुरुत्वकी गद्दी प्राप्त नहीं हो सकती। छठी पातशाही

श्री हरिगोविन्दजी-तक तो वावा बूढ़ाजी ही तिलक देते रहे। इसके पश्चात् उनके पुत्र-पौत्रोंको तिलक देनेका अधिकार प्राप्त होता रहा। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार प्राचीन भारतीय राजाओं-महाराजाओंके यहाँ राज्याभिषेका अधिकार कुलगुरुको होता था उसी प्रकार पातशाहियोंको तिलक देनेका अधिकार वावा बूढ़ाजी और उनके परिवारवालोंके हाथमें रहा। मार्गशीर्ष शुक्ला ३, सम्वत् १६८८ को लाहौरके पास रामदासपुरमें उनका अवसान हुआ और वहीं उनकी समाधि बनी। ये सप्तम उपवख्शीश थे।

वावा बूढ़ाजीकी वंश-परम्परामें क्रमश: कानाराम, श्रवणराम, भालचन्द्र, जलालराम, झंडाराम, गुरुदित्ता और रामकुवेरजीका उल्लेख मिलता है जो दशम पातशाही-तकको हिन्दू धर्म-ग्रन्थ सुनाते रहे।

८. स्वामी जिज्ञासुरामजी निर्वाण

स्वामी जिज्ञासुरामजीने निर्वाण तुलसीदासजीसे चैत्र कृष्णा १५, सं० १७२० को उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ली। इनके सम्प्रदाय-वाले सब उदासीन सन्त प्राय: गृहस्थ हैं और भारत-विभाजनसे पूर्व अधिकांश सिन्धमें निवास करते थे। स्वामी तुलसीदासजीने भक्त भगवान् दरगहपर प्रवाणसे दीक्षा ली थी जो श्री श्रीचन्द्रजीके ही शिष्य थे। ये अष्टम उपवख्शीश थे।

९. श्रीरामरायजी

श्री रामरायजीके पिता हरिरायजी और माता श्रीमती कोटकल्याणीजी थीं। रामरायजीका जन्म आषाढ शुक्ला १, १७६३ को कीर्तपुरमें हुआ। इन्होंने वालू हसनाजीसे वैशाख शुक्ला ३, सं० १७१५ को उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा प्राप्त करके अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। ये वड़े सिद्ध पुरुष थे और इन्होंने अनेक

चमत्कारोंके द्वारा लोगोंको प्रभावित किया था। उन्होंने दिल्ली, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार होते हुए देहरादूनमें जाकर अपना आश्रम बनाया। भाद्रपद शुक्ला ८, रविवार सं० १७४४ को देहरादूनमें ही उन्होंने देवलोकको प्रस्थान किया और वहीं इनकी समाधि बनी। इनकी परम्परामें महन्त लक्ष्मणदासजी बड़े प्रभावशाली महापुरुष हुए जिनके शिष्य इन्द्रेशचरणजी आजकल उनकी गद्दीपर प्रतिष्ठित हैं। उनकी शाखाका दूसरा केन्द्र लाहौर छावनीके पास चबच्चा साहबके नामसे प्रसिद्ध है।

१०. स्वामी थानदासजी

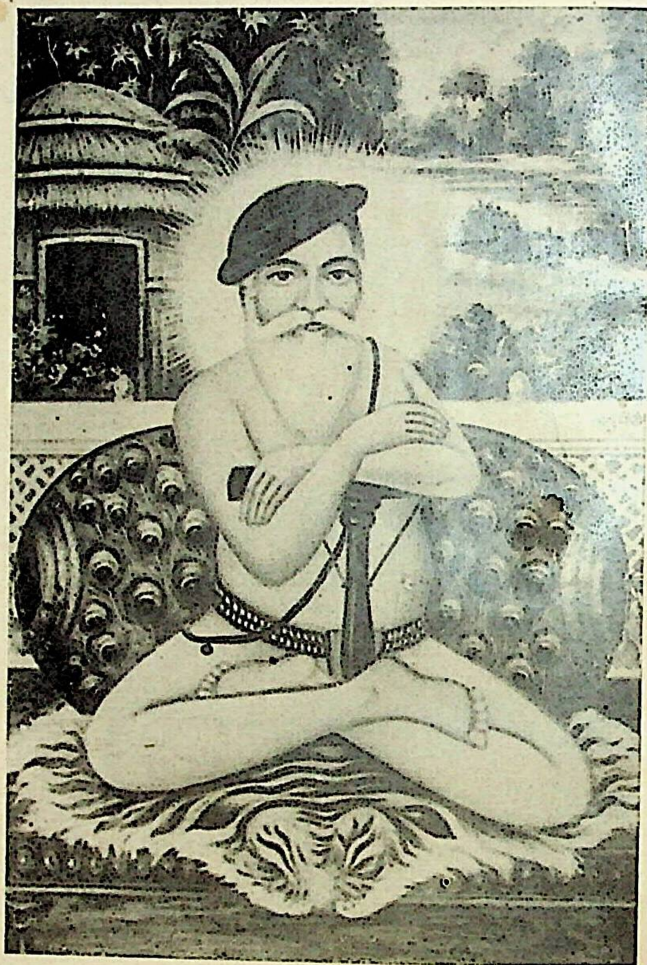
स्वामी थानदासजीने बाबा दयारामजीसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ग्रहण की थी। ये अलमस्तजीको पद्धतिमें थे। इन्हींकी परम्परामें पंडित केशवानन्दजी प्रसिद्ध विद्वान् हुए जिन्होंने कनखल (हरिद्वार) में मुनिमंडलाश्रमकी स्थापना की।

ऊपर जिन चार धूणों, छह बख्शीशों तथा दस उपबख्शीशोंका विवरण दिया गया है वे सभी उदासीन पंचायती अखाड़ेमें सम्मिलित हैं और इन सभीका परम्परागत सम्बन्ध जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्रजीसे ही है।

उपर्यङ्कित चारों धूणों, छहों बख्शीशों और दशों उपबख्शीशों-के उदासीन महात्माओंकी अत्यन्त व्यापक शिष्य-परम्परा केवल उत्तर भारतमें ही नहीं, वरन् पूर्वमें बङ्गाल और आसाम-तक तथा दक्षिणमें सुदूर हैदराबाद तथा नाँदेड़-तक व्याप्त हो गई। इन सब महात्माओंके शिष्य-प्रशिष्य जहाँ-जहाँ गए वहाँ-वहाँ उन्होंने अपने-अपने आश्रम और गद्दियाँ स्थापित कीं, धर्मार्थ औषधालय स्थापित किए, संस्कृतकी पाठशालाएँ चलाईं, मन्दिरोंका निर्माण कराया, धर्मशालाएँ बनवाईं, कुएँ खुदवाए, कीर्त्तन भजन और उपदेशकी व्यवस्था की, घूमघूमकर धर्म-प्रचार किया और इस प्रकार समस्त देशमें धार्मिक तथा नैतिक जीवनकी ज्वलन्त ज्योति चारों ओर ऐसी जगा दी कि यवनोंके आतङ्कमय शासन

भी उस धर्म-ज्योतिको हानि न पहुँचा सके और अँगरेजोंकी कूटनीति भी उसे किसी प्रकार मन्द न कर सकी। भारतकी धर्म-प्राण जनताने भी इन साधु-महात्माओंकी तपश्चर्याका पुष्कल समादर करते हुए इनके तपोमय जीवनसे प्रेरणा भी प्राप्त की और वाक्सिद्ध महात्माओंकी चरण-सेवा करके अपने लौकिक समृद्धिको भी बल प्रदान किया। इन महात्माओंमेंसे कई ऐसे सिद्ध पुरुष हो चुके हैं जिनके चमत्कारोंकी कथा इतने अधिक रूपों और इतनी प्रभूत मात्रामें मिलती है कि आजका वैज्ञानिक युग सहसा उनपर विश्वास करनेको प्रस्तुत नहीं होगा। किन्तु जिन अनेक सद्गृहस्थोंने उन सिद्ध महापुरुषोंकी वाणीसे अपना और अपने परिवारका कल्याण सिद्ध किया उनका साक्ष्य स्वयं इन महात्माओंकी दिव्य शक्तियोंकी प्रमाण प्रस्तुत करनेको उद्यत है। यदि उनमें ये अद्भुत शक्तियाँ न होतीं तो जन-मानस इतनी उदारताके साथ इतनी लम्बी अवधितक उनकी अर्चना न करता।

दशम प्रकरण



तपोमूर्ति निर्वाणदेव श्रीप्रियतमदासजी
महाराज उदासीन

संस्थापक : श्री उदासीन पंचायती अखाडा बडा

निर्वाण प्रियतमदासजी

उदासीन सम्प्रदायको सुसंघटित करनेका श्रेय निर्वाण प्रियतमदासजीको ही है। निर्वाण प्रियतमदासजीका जन्म आषाढ शुक्ला १५, संवत् १७७७ को मध्य भारतके अकोला जिलेमें अमरावतीके सुसंस्कृत सारस्वत ब्राह्मण परिवारमें हुआ था। इनका जन्म-नाम कर्मचन्द था।

प्रारम्भमें इन्होंने पंजाबके वातावरणके अनुसार उर्दूका अध्ययन किया। उनके मनमें विरक्तिका भाव पहलेसे ही विद्यमान था। जब कर्मचन्दकी माता भगवानकी पूजा किया करतीं तो ये वहाँ ध्यान लगाकर बैठ जाते थे। एक बार किसी भिक्षुकने उनके द्वारपर श्रीचन्द्राचार्यजीके रूपके वर्णनका ऐसा गीत गाया कि कर्मचन्दने उसे कंठस्थ कर लिया और रात-दिन उसे गाते रहने लगे। बस एक रविवारको सम्वत् १७९१ में धोती-अँगरखा पहनकर और उर्दूकी गीता जेबमें रखकर अपने माता-पिताको प्रणाम करके वे चल दिए। इसी प्रकार भ्रमण करते हुए एक दिन उन्हें संयोगवश मार्गमें जाते हुए अमृतसरके एक उदासीन महात्माने रोककर इनसे सब कुशल-समाचार पूछना प्रारम्भ किया। इन्होंने सब बातें ज्योंकी त्यों कह सुनाइं। यह सुनकर ये उनके साथ अमृतसर चले आए और वहाँ संस्कृत साहित्य और शास्त्रका अध्ययन करने लगे।

दीक्षा

सम्वत् १७९२ की भाद्रपद कृष्णा अष्टमीको अमृतसरमें महन्त संगतदासजीने इन्हें उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके इनका नाम प्रियतमदास रख दिया। बहुत दिनोंतक ये अपने गुरुजीके आश्रममें ही निवास करते रहे। उसके पश्चात् उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि घूमकर महात्माओंका दर्शन किया जाय और उदासीन सम्प्रदायको संघटित किया जाय। तदनुसार अपने गुरुजीकी आज्ञा लेकर सम्वत् १७९७ में ये नैपालवाले वनखंडीजीकी खोजमें मोरङ्ग झाड़ी पहुँच गए।

नैपालकी मोरंग झाड़ीके प्रसिद्ध तपस्वी स्वामी वनखंडीजीकी तपस्याकी प्रसिद्धि दूर-दूरतक व्याप्त हो गई थी और अनेक साधु-महात्मा उनके दर्शनके लिये मोरंग झाड़ीकी ओर आते ही रहते थे। प्रियतमदासजीने भी उनकी बड़ी महिमा सुन रक्खी थी और इसलिये वे भी उनके दर्शनके लिये समुत्सुक होकर उनके दर्शनके लिये अनेक नदी, नाले, पर्वत और जंगल पार करते हुए मोरंग झाड़ीके पास बहनेवाली लँगोट गंगाके तटपर जा पहुँचे।

ममता नहीं, समता

वहाँ पहुँचकर वे क्या चमत्कार देखते हैं कि वनखण्डीजीके परम शिष्य चर्मपोश (मृगचर्मधारी) श्री हरिदासजी एक शिलापर बैठे अपने पैर धो रहे हैं। अचानक देखते-देखते उनका लोहेका चिमटा पारस पत्थरके स्पर्शसे सोनेका हो गया। हरिदासजीने झट वह पारस पत्थर और सोनेका चिमटा उठाकर बड़े वेगसे नदीके गम्भीर जलमें छपाकसे फेंक दिया।

प्रियतमदासजीने आगे बढ़कर हरिदासजीको उपालम्भ देते हुए कहा—'हे निष्काम महापुरुष! मानता हूँ कि आप निरीह और निर्लोभ हैं पर आपने यह विचार नहीं किया कि इस पारससे न जाने कितने साधुओंकी सेवा और उनका स्वागत-

सत्कार हो सकता था, भण्डारा किया जा सकता था और सैकड़ों दीन गृहस्थोंका पालन-पोषण किया जा सकता था। इसके आधारपर न जाने कितने साधु-सन्त आपका गुण-गान करते और निश्चिन्त होकर अपनी तपस्या चलाते।

प्रियतमदासजीकी यह बात सुनकर हरिदासजीने अत्यन्त स्नेह-भरे शब्दोंसे समझाते हुए कहा—'साधु! यह सारा विश्व स्वप्न है, मिथ्या है, माया है, विडम्बना है। यहाँ कोई पदार्थ सत्य नहीं है। फिर उसे तृप्त और तुष्ट करनेके लिये यह ममत्वसे भरे कल्याणकी बात क्यों करते हो। सोनेका चिमटा और पारस पत्थर दोनों ही अत्यन्त साधारण पत्थर और धातुके टुकड़ेके समान निर्जीव, निरर्थक और मूल्य-हीन हैं। स्वामी वनखण्डीजी महाराजकी कृपासे और उनके सत्सङ्गसे मैंने ममत्वके बदले समत्वका पाठ सीखा है। आप भी उसी समत्वकी साधना कीजिए और वनखण्डीजी महाराजकी कृपा प्राप्त करनेके लिये शुद्ध मनसे तपस्या कीजिए।'

तपस्या

प्रियतमदासजीने वनखण्डीजीका नाम तो सुन ही रक्खा था और उनके दर्शनके लिये वे आए भी थे पर वे यह नहीं जानते थे कि उनके दर्शन कहाँ हो सकते हैं। जब प्रियतमदासजीने उनसे वनखण्डीजीका ठिकाना पूछा तो उन्होंने बताया कि वनखण्डीजी एकान्तवासी होकर भेड़िया मठ और तकिया मठमें समाधि लगाते हैं तथा धूनी साहबमें साधु-सन्तोंको दर्शन देते हैं।

यह सुनकर प्रितमदासजीके मनमें वनखण्डीजीके प्रति अगाध निष्ठा उत्पन्न हो गई और वे सच्चे मनसे एकाग्र-चित्त होकर अपने मनकी सब वृत्तियोंको बाँधकर धूनी साहबके पास वृक्षके नीचे बैठकर वनखण्डीजी महाराजकी कृपा प्राप्त करनेके लिये बारह वर्षतक तपस्या करते रहे।

दर्शन

प्रियतमदासजीकी यह बलवती निष्ठा देखकर वनखण्डीजीका कोमल चित्त कृपासे भर गया और उन्होंने प्रियतमदासजीको दर्शन देनेका निश्चय कर लिया। ज्योंही प्रियतमदासजीने अपनी आँखें खोलीं तो देखते क्या हैं कि साक्षात् ब्रह्म-ज्योतिके समान जाज्वल्यमान दिव्य तपोमयी देवमूर्त्तिके सदृश वनखण्डीजी महाराज सामने उपस्थित हैं। प्रियतमदासजीकी आँखोंसे प्रेम और भक्तिके आँसू छलछला पड़े। वे भावनिष्ठ होकर 'त्राहि माम् त्राहि माम्' कहते हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् लेट गए।

वनखण्डीजीने अत्यन्त आत्मीयताके साथ प्रियतमदासजीको सम्बोधित करते हुए कहा—'आओ वत्स प्रियतमदास! हम तुमपर बहुत प्रसन्न हैं।' यह कहकर उन्होंने प्रियतमदासजीको अपना शिष्य बना लिया और वे भी छायाके समान निरन्तर स्वामीजीके पास रहकर उनकी सेवा करने लगे।

लोक-सेवाकी कामना

इस प्रकार आदरपूर्ण सेवा करते हुए पाँच वर्ष बीत जानेपर एक दिन प्रियतमदासजीने स्वामीजीसे निवेदन किया—'भगवन्! अपना उद्धार तो सब ऋषि, मुनि, सन्त करते ही हैं और आपकी कृपासे मुझे अपने उद्धारकी चिन्ता भी नहीं क्योंकि आपकी दयासे न तो वह मेरे लिये दुर्लभ ही रह गया और न मुझे उसकी इच्छा ही रह गई है। फिर भी मेरी आकांक्षा है कि मैं उदासीन साधुओंको संघटित करके लोक-कल्याण और विश्व-कल्याणका मार्ग प्रशस्त करूँ। इससे मैं अपने उदासीन सम्प्रदायका भी यश अभिवर्धित कर सकूँगा और सम्प्रदायके साधुओंको भी सुख और शान्ति प्रदान कर सकूँगा।'

आशीर्वाद

अपने शिष्य प्रियतमदासजीकी यह लोक-मङ्गल भावना सुनकर स्वामीजीको अपार हर्ष हुआ। उन्होंने प्रसन्न होकर झट अपनी

धूनीसे विभूति उठाई और उसे प्रियतमदासजीके मस्तकपर लगाकर अपने वरद हस्तसे उनकी जटा बाँधकर उन्हें मंलगमय आशीर्वाद और विभूतिका गोला देकर विदा करते हुए कहा—'लो, यह धूनोकी विभूतिका गोला लेते जाओ। सदा इसे मस्तकपर लगाते रहना और इसकी पूजा करते रहना। तुम्हारा कल्याण होगा।' यह विभूतिका गोला आजतक अखाड़ेमें गोला साहवके नामसे पूजा जाता है।

आश्रम-स्थापना

वनखण्डीजी महाराजका आशीर्वाद और वरदान पाकर निर्वाण प्रियतमदासजी अपने साथ उदासीन साधुओंका दल लेकर सम्वत् १८१० में देश-देशान्तरका भ्रमण करने निकल चले।

निर्वाण प्रियतमदासजी और सन्तोषदासजी दोनों अपने दल-वल-सहित हिन्दू धर्मका प्रचार करते हुए सम्वत् १८२४ में भागनगर (दक्षिण हैदराबाद) जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने राजा लच्छीरामको तथा उनके पुत्र नारायणदास और नानकरामको साधु-सुमन-चन्द्रिकाका उपदेश दिया। वहाँ जिस स्थलपर निर्वाण प्रियतमदासजी जाकर वैठे थे वह स्थल अखाड़ेके नामसे आंजतक प्रसिद्ध है। नानकरामजीने निर्वाण प्रियतमदासजीकी योजनाओंके लिये अत्यन्त उदारता-पूर्वक सात लाख रुपया प्रदान किया।

चारों धाम (जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारकापुरी तथा वदरीनाथ) की यात्रा और धर्मका प्रचार करते हुए सम्वत् १८३६में प्रयागमें आकर उन्होंने अपनी ध्वजा खड़ी की। इसके पश्चात् उन्होंने सम्वत् १८३८ में अमृतसरमें साधुओंके लिये आश्रम वनवाया जो सङ्गलवाले अखाड़ेके नामसे प्रसिद्ध है। प्रियतमदासजीके साथी निर्वाण सन्तोषदासजीने भी ब्रह्मबूटेके नामसे अपना आश्रम वनवाया। इसीके साथ उन्होंने (सन्तोषदासजीने) अपने नामसे सन्तोषसर नामक विशाल सरोवर भी खुदवाया।

सम्वत् १८४० में प्रियतमदासजी तथा सन्तोषदासजीने व्यास नदीसे नहर निकालकर उसका जल अमृतसरके सरोवरमें डाला। निर्वाण प्रियतमदासजीने प्रयागराजमें उदासीन सम्प्रदायके सब साधु-सन्त-महन्तोंको एकत्र करके आश्विन कृष्णा ६, सम्वत् १८४४ का उदासीन पञ्चायती अखाड़ा प्रतिष्ठित किया। [देखिए परिशिष्ट ७] सं० १८४५ में निर्वाण प्रियतमदासजीने जो सरोवर खुदवाया था वह आजकल निर्वाणसरके नामसे प्रसिद्ध है जहाँ उदासीन आश्रम भी बना हुआ है।

निर्वाण प्रियतमदासजी सारे शरीरमें भस्म रमाए रहते, सिर पर जटा धारण करते और दिगम्बर वेशमें रहते थे। उन्हींसे ही उदासीन सम्प्रदायमें नागा पंथ प्रचलित हुआ। कुछ महात्माओंने उनकी वृद्धावस्थाके समय उन्हें जब वस्त्र धारण करनेको कहा भी तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि हमारे लिये वस्त्र और भस्म दोनों समान हैं। यदि हम वस्त्र धारण करने लगेंगे तो देहमें हमारी आसक्ति बढ़ जायगी। उन्होंने ३५ वर्षकी अवस्थासे ही वस्त्र त्याग दिया था। वर्षा, शीत और आतप सबमें वे समान रूपसे वस्त्रहीन रहते थे और जीवन-पर्यन्त कभी किसी कुटी या मन्दिरमें प्रविष्ट होकर नहीं रहे।

निर्वाण प्रियतमदासजी सं० १८८८ की दीवालीके दिन अमृतसरमें ब्रह्मलीन हुए और वहीं संगलदासके अखाड़ेमें उनकी समाधि बनाई गई।

निर्वाण शब्दका प्रयोग

अमरकोषके अनुसार निर्वाण शब्दका अर्थ अमृत, श्रेयस् मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस, मुक्ति और कैवल्य है। उपनिषद्के अनुसार प्रत्येक जीवात्माको ब्रह्मके सम्यक् ज्ञानसे अमृत या अमृतत्व प्राप्त होता है। धीर पुरुष श्रेयस्कर और प्रेयस्कर मार्गोंपर सम्यक् विचार करके श्रेयस्का अवलम्ब लेते हैं। सांख्य-दर्शनकार महर्षि कपिलने कहा है कि प्रकृति और पुरुष, इन दोनों तत्त्वोंके भेदका

ज्ञान करके आधिदैहिक, दैविक और भौतिक तीनों प्रकारके दुःखोंका ध्वंस हो जाता है और तब मोक्ष प्राप्त हो जाता है। गौतमने अपने न्यायदर्शनमें बताया है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन षोडश पदार्थोंके सम्यक् ज्ञानसे जब दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या-ज्ञानका उत्तरोत्तर नाश हो जाता है तब अपवर्गकी प्राप्ति होती है। न्याय और वैशेषिक दोनोंके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, आदि पदार्थोंके सम्यक् ज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। पातञ्जल दर्शनके मतानुसार योगके द्वारा परमात्मामें जीवात्माका लय हो जाना ही मुक्तिकी अवस्था है। कुछ मीमांसक संप्रदायोंका विचार है कि नित्य सुखके साक्षात्कारका नाम ही मुक्ति है। वेदान्ती लोगोंका कथन है कि परमार्थिक ज्ञानके द्वारा ही अविद्याका ध्वंस और कैवल्यका लाभ होता है। बौद्धोंके अनुसार प्रतीत्यसं समुत्पन्न धर्म-समूहकी जब संबुद्धि होती है तब प्रपंचका उपशम तथा राग, द्वेष और मोहका क्षय होता है, तभी निर्वाण प्राप्त होता है। मुक्तिवाद ग्रंथके अनुसार प्राचीन आचार्यगण पाँच प्रकारकी मुक्ति मानते थे—सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सारूप्य।

निर्वाण-मुक्तिके संबंधमें विष्णुपुराणमें कथा आई है कि एक बार मायामोहावतार बुद्ध लाल-लाल वस्त्र पहने, आँखोंमें सुरमेकी बाढ़ चढ़ाए असुरोंके पास पहुँचकर अत्यन्त मधुर स्वरमें बोले—'हे असुर-गण! यदि आप लोग निर्वाण, मुक्ति या स्वर्गकी कामना करते हो तो पशु-हिंसा आदि दुष्कर्म करना बन्द करो, क्योंकि इससे कोई फल नहीं निकलता है। इस संसारको विज्ञान-मय समझो। पंडितोंने कहा है कि यह संपूर्ण जगत अनाधार है, सदा भव-संकटमें परिभ्रमण करता रहता है और राग आदि दोषोंसे दूषित है।'

बहुतसे लोगोंका विचार है कि निर्वाण शब्द बौद्धोंका ही

मुक्तिव्यंजक पारिभाषिक शब्द है। किन्तु यह भ्रम है। हाँ, यह अवश्य है, कि 'निर्वाण' शब्दकी व्याख्या बौद्ध शास्त्रोंमें अधिक विस्तारसे की गई है किन्तु वह वैसी ही है जैसी अन्य आस्तिक शास्त्रोंमें है। अश्वघोषने बुद्ध-चरितमें लिखा है—

करुणायमाना ज्यायस्य मृत्युर्भयविमोहिता।
नैर्वाणे स्थापनीयास्तत् पुनर्जन्मनिवर्तके॥

[निर्वाणसे पुनर्जन्मका निवर्तन या लोप होता है। जबतक संस्कार-समूहका क्षय नहीं होता तबतक जन्मान्तर चलता रहता है। इसलिये संस्कार-समूहके क्षयका नाम ही निर्वाण है।]

माध्यमिक सूत्रमें नागार्जुनने कहा है—

निर्वाणकाले वोच्छेदः प्रसङ्गाद्भवसन्ततेः।

[भवसंतति अर्थात् कायिक वाचिक और मानसिक कर्मजनित संस्कारके उच्छेदका नाम ही निर्वाण है।]

रत्नकूटसूत्रमें कहा गया है—

रागद्वेषमोहक्षयात् परिनिर्वाणम्।

[राग द्वेष और मोहके क्षयका नाम निर्वाण है।] जिस प्रकार ईंधनके अभावमें अग्निका निर्वाण हो जाता है उसी प्रकार राग, द्वेष और मोहका क्षय हो जानेसे जीवका आत्माभिमान लुप्त हो जाता है और अहंकारके ममकारका ध्वंस हो जानेसे निर्वाण प्राप्त हो जाता है। शान्तिदेवके अनुसार—

सर्वत्यागाच्चनिर्वाणं निर्वाणार्थी च मे मनः।

[संपूर्ण संसार, सुख, दुःख, आत्माभिमान आदि सबके त्यागका ही नाम निर्वाण है।] रत्नमेघ ग्रंथमें भी इसीकी पुष्टि करते हुए कहा गया है—

तृष्णया विप्रहाणेन निर्वाणमिति कथ्यते।

[तृष्णाकी पूर्ण निवृत्तिका नाम ही निर्वाण है।]

अतः, प्रियतमदासजीके नामके साथ संलग्न 'निर्वाण' शब्दका यही अर्थ है कि उन्होंने सांसारिक माया, मोह, राग द्वेष, आदि

यहाँतक कि वस्त्र भी छोड़ दिए थे। अतः, निर्वाण शब्दका अर्थ है सर्वस्व-त्यागी, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त। कुछ सज्जनोंने लिखा है कि उन्होंने अखाड़ेका निर्माण किया अतः निर्वाण कहलाए। यह पूर्णतः असंगत अर्थ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उदासीन संप्रदायमें प्रियतमदासजी परम त्यागी और विरक्त होनेके साथ-साथ बड़े कर्मठ, अत्यन्त दूरदर्शी, कुशल प्रबन्धक और प्रकाण्ड व्यवस्थापक थे। उदासीन बड़े पंचायती अखाड़ेकी स्थापना, व्यवस्था और प्रतिष्ठाका सारा श्रेय उन्हींकी अद्वितीय प्रतिभा और संघटन-कौशलको है। उन्होंने जो पट्टा लिखा था उसका बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। उस पट्टेका चित्र और अनुवाद आगे दिया जा रहा हैं।

निर्वाण प्रियतमदाजीकी महत्ता

निर्वाण प्रियतमदासजीने जिस वेग, उत्साह, परिश्रम और दूरदर्शिताके साथ समस्त उदासीन सम्प्रदायकी विकीर्ण शक्तियों, आश्रमों, मठों और प्रधान स्थानोंको सुसंघटित किया, वह भारतवर्षके धार्मिक इतिहासकी अत्यन्त अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक घटना है। जिस प्रकार आद्य शंकराचार्यजीने भारतके चारों कोनोंमें अपने पीठ स्थापित करके दशनामी सम्प्रदायकी समुचित सुसंघटित व्यवस्था की थी उसी प्रकार निर्वाण प्रियतमदासजीने पूर्णतः मुक्त और निःस्पृह होकर केवल लोक-मंगलकी साधना और उदासीन साधु-महात्माओंके कल्याण और नैतिक जीवनकी अभिवृद्धि करनेके निमित्त पंचायती अखाड़ेकी स्थापना की और पंचपरमेश्वर-के साधिकार प्रभावके साथ ऐसी सुचारु शासन-व्यवस्था स्थापित कर दी कि आजतक उदासीन-सम्प्रदाय निरन्तर शक्तिमत्ताके साथ विरक्त साधुओं और महात्माओंके निश्चिन्त तपोमय जीवनकी व्यवस्था भी कर रहा है और विद्याकेन्द्रोंके पोषण, संवर्धन और संरक्षणके द्वारा संस्कृत विद्या, वेद और दर्शनके अध्ययन अध्यापनके लिये मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

श्री प्रियतमदासजीके द्वारा गुरुमुखीमें लिखा हुआ पट्टा

एकों सतगुर प्रसाद

हे जीव! तुम स्वयं ओंकार-स्वरूप परब्रह्म हो; इसलिये सोऽहं इस रूपसे अपने आपको पहचानो। क्योंकि ॐ और सोऽहं इन दोनोके अभेदान्वयसे ही सद्‌गुरु नानक निर्वाणजी अद्वैत भावको प्राप्त हुए हैं। 'वाद'में सब वस्तुओंकी सिद्धि होती है; लक्ष्यमें तो शेष कुछ रह नहीं जाता। सद्‌गुरु नानक निर्वाणदेव लक्ष्यमें अविकल्पित हैं; अर्थात् वे अपने आपमें पूर्ण हैं।

सुलतानपुर पुरी बई गंगा निरवाण अखाड़ा
तरा सोम प्रकाश सतगुरु नानक अद्वैत देव निरवाण
स्वरूप धारा।

नानक नामक अखाडेकी स्थापना करके; सद्‌गुरु निर्वाण (प्रियतम दास) जीने उसका सारा भार वहन किया। परमहंस तथा विहंगम इस परम्परामें निरन्तर तपश्चर्या करेंगे क्योंकि प्रकाश-स्वरूप सद्‌गुरु नानक निर्वाण अद्वैतदेव सत्य हैं। अपने आपमें पूर्ण हैं।

हे समस्त सद्‌गुरु नानक निर्वाण अद्वैत देवके स्वरूपको धारण करनेवालो सत्पुरुषो! निर्वाण प्रियतमदास-द्वारा स्थापित किए हुए अखाड़ेके सम्पूर्ण निर्वाणोंने, सहजानन्द नामक ब्राह्मणको अपना पंडित माना है और उसे स्थापित किया है। वेदान्तकी कथा किया करते हैं। वे 'निर्वाण' अवस्थाके तात्पर्यको भली प्रकार समझते हैं तथा दूसरोंको समझाते हैं। वे उपदेश देते हैं कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ही जीवको संसारसे मुक्त कर सकते हैं। आप लोगोंका क्या स्वरूप है, इस बातका वे बड़े सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन करते हैं। आप सभी लोग इन्हें अपना पण्डित समझिए और आत्म-स्वरूप ही समझिए। इनके प्रति दया-भाव बनाए रखना और यथाशक्ति फल, पुष्प ताम्बूलादिसे इनका पालन करते रहना। इस प्रकार यदि ऐसे महान् पण्डितकी पूजा करोगे तो साक्षात् सद्‌गुरु

नानक निर्वाण अद्वैतदेवको पूजोगे। भविष्यमें भी इनकी सन्तानको अपनी सन्तान समझकर दया करते रहना।

इन्हें उद्देश्य करके जो दान, दक्षिणा आदि दी जायगी वह सद्गुरु नानक अद्वैतदेवको पहुँचेगी।

सम्वत् अठारह सौ बयालिस (१८४२) में लिखा गया मिति ज्येष्ट शुक्ला निर्जला एकादशी, फगवाड़ा शहरके बीच सम्पूर्ण निर्वाणों द्वारा।

हे सम्पूर्ण सद्गुरुनानक निर्वाणो !

अवधूत देवजी ! सत्य, सत्य, सत्य कर मानना ! सभी सन्त महन्त इसे अपने पूज्यके रूपमें मानें और एक ठीकरी (एक रुपया) और पाँच व्यक्तियोंका सीधा (भोजन-सामग्री) भंडारसे नियमपूर्वक इन्हें पहुँचाना। जो बात इनके समक्ष कही जायगी वह मानो सद्गुरु नानक निर्वाण अद्वैतदेव अवधूतके समक्ष कही गई मानी जायगी। हे पञ्च परमेश्वरो ! यह बात सत्य सत्य सत्य।

सन् १८४२ में श्री गुरु निर्वाण प्रियतमदासजी महाराजके हाथसे लिखे हुए पट्टेकी नकल आज माघ प्रविष्टे २२, सं० २०१७ विक्रम, तदनुसार ता० ३।२।१९६१ को की गई। मूल पट्टा पुराना होनेके कारण जर्जर हो गया है। इसलिये इसकी अक्षरशः नकल की गई और महन्तों सन्तोंने इसे स्वीकार करके अपने-अपने हस्ताक्षर किए। वास्तविक पट्टा श्रीमान् पंडित सहजानन्दजीके प्रपौत्र पण्डित गुरुप्रसादजी 'पाठक', अमृतसरके पास है।

नीचे अनेक महन्तोंके हस्ताक्षर.........

उदासीन सम्प्रदायकी दीक्षा-पद्धति

उदासीन सम्प्रदायमें किसी भी व्यक्तिको किसी भी अवस्थामें चतुर्थाश्रमी दीक्षा देकर उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित कर

लिया जाता है। उसमें अवस्थाका कोई नियम नहीं है। कभी-कभी बहुतसे गृहस्थ किसी विशेष महात्माकी कृपा या उसके आदेशसे यदि एकसे अधिक पुत्र प्राप्त करते हैं तो वे कोई एक आश्रमको समर्पण कर देते हैं अथवा कोई व्यक्ति यदि स्वयं विरक्त होकर आ जाय उसे भी दीक्षित कर लेते हैं। उनकी दीक्षाकी पद्धति निम्नाङ्कित है—

सर्वप्रथम गुरु जलमें बताशा घोलकर उस जलसे शिष्यके द्वारा अपने चरण धुलाकर वह चरणामृत अपने शिष्यको देते हुए उससे गुरुमन्त्र उच्चारण कराते हैं—

शोषणं पाप - पङ्कस्य दीपनं ज्ञान - तेजसः।
गुरोः पादोदकं सम्यक् संसारार्णव - तारणम्॥ १॥
सर्व - तीर्थावगाहस्य सम्प्राप्नोति फलं नरः।
गुरोः पादोदकं पीत्वा शेषं शिरसि धारयेत्॥ २॥

[पाप-रूपी पङ्कको सुखानेवाला, ज्ञान-रूपी दीपकको जगानेवाला यह गुरुके चरणका जल, संसार-सागरसे पार करनेवाला है। जो भक्त अपने गुरुका चरणोदक पीकर शेष बचा हुआ जल सिरपर धारण करता है उसे सब तीर्थोंके स्नानका फल प्राप्त हो जाता है।]

गुरु-चरणामृत लेकर गुरुजीकी आज्ञासे वह शिष्य अन्य उदासीन महात्माओंका भी चरणामृत लेता है। इसके पश्चात् लँगोट बाँधकर, भस्म रमाकर, विभूतिका तिलक देकर सेली, टोपी तथा ब्रह्म अँचला धारण करता है। कोई-कोई गुरु अपने शिष्यको कफनी-चोला भी पहनाते हैं।

इसके पश्चात् शिष्यको गुरुमन्त्र सुनाया जाता है। तत्पश्चात् चोटीके ढाई बाल काट दिए जाते हैं। इसके अनन्तर मात्रा और गुरु-प्रणाली पढ़ाकर कण्ठाग्र करा दी जाती है।

उदासीन साधुओंके दो रूप होते हैं—एक परमहंस और दूसरा निर्वाण जटाधारी।

गुरु अपने शिष्यका जो नाम अपने मुखसे स्थिर कर देते हैं

वही उसका नाम और वेष सर्वमान्य हो जाता है। इसके पश्चात् शिष्यको गुरु शीत-प्रसादी खिलाते हैं, भगवा वस्त्र देते हैं जिसे वह जीवन-पर्यन्त धारण करता है। इतना हो चुकनेपर श्री श्रीचन्द्रजीके नामपर भंडारा करके उस नवीन दीक्षित साधुको रोट-प्रसाद खिलाते हैं तथा अन्य गृहस्थ सेवकोंको प्रसाद देते हैं। कुछ गुरु अपने शिष्यको ले जाकर साधु-महात्माओंके धूनों और समाधियोंके आगे सिर टेककर प्रणाम भी कराते हैं। इस प्रकार शिष्य हो जानेके पश्चात् वह व्यक्ति अपने माता-पितासे फिर कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

शिष्य बना चुकनेके पश्चात् गुरु उसे विद्या पढ़ाता है, उपदेश तथा व्याख्यान आदि देनेका अवसर देता है और सदाचारसे रहने तथा आदर्श व्यक्ति बनने और सत्य, अदम्भिता, परोपकार, धर्मरक्षण, उदारता तथा बाँटकर खाने आदि सब दैवी गुणोंकी शिक्षा देता है। शिष्य भी तन-मनसे अपने गुरुकी पूजा करता हुआ गुरुकी आज्ञामें रहकर शुद्ध भावनासे उनकी सेवा करता रहता है। इन शिष्योंको गुरु पुत्रके समान ही पालन-पोषण करता है और उनको मानस-पुत्र मानता है। उदासीनोंका गोत्र अच्युत माना जाता है अर्थात् जिसका कभी नाश न हो। अतः, प्रत्येक उदासीनका गोत्र अच्युत होता है।

कभी-कभी कुछ गृहस्थ लोग भी आकर गुरुमंत्र लेते हैं। ये सब सेवक कहलाते हैं।

साम्प्रदायिक चिह्न

उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित प्रत्येक व्यक्तिका धर्म है कि वह ओंकार सहित वेदका अध्ययन करे। इनका गोत्र अच्युत, हंस वर्ण, अचल ध्वजा, निराश मठ और आत्म तीर्थ होता है। ये काषाय वस्त्र, अमृतजल, भोजन, गुदड़ी; अँचला और चोला आदि वस्त्र धारण करते हैं। इनके दो स्वरूप होते हैं—निर्वाण और परमहंस। निर्वाण लोग जटाधारी और अखण्ड विभूतिसे

युक्त होते हैं और सभी उदासीन सेली टोपी पहनते हैं तथा तुंबा, दण्ड, मृगछाला, विभूति, गोला साहब, चिप्पी, कोपीन, मेखला (यज्ञोपवीत) के साथ धूनी-पानीसे युक्त स्थल देखकर विचरण करते हैं। उदासीन गुरु लोग माला, तिलक, छत्र, रणसिंगा, चँवर आदि ऐश्वर्य-चिह्नोंसे सम्पन्न होते हैं। ये उदासीन गुरु अपने शिष्यको दीक्षा देकर उसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करते हैं और फिर चरणामृत पिलाकर उनकी शिखा काट देते हैं। ये लोग शान्ति-पूर्वक जप, तप और सदाचार से युक्त होकर विद्याध्ययन करते हैं, स्थान या आश्रम बनाकर रहते हैं और दल बाँधकर या अकेले भी धर्मका प्रचार करते हुए घूमते रहते हैं। सेवकगण भी उदासीन महात्माओंका चरणामृत पान करते हैं।

भारतमें प्रायः जितने भी धर्म, मत सम्प्रदाय या सिद्धान्त चले उन सबमें किसी न किसी प्रकारका बाह्य धर्माचार आवश्यक हो गया क्योंकि उस प्रकारके आचरणके बिना व्यवस्थित जीवन, पद्धति, साधना और सदाचारके लिये प्रेरणा देनेवाला कोई सूत्र नहीं रह जाता। अतः किसी भी धर्म जाति एवं समाजको व्यवस्थित रखनेके लिए तन्मूलक मर्यादाओं तथा नियमोंका होना आवश्यक हो जाता है। सभी सम्प्रदाय इन्हीं धर्म मूलक भावनाओंके निमित्तसे ही कुछ आधार मानकर अपने-अपने समुदायोंपर विश्वास किए हुए हैं। संसारके जैन-बौद्ध पारसी, ईसाई एवं सिक्ख आदि धर्मोंके मूलमें कुछ निश्चित तत्त्व अवश्य निहित हैं। जबतक किसी आश्रम या धार्मिक सम्प्रदायमें नियमित रूपसे धार्मिक मर्मकांडकी व्यवस्था नहीं होती तब तक न तो किसी आश्रमकी मर्यादा ठीक प्रकार चल सकती और न किसी सम्प्रदायका स्वरूप ही व्यवस्थित हो पाता। भक्तजन तथा सद्गृहस्थोंको प्रेरणा देनेके लिए भी किसी न किसी प्रकारके बाह्याचारकी आवश्यकता होती ही है। इसी लिये उदासीन सम्प्रदायको व्यवस्थित रूपसे चलानेके लिये कुछ

चिह्न और बाह्याचार मान्यकर लिए गए जिनका प्रयोग उस सम्प्रदायके साधु-महात्मा निरन्तर करते हैं। जिस प्रकार वैष्णव भगवान्के शंख चक्रादि चिह्न धारण करते हैं, भगवानके नामसे सम्बन्धित हरिदास आदि नाम रखते हैं, भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए उसके समान लीलाओंका आचरण करते हैं, उसी प्रकार उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित महात्मा भी भगवान श्रीचन्द्र एवं स्वकीय वैदिक परम्परा मूलक चिह्नोंको धारण करते हैं।

एकादश प्रकरण



इस युगके विद्वद्वर्य उदासीन सन्त

उदासीन साधु-परम्परामें तपस्या और परमार्थ-साधनाके साथ साथ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और स्पृहणीय प्रवृत्ति विद्यार्जनकी रही है। उस परम्पराको प्रौढ तथा शक्तिशाली बनानेके लिये सुदूरदर्शी उदासीन आचार्योंने स्थान-स्थानपर ऐसे सर्व-साधन-सम्पन्न गुरुकुल और विद्याकेन्द्र स्थापित कर दिए थे जहाँ निश्चिन्त अध्ययनके लिये सुविधाएँ उपलब्ध थीं और जहाँ वेद, दर्शन आयुर्वेद आदि भारतीय विद्याओंके प्रकांड पंडितोंका पुंज निर्बाध होकर विद्यादान करता रहता था। उदासीन सम्प्रदायमें अनेक विद्वद्वरेण्य पंडितोंके सर्जनका श्रेय ऐसे ही विद्या-केन्द्रोंको है जहाँ देश-विश्रुत तथा विद्वन्मान्य आचार्योंके अन्तेवासी होकर अध्ययन करनेवाले अनेक महानुभावोंने अगणित विद्याओंमें पारङ्गत होकर जहाँ उदासीन सम्प्रदायको कीर्त्ति प्रदान की वहाँ उन्होंने भारतकी संस्कृत विद्याकी समृद्धिमें योगदान देकर संस्कृत-शिक्षाकी पुनीत परिपाटी चलाए रखनेमें अत्यन्त श्लाघनीय प्रयत्न किया है। ऐसे ही कुछ विद्याकेन्द्रों और वहाँके विद्वान् महात्माओंका गुण-कीर्त्तन यहाँ किया जा रहा है।

गुरु-मण्डलाश्रमके सन्त

मायापुरी (हरिद्वार) की गणना भारतवर्षकी सात प्राचीन पुरियोंमें ससम्मान की गई है—

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः मोक्षदायिकाः॥

[अयोध्या, मथुरा, मायापुरी (हरिद्वार), काशी, कांची (दक्षिण काशी), अवन्तिका (उज्जायनी), पुरी, द्वारावती (द्वारका), ये सात पुरियाँ मोक्ष देनेवाली हैं।]

इन्हींमेंसे पुण्यतोया भागीरथीके तटपर बसी हुई मायापुरी (हरद्वार) में श्री आत्मस्वरूपजी उदासीनने सन् १६०६ में भूमि लेकर वैशाख शुक्ला १३, सोमवार संवत् १६६६ को बैशाखीके पुण्य पर्वपर गुरु-मण्डलाश्रमकी स्थापना की जिसके पाँच उद्देश्य थे—

१—श्रौत-स्मार्त-पद्धतिके द्वरा सनातनधर्म एवं हिन्दू संस्कृतिका प्रचार तथा प्रसार करना।

२—गोरक्षा तथा दरिद्र नारायणकी सेवा करना।

३—स्वदेशकी सेवा करना।

४—साधनाशील तथा स्वाध्याय-निरत संत-महात्माओंके अशन-वसनकी व्यवस्था करना।

५—पुस्तकालय तथा वाचनालयके द्वारा जन-जागर्ति और साहित्यका प्रचार करना।

इस आश्रमके पुस्तकालयमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखा हुआ हरिवंश-पुराण—अत्यन्त दुर्लभ ग्रन्थ है, जिसके एक-एक श्लोकके साथ एक-एक सुनहला तैल चित्र भी है।

श्री आत्मस्वरूपजी

गुरुमण्डलाश्रमके संस्थापक स्वामी आत्मस्वरूपजीका जन्म बिहारके गया जिलेमें रजौली ग्रामके कुलीन श्रोत्रिय ब्राह्मण परिवारमें हुआ था। १५ वर्षकी अवस्थामें आकस्मिक घटनाके कारण उन्हें घरसे बड़ी विरक्ति हो गई और वे बोधिगयाके महन्त श्री ब्रह्मबूटाजीके उपदेशोंसे प्रभावित होकर श्रौत उदासीन चतुर्थाश्रममें दीक्षित हो गए। उन्हींकी प्रेरणासे वे संस्कृतका अध्ययन करनेके लिये काशी पधारे जहाँ श्री बालरामजीके अन्तेवासी बनकर उन्होंने अध्ययन किया और उनकी मण्डलीके

साथ भारतका भ्रमण भी किया। वे बड़े दिग्गज पण्डित थे। उन्होंने भावनगर, देहरादून, वाराणसी, मुलतान तथा सूरतमें सनातन-धर्म विरोधी अनेक व्यक्तियों और समाजोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया था। १६ अगस्त सन् १९११ को उन्होंने देवलोकको प्रस्थान किया।

स्वामी बालरामजी

स्वामी बालरामजीका जन्म फरीदकोट (पञ्जाब) जिलेके चहल नामक ग्राममें सम्वत् १९१२ में अत्यन्त धार्मिक भागवत परिवारमें हुआ था। इन्होंने स्वामी सत्यप्रकाशजीसे १० वर्षकी अवस्थासे २४ वर्षकी अवस्थातक वेद, शास्त्र, पुराणका अध्ययन किया था और उसके पश्चात् काशीमें अस्सी-गङ्गाके सङ्गमपर शास्त्रोंका मनन तथा अध्यापन-कार्य करते रहे। पूरे १२ वर्ष-तक अध्यापन-कार्य करके वे पाँच वर्ष तक हिमालयमें एकान्त साधना करते रहे। उसके पश्चात् ४० से ५२ वर्षकी अवस्था-तक वे सम्पूर्ण भारतमें भ्रमण करते रहे। सम्वत् १९६३ में त्रिवेणी-तटपर उन्होंने विदेह कैवल्य प्राप्त किया।

उन्होंने सांख्य-तत्त्व-कौमुदीपर विद्वत्-तोषिणी टीका लिखी। उनका जीवन अत्यन्त निःस्पृह, सरल तथा आडम्बरहीन था। अपनी विद्या और जीवन-पद्धतिके द्वारा उन्होंने जो आदर्श प्रस्तुत किया वह सभीके लिये अनुकरणीय है।

स्वामी रामस्वरूपजी

स्वामी रामस्वरूपजीका जन्म हरियाणा प्रान्तके कुलीन ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। बचपनमें ही इन्हें मातृच्छायासे वंचित होना पड़ा। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने पटियाला जिलेके अन्तर्गत छाजली नामक ग्राममें तत्कालीन प्रसिद्ध संत और विद्वान स्वामी शान्तानन्दजीसे विद्या ग्रहण की और सन् १९२७ में लाहौरके शीतला मन्दिरमें विद्याध्ययनके लिये चले गए। वहाँ ३ वर्ष तक वे संस्कृत परीक्षाओंके लिये अध्ययन करते रहे। सन् १९३१ की जनवरीमें इन्होंने गुरुमण्डलाश्रमके संस्थापक

स्वामी आत्मस्वरूपजीसे उदासीन संप्रदायकी दीक्षा ग्रहण की और तबसे आजतक पीठाधीशके रूपमें इस आश्रमकी उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं। गुरु मण्डलाश्रमके अन्तर्गत संस्कृत महाविद्यालय भी चल रहा है जिसमें वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयकी विभिन्न परीक्षाओंके लिये छात्रोंको निःशुल्क तथा निश्चिन्त शिक्षा दी जाती है।

मुनिमण्डलके सन्त आचार्य

हरिद्वारमें ही एक अन्य प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र मुनिमण्डलके नामसे प्रसिद्ध है जिसकी स्थापना स्वामी केशवानन्दजीने की थी।

स्वामी केशवानन्द

स्वामी केशवानन्दजीका जन्म कश्मीरमें हरिपुर (हजारा) नामक नगरके धनी विद्याप्रेमी और शूर क्षत्रिय परिवारमें श्री जयरामजीकी धर्मपत्नी श्रीमती निहालदेवीकी कोखसे हुआ था। इनका जन्मका नाम विष्णुदत्त था। बचपनसे ही ये बड़े सुशील, शान्त, सदाचारीऔर मृदुभाषी थे। एक दिन इन्होंने अपनी माताजीसे कल्याणका रहस्य पूछा माताजीने इनको संक्षेपमें बता दिया कि यह सारा संसर दुःख-रूप है। ब्रह्म-ज्ञानसे ही सुख और शांति मिलती है। तेरह वर्षकी अवस्थासे ही ये घरबार छोड़कर ब्रह्मनिष्ठ स्वामी गीरदेवजीकी शरणमें चले गए



स्वामी केशवानन्दजी

यद्यपि उन्होंने बहुत समझाया कि तुम्हें विवाह करके गृहस्थ आश्रम चलाना चाहिए किन्तु उनका तीव्र वैराग्य देखकर उन्हें गुरुमन्त्र देकर उनका नाम स्वामी केशवानन्द रख दिया और स्वयं भी उन्हें व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ाए तथा काशीमें ले जाकर पंडित वैद्यनाथ दीक्षित, पंडित हरिनाथ शास्त्री (स्वामी मनीषानन्द शास्त्री) तथा स्वामी राममिश्र शास्त्रीसे अनेक शास्त्रोंका अध्ययन कराया। एक बार काशीमें अमेठीके राजा लाल माधवसिंहने दुर्गा मन्दिरके पास एक सभा की। उस सभामें केशवानन्दजीने अपनी विद्या और वाक्कौशलका जो अद्भुत परिचय दिया उसने सबपर उनकी धाक जमा दी।

सम्वत् १९४० में अपने गुरु स्वामी गौरदेवजीकी आज्ञाके अनुसार अपनी सन्त-मण्डली (मनोहर-मण्डली) के साथ तथा अपने गुरुभाई स्वामी रामप्रकाशजीके साथ बाईस वर्षकी अवस्थामें वे तीर्थयात्राके लिये निकल गए। वहाँसे अयोध्या होते हुए स्वामी माधोरामजीके दर्शन करनेके लिये वे रानोपाली चले गए। वहाँसे देहरादून, मथुरा, वृन्दावन, रतलाम, उज्जैन, नासिक, त्र्यम्बकेश्वर पहुँच गए। वहीं गोदावरी तीर्थपर उन्होंने एक ब्रह्मचारीको अपना शिष्य बना लिया और उनका नाम प्रकाशानन्द रख दिया। प्रकाशानन्दजीके अनेक शिष्य हुए और उन शिष्योंके भी अनेक शिष्य हुए जिनमें सुरेश्वरानन्दजीने बड़ी ख्याति प्राप्त की। वहाँसे पूना, तिरुपति बालाजी, रामेश्वर, पंढरपुर, बम्बई, कलकत्ता, जगन्नाथपुरी, बाँकीपुर, पटना, तीर्थराज प्रयाग, हृषीकेश, अमृतसर, श्रीनगर (कश्मीर), अमरनाथ, जम्मू, नाभा, नगर-ठट्ठमें गुरु श्री श्रीचन्द्रजीकी गुफा, द्वारकापुरी, हैदराबाद सिन्ध, ज्वालामुखी, कनखल आदि स्थानोंमें होते हुए उन्होंने विचार किया कि संस्कृत विद्या तथा वेद-शास्त्र आदिका प्रचार करनेके लिये महाविद्यालय खोला जाय। तदनुसार उन्होंने कनखलमें मुनिमण्डल महाविद्यालय नामक संस्थाकी स्थापना की जिसके लिये नेपालके राणा ज्ञान जङ्ग बहादुर और हैदराबाद सिन्धके सेठ

परमानन्दजीने पर्याप्त आर्थिक सहायता दी। इस महाविद्यालयसे जिन अनेक प्रसिद्ध विद्वानोंने विद्या प्राप्त करके धर्म और विद्याका प्रचार किया उनमें स्वामी नारायण मुनिजी, स्वामी शान्तानन्दजी आदि अनेक विद्वान् उल्लेखनीय हैं। तीन वर्षतक स्वामीजीने कनखलसे वाहर गंगाजीके तटपर पार्वत्य प्रदेशमें योगाभ्यास किया। विक्रम सम्वत् १९८३ फाल्गुन शुक्ला ७, गुरुवारकी रात्रिमें स्वामी केशवानन्दजी ब्रह्मलीन हो गए, किन्तु अपने पीछे तपस्वी तथा विद्वान् साधुओंकी अत्यन्त वरेण्य परम्परा छोड़ गए।

स्वामी सुरेश्वरानन्दजी

जैसा कि ऊपर वर्णित है, मुनि-मण्डलके विद्वान् महात्माओंकी बड़ी विशिष्ट परम्परा रही है, जिनमें स्वामी नारायण मुनिजी तथा शान्तानन्दजीके अतिरिक्त स्वामी हरदेवानन्दजी (पंजाब) पूर्णानन्दजी (गुजराँवाला), जानकीदासजी (नडियाद), प्रियानन्दजी या ज्योतिर्मयानन्दजी (वम्बई), स्वरूपानन्दजी (कनखल), विश्वेश्वरानन्दजी (अवधूत-मण्डल कनखल), सम्पादक पंडित रामस्वरूपजी, ब्रह्मानन्दजी, रामप्रकाशजी अर्जुन मुनिजी आदि अनेक विद्वान् अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता, लोकसेवा और तपस्यासे जनताके आदर-पात्र वन चुके हैं। इन्हींमें स्वामी सुरेश्वरानन्दजी प्रमुख रूपसे उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अपनी अभूतपूर्व विद्या,



स्वामी सुरेश्वरानन्दजी

सद्वृत्ति, पाण्डित्य, सज्जनता, लोक-संग्रह-वृत्ति और तपोमय जीवनसे उदासीन साधु-समाजको कीर्त्ति और गौरव प्रदान किया है। ये स्वामी प्रकाशानन्दजीके शिष्य थे।

स्वामी रामस्वरूपजी 'सम्पादक'

उदासीन सम्प्रदायमें 'सम्पादक' नामसे प्रसिद्ध स्वामी रामस्वरूपजीका जन्म ज़िला लुधियानाके 'लताला' नामक ग्राममें १ जून १८८३ ईसवीको हुआ। प्रारम्भमें आपको तत्कालीन परम्पराके अनुसार प्राचीन ढंग-पर उर्दू तथा फ़ारसी-की शिक्षा प्राप्त हुई। छोटी अवस्थामें ही आपने अपने गाँवके ही उदासीन महात्मा स्वामी दयारामजी महाराजसे उदासीन-सम्प्रदायकी दीक्षा ग्रहण की। प्रारम्भमें हिन्दी तथा संस्कृतका अध्ययन ये अपने गुरुदेवसे ही करते रहे। तदनन्तर आपने पटना तथा काशीमें रहकर संस्कृतकी उच्च शिक्षा प्राप्त की। भोजन तथा निवास आदि-की उचित व्यवस्था न होनेपर भी आपने परिस्थितियोंका साहस-पूर्वक सामना करते हुए अध्ययन चलाए रक्खा। काशीमें आपने साहित्य तथा व्याकरणका विशेष अध्ययन किया। इन दोनों विषयोंमें वे उच्च कोटिके पारंगत विद्वान् समझे जाते थे। संस्कृतके



(स्वामी रामस्वरूपजी)

शब्दोंकी व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति करनेमें आपकी विशेष कुशलता थी। इस विषयमें सम्प्रदायमें आपकी विद्वत्ताकी विशेष धाक थी। आप कविताके भी विशेष मर्मज्ञ थे।

आपने अकेले ही सम्पूर्ण भारतवर्षकी पद-यात्रा कर डाली और यात्राके अनन्तर आप तन-मन-धनसे सम्प्रदायकी सेवामें लग गए।

सन् १९११ में पंजाबमें ननकाना साहबका प्रसिद्ध ऐतिहासिक काण्ड हुआ। इसके साथ ही उदासीनों तथा सिक्खोंमें सम्पत्तिके अधिकारके विषयमें विवाद प्रारम्भ हुआ। परम्परासे चली आती हुई उदासीन मठोंकी सम्पत्तिपर सिक्खोंने अपने अधिकारका दावा किया। यह विवाद लगभग तेरह वर्षोंतक चलता रहा। इसे निपटानेके लिये लाहौरमें एक स्पेशल ट्रिब्यूनल बैठा था। इसमें एक अँगरेज, एक हिन्दू तथा एक सिक्ख जज था। (निर्णयके लिये देखिए परिशिष्ट १२)

ये बारह-तेरह वर्ष उदासीन सम्प्रदायपर छाई हुई आपत्तियों-की काली घटाएँ थीं। ऐसे भयङ्कर आपत्कालमें आपने (स्वामी रामस्वरूपजी महाराजने) उदासीन सम्प्रदायकी प्रशंसनींय सेवा की। इन्होंने सिक्खोंके गढ़ अमृतसरसे ही 'सन्त-समाचार' नामक पंजाबी भाषामें साप्ताहिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। श्री साधुवेला तीर्थ, सक्खर, सिन्धके तत्कालीन महन्त स्वामी हरिनामदासजी तथा गुरु रामराय दरबार, देहरादूनके महन्त स्वामी लक्ष्मणदासजीने आपको पूर्ण आर्थिक एवं अन्य सभी प्रकारका सहयोग प्रदान किया। आपने लगातार तेरह वर्ष-तक पत्रका सम्पादन किया। आपको सिक्खोंकी ओरसे बहुतसे धमकियोंसे भरे पत्र मिलते रहते थे परन्तु आप अपने लक्ष्यपर दृढ, अटल तथा अडिग रहे। ये बारह-तेरह वर्ष आपके साहस तथा धैर्यकी परीक्षाके थे। अन्तमें उदासीन सम्प्रदायकी विजय हुई और न्यायालयने यह घोषित कर दिया कि उदासीन शुद्ध हिन्दू हैं, उनकी सम्पत्तिपर सिक्खोंका कोई अधिकार नहीं है।

सम्प्रदायका यह सेवा-कार्य आपने निःस्वार्थ भावसे किया था। इस सेवाके लिये सम्प्रदाय आपका सदाके लिये ऋणी रहेगा। तभीसे आप 'सम्पादक' नामसे प्रसिद्ध हो गए।

इसके पश्चात् आप अपने लतालाके आश्रममें ही आकर विद्यार्थियोंको अध्ययन कराते रहे। तदनन्तर आप कनखल (हरिद्वार) में उदासीन पंचायती बड़े अखाड़ेके प्रबन्धमें चलनेवाले 'उदासीन संस्कृत विद्यालय' में प्रधानाध्यापकके पदपर प्रतिष्ठित होकर अध्यापन करने लगे। आजकल सम्प्रदायके प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी ओंकारानन्दजी महाराज तथा आशुकवि स्वामी विद्यानन्दजी महाराज उस समयके श्रीस्वामीजीके प्रिय शिष्योंमेंसे हैं।

वहाँ वे तीन वर्ष-तक ही अध्यापन कर पाए थे कि सन् १९३८ में आपके बड़े गुरु-भ्राता वैद्यराज पण्डित विष्णुदासजी ब्रह्मलीन हो गए, जो लताला आश्रमका कार्यभार सँभाल रहे थे। अतः, इच्छा न होनेपर भी लतालामें रहकर आश्रमका कार्यभार आपको सँभालना ही पड़ा और वहाँ भी वे अध्यापन-कार्य करते रहे और बहुतसे साधु तथा गृहस्थोंको विशेष रूपसे व्याकरण, आयुर्वेद तथा साहित्य पढ़ाते रहे।

इसी बीच आपने श्री श्रीचन्द्राचार्यजीके 'मात्राशास्त्र' पर संस्कृतमें 'भाव-प्रसादिनी' नामक श्लोक-बद्ध टीका लिखी जिसपर स्वामी योगीन्द्रानन्दजीने 'श्रुति-संवादिनी' व्याख्या लिखी थी।

अन्तिम अवस्थामें स्वामीजीके शरीरपर कम्पवातने आक्रमण कर दिया था। शरीर स्वस्थ न होनेपर भी आप हरिद्वारके सन् १९५० के कुम्भपर पधारे और मुनिमण्डल, कनखलके महन्त सुरेश्वरानन्दजीकी प्रार्थनापर मुनिमण्डलमें ही डेढ़ वर्ष रहे। अन्तमें श्री साधुबेला आश्रमके महन्त स्वामी गणेशदासजीके विशेष आग्रहपर आप काशीके श्री साधुबेला आश्रममें आठ वर्षतक कम्पवातसे जूझते हुए १२ दिसम्बर १९५८ को श्री साधुबेला आश्रम, काशीमें ही

अपनी ऐहिक लीला समाप्त करके ब्रह्मलीन हो गए। स्वामी ओंकारानन्दजी (बम्बई), स्वामी विद्यानन्द (डाकौर), स्वामी निगमानन्दजी (पटियाला), महन्त रामप्रतापदासजी (शाहपुर, बिहार), महन्त सहजानन्दजी (जगदीशपुर, बिहार), स्वामी वासुदेवानन्दजी (पुष्कर), स्वामी अमरमुनिजी (देहरादून), स्वामी किशोरदासजी (काशी) उन्हींके प्रिय छात्रोंमेंसे हैं।

उन्होंने अपने एक मात्र शिष्य स्वामी शङ्करानन्दको अपना उत्तराधिकारी बनानेके लिये उन्हें परिश्रम-पूर्वक पढ़ाया और अपने जीवनकालमें ही लताला आश्रमका महन्त नियुक्त किया।

स्वामीजीका जीवन सदाचारी, संयमी तथा नियमित था। वे सदा सादा वस्त्र पहनते तथा सादा भोजन करते। अपने विद्यार्थियोंके प्रति उनका विशेष स्नेह और सम्प्रदायके प्रति विशेष अनुराग था। वे बहुत मितभाषी थे, साधुओंको खिला-पिलाकर बहुत प्रसन्न होते थे। वे खण्डन-मण्डनमें कभी नहीं पड़ते थे। स्वामीजी तपस्वी, त्यागी तथा उदारात्मा थे और सम्प्रदायकी विशेष विभूति थे।

'बड़े वीरोके' ग्रामका विद्यापीठ

पचास वर्ष पूर्व पंजाबके लगभग सभी गाँवोंमें उदासीन संतोंके छोटे-बड़े डेरे (मठ या आश्रम) होते थे जिनमें रहनेवाले संत-महात्मा गाँवके बालकोंको प्रारंभिक शिक्षा देते थे, जड़ी-बूटियोंसे चिकित्सा करते थे, अपने चरित्र-बलसे लोगोंके विश्वास-पात्र बनकर उनके पारस्परिक झगड़े मिटाते थे तथा भिक्षा-वृत्तिसे योगक्षेम चलाते थे। इनमेंसे थोड़ा-बहुत तो सभी सन्त पढ़े होते थे किन्तु कुछ ऐसे दिग्गज विद्वान् भी थे जिन्हें विद्याका महासागर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। उनके पास दूर-दूरसे अनेक सन्त और जिज्ञासु आकर विद्या ग्रहण करते थे। ऐसे महापुरुषोंका केन्द्र अब जिला भटिण्डेके बुडलाढ़ा स्टेशनसे पाँच कोसकी दूरपर 'बड़े वीरोके' नामक ग्राम है।

स्वामी चिद्घनानन्दजी

इस गाँवके ठीक मध्यमें विशाल डेरा (आश्रम) है जिसे अंदरली हवेली भी कहते हैं। इसके दूसरे खंडपर पूर्वकी ओर व्यासपीठ बना हुआ है, जिसपर बैठकर विद्यापीठके आचार्य दूर-दूरसे आए हुए संत-महात्माओंको विद्यादान भी किया करते थे और भोजन-वस्त्रकी भी व्यवस्था करते थे। इसी भवनके भीतर विशाल खरास है जिसमें बैल जोतकर गेहूँ पीसा जाता है। इसमें किसी भी स्त्रीका प्रवेश निषिद्ध है। वहाँ रहनेवाले कुछ ऐसे भी विरक्त संत थे जो एक स्थानपर बैठकर भोजन करनेके बदले आस-पासके गाँवोंसे मधुकरी ले आते थे। उनके निवासके लिये गाँवके बाहर विशाल उद्यानमें सराय नामक स्थान बना हुआ था। इस विद्यापीठकी स्थापना स्वामी परमानन्दजीने की थी, जिनके परम योग्य शिष्य स्वामी चिद्घनानन्दजी रायपुर चले गए थे, जहाँ उन्होंने अपना अध्ययन-अध्यापनका क्रम चलाए रक्खा। बुडलाढ़ा मंडीके पास चाक ग्रामके स्वामी सरदार चतुरसिंहने रायपुरमें ही शिक्षा पाई थी। यह रायपुर (माखा) गाँव मानसा मंडी स्टेशनसे ८ कोस दक्षिण जिला भटिण्डामें पड़ता है। वहांके विद्यापीठका नाम बड़ा डेरा है। उसके आचार्य स्वामी चिद्घनानन्दजी संवत् १९६८ विक्रमीमें ब्रह्मलीन हुए और १९७० में वहीं उनकी समाधि बनाई गई।

बड़े डेरेके सन्त

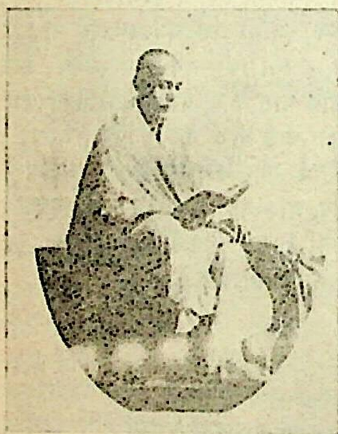
इस बड़े डेरेके वर्तमान महन्त स्वामी भास्करानन्दजी दर्शनके सुविख्यात पंडित हैं। इनके गुरु भाई स्वामी रामस्वरूपजी भी संतोंको वेदान्तका स्वाध्याय कराते हैं। वेदान्त-वारिधि स्वामी सच्चिदानन्दजी तथा स्वामी साधुरामजी (प्रज्ञाचक्षु) भी इन्हींके गुरु-भाई हैं।

आजकल बड़े-बड़े विश्वविद्यालयोंके सम्बन्धमें तो यह अवश्य कहा जाता है कि वहाँसे अमुक-अमुक विश्वविश्रुत विद्वान् और

मनीषी विद्या-पारङ्गत होकर निकले और ऐसे सब विश्वविद्यालय प्रायः बड़े-बड़े नगरोंमें ही सम्प्रतिष्ठित हैं जिन्हें राजकीय आश्रय समायता और मान्यता भी प्राप्त है और जिन्हें धनी लोग भी निरन्तर आपकी उदारतासे समृद्ध करते रहते हैं। किन्तु यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि 'बड़े बीरोके' जैसे अप्रसिद्ध ग्रामने भारतके अत्यन्त मेधावी, कृतविद्य तथा विचक्षण विद्वान् उत्पन्न करनेका गौरव प्राप्त किया हो।

स्वामी अद्वैतानन्दजी

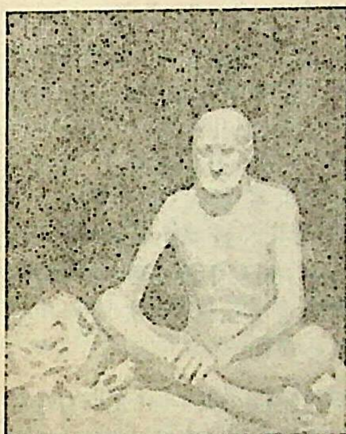
'बड़े बीरोके' ग्राममें प्रतिष्ठित विद्यापीठके दूसरे प्रसिद्ध आचार्य स्वामी अद्वैतानन्दजी थे, जिन्होंने स्वामी सदानन्दजीसे शिक्षा प्राप्त की थी। स्वामी अद्वैतानन्दजीका जन्म संगरूर जिलेमें दिड़वा ग्रामके कुलीन क्षत्रिय परिवारमें हुआ था। विद्याध्ययन करनेके पश्चात् आपने ही सर्वप्रथम गुजरातमें घूम-घूमकर धर्मका उपदेश दिया, अनेक सन्त - महात्माओंको विद्यादान किया और 'बड़े बीरोके' ग्रामके विद्यापीठमें आचार्य बनकर शिक्षा देते रहे। इनके प्रसिद्ध शिष्योंमें स्वामी घनानन्दजी, महन्त अखण्डानन्द आश्रम (वेद-मन्दिर, अहमदाबाद) तथा मुनिमण्डल, कनखलके स्वामी ब्रह्मानन्दजी प्रसिद्ध हैं।



स्वामी अद्वैतानन्दजी

ऋषभदेवजी

श्री अद्वैतानन्दजीके प्रसिद्ध शिष्योंमें स्वामी ऋषभदेवजीका नाम उल्लेखनीय है। वे केवल अनेक शास्त्रोंके विद्वान ही नहीं वरन् अत्यन्त तपस्वी महात्मा और त्याग-मूर्ति हैं। आप पैदल चलकर प्रत्येक कुम्भपर पहुँचते हैं। पैसोंका कभी आपने स्पर्श नहीं किया। सौ-से ऊपर अवस्था होनेपर भी आप किसी सवारी-पर नहीं बैठे और अभी-तक अपने व्रतका पालन कर रहे हैं। वे नगरसे दूर सदा एकान्तमें निवास करते हैं। उनके साथ साधुओंका समूह रहता है और न जाने कितने साधु, सन्त और छात्र उनसे विद्या पा-पाकर विद्वान् बन चुके हैं। वेदान्तके प्रसिद्ध ग्रन्थ-लेखक स्वामी मंगलहरिजीने इन्हींसे विद्या ग्रहण की थी। ये भी बड़े वीरोंके ग्रामके विद्यापीठके स्नातक हैं।



(स्वामी ऋषभदेवजी)

स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी

स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजीका जन्म पटियाला जिलेमें कालेके नामक ग्रामके जाट-परिवारमें हुआ था। इनका जन्म नाम चन्द्रसिंह और पिताका नाम रामसिंह था। चार-पांच वर्षकी अवस्थामें चेचकके कारण इनकी आँखें जाती रही थीं। इनकी सौतेली माँ बस्सो इन्हें इतना कष्ट देती थी कि इनसे चक्की-तक पिसवाया करती थी। इससे ऊबकर ये घर छोड़कर चल

दिए। आँख न होनेपर भी पं० आशारामजीकी पाठशालामें चन्द्रसिंह पढ़ते रहे। इन्हें विद्याध्ययन करानेका श्रेय हलवाराके पास छोटे राजोआणा (या मालेरकोटलाके पास मल्लू माजरा) के निवासी श्री रामानन्दजीको है। चन्द्रसिंहने कपूरथलासे पंजाबकी शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर ली और अँगरेजी तथा उर्दू पढ़नेके लिये लताला भेज दिए गए किन्तु कुछ कारणवश छाजलीके वड़े संत स्वामी स्वयं प्रकाशानन्दजीने चन्द्रसिंह (गङ्गेश्वरानन्दजी) को छाजली बुलवा लिया। एक वार रामानन्दजीने अमृतसरके अखाड़ा संगलवालेमें निर्वाण अर्जुनदासजी फलाहारी के पास पहुँचकर इनके कुल-शील मेधा-आदिका परिचय देकर वताया कि इस बालकको मैंने भिक्षा करके बड़ी कठिनाईसे विद्या पढ़ाकर पंडित वनाया है। अब आप कृपा करके उसे ब्राह्मण मानकर महन्त सन्तरामजीका सादक (सेवक) शिष्य वनवा दीजिए जिससे इसकी प्रसिद्धि हो सके।

यह सुनकर निर्वाणजीने कहा कि आप जिला होशियारपुरके बड़े नंगलवाले महन्त रूपनारायणजीको बुलवा लाइए, क्योंकि वहीं महन्त सन्तरामजीका जन्मस्थान भी है। फिर हम बातचीत कर लेंगे। तदनुसार महन्त सन्तरामजी, महन्त गोविन्ददासजी, महन्त रूपनारायणजी, संत रामानन्दजी, संत वलवन्त दासजी (अखाड़ा निर्वाणसर) ने मिलकर सर्वसम्मतिसे यह निश्चय किया कि गङ्गेश्वरानन्दजीको सादक (सेवक) शिष्य वना लिया जाय। तदनुसार मन्दिरमें बैठकर महन्त सन्तरामजीने गङ्गेश्वरानन्दजीके मस्तक-पर गोला साहबके भस्मका तिलक लगाया, भोग लगाकर रोट-प्रसाद बाँटा और एक दिन बारह अखाड़ोंको पूछकर जलूस निकाला।

गङ्गेश्वरानन्दजीने अपनी विचक्षण प्रतिभासे विद्या भी ग्रहण की और अपनी वाक्-शक्तिके द्वारा जनतापर प्रभाव भी डाला। अहमदाबादमें आपने प्रसिद्ध वेद-मन्दिर की स्थापना की और

सार्वजनिक लोकसेवा और धर्मसेवाका कार्य भी रुचिपूर्वक किया। वेद-दर्शनाचार्य स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी उदासीन-सम्प्रदायके अत्यन्त प्रसिद्ध तथा लब्धप्रतिष्ठ विद्वद्रत्न हैं।

स्वामी निगमानन्दजी

श्री ऋषभदेवजीके भतीजे और शिष्य राष्ट्रभाषा-पतंजलि स्वामी निगमानन्दजी परमहंसने अपनी विद्वत्ता और लेखनके द्वारा बड़ा यश अर्जित किया। यह बड़ी विचित्र बात है कि स्वामी परमानन्दजी, चिद्घनानन्दजी और निगमानन्दजी केवल इस परम्पराके शिष्य ही नहीं वरन् इन सबका जन्म-स्थान भी 'वीरोके' गाँव ही है। वहाँके सन्तोंको इस बातका बड़ा दुःख है कि विद्यापीठके आचार्य-पदपर निगमानन्दजीको न प्रतिष्ठित करके एक अनधिकारी तथा अपठित साधुको बैठा देनेसे वहाँ केवल अध्ययन-अध्यापनकी परम्परा ही नहीं समाप्त हुई वरन् सन्त-महात्माओंका गढ़ ही समाप्त हो गया।

छाजलीके सन्त

एक बार जब 'बड़े वीरोके' ग्राम-विद्यापीठमें आचार्यका स्वर्गवास हो जानेपर वहाँकी महन्तीका प्रश्न उठा तब स्वर्गीय आचार्यके गुरुभाई स्वामी स्वयंप्रकाशानन्दजीको महन्त बनानेका प्रस्ताव किया गया। किन्तु उन्होंने यह पद स्वीकार नहीं किया और छाजली गाँवमें उन्होंने जाकर अपना डेरा (आश्रम) बना लिया। स्वामी स्वयंप्रकाशानन्दजी छाजली ग्राममें जहाँ रहते हैं उसे अन्दरली बारादरी कहते हैं। स्वामीजीको सभी लोग सन्त या बड़े सन्त कहते हैं।

श्रीठाकुरजी (स्वामी कर्मप्रकाशजी)

छाजली ग्रामसे ढाई कोसकी दूरीपर स्वामी कर्मप्रकाशजी नामक महापुरुष रहते थे। स्वामी कर्मप्रकाशजी कच्ची गुफामें रहते थे और उन्हें लोग ठाकुरजी कहा करते थे। वे इतने विरक्त और त्यागी

थे कि सोना-चाँदी ही नहीं, लोहेतकको भी उन्होंने अपने हाथसे नहीं छुआ। वे एक ऊँचे तख्तपर बैठते थे जिसमें काठके पटरोंके स्थानपर बाँसके डण्डे थोड़ी-थोड़ी दूरपर ठुके हुए थे।

स्वामी शांतानन्दजी

वहींकी बारादरीमें गौर वर्ण, मृदु एवं मितभाषी तेजःपुञ्ज महात्मा स्वामी शान्तानन्दजी रहते थे। वे वर्णसे ब्राह्मण थे और उनका इतना सम्मान था कि हिन्दू और मुसलमान सभी उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते थे। वे साक्षात् संयम और वैराग्यकी मूर्ति थे। वे रामायण और भागवतके अनन्य प्रेमी थे। उनका उच्चारण अत्यन्त शुद्ध और अक्षर ऐसे सुन्दर थे जैसे मोती पिरो दिए गए हों। आजके उदासीन समाजमें प्रतिष्ठा-प्राप्त अनेक विद्वान् और वक्ता उन्हींकी कृपासे यश अर्जित कर रहे हैं।

गाँवके तथा बाहरके अनेक बच्चे उनके पास पढ़ते थे, जिन्हें सायंकाल वे कुश्ती भी लड़ाते थे। इनके अतिरिक्त वहाँ पच्चीस-तीस संत भी रहते थे जिनके योगक्षेमकी सारी व्यवस्था स्वामी स्वयंप्रकाशानन्दजी किया करते थे। वे सवेरे गाँवमें जाते और मखनीका गजा करके ले आते। दोपहरको छात्र भिक्षा माँग लाते और सायंकाल छोटे-बड़े सब संत बारी-बारीसे भोजन पकाते जिनमें आचार्य (स्वामी शांतानन्दजी) भी सम्मिलित रहते थे। स्वामी गंगेश्वरानन्दजीके गुरु स्वामी रामानन्दजी भी बड़े संतोंके अत्यन्त आत्मीय थे। उस समय स्वामी गंगेश्वरानन्दजीने भी कपूरथलेसे पंजाबकी शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की थी और अँगरेजी तथा उर्दू पढ़नेके लिये लताला (जिला लुधियाना) चले गए थे जहाँ पंडित विष्णुदासजी, सम्पादक स्वामी रामस्वरूपजी, पंडित रूड़ारामजी आदि अनेक बड़े योग्य विद्वान् विराजमान थे। कुछ दिनों पश्चात् स्वामी शांतानन्दजी, स्वामी रामानन्दजी तथा स्वामी स्वयंप्रकाशानन्दजी मंडली बनाकर देशभरमें धर्मप्रचार करनेका निश्चय करके चल पड़े और वहाँ स्वामी गंगेश्वरानन्दजीको

मण्डलेश्वर बना दिया गया। श्री गंगेश्वरानन्दजीके वर्त्तमान महत्त्वका संपूर्ण श्रेय स्वामी शांतानन्दजीको ही है।

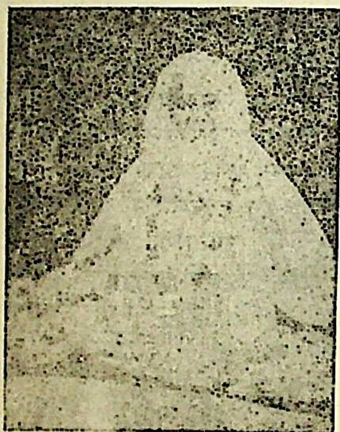
पंडित स्वयम्प्रकाशजी

कनखलमें चेतनदेव अवधूतकी कुटियाके चौबारेमें एक वृद्ध महापुरुष पंडित स्वयम्प्रकाशजी रहते थे, जो जीवन-पर्यन्त साधु-सन्त तथा छात्रोंको विद्यादान करते रहे, कभी किसी नगरमें नहीं गए, अंतिम अवस्थामें उनके अन्तेवासी स्वामी सोमेश्वरानन्द-जी उन्हें एक-दो स्थानोंपर अवश्य ले गए अन्यथा उन्होंने गंगातट और कुटिया नहीं छोड़ी। वे शिखासूत्र धारण करते थे। समयका इतना कड़ाईके साथ पालन करते थे कि ठीक समयपर पढ़ाने बैठते थे और ठीक समयपर ही गंगा-नहरकी पटरीपर लँगड़ाते-लँगड़ाते टहलने निकल जाते थे। सांसारिक मोहमायासे कई हाथ ऊपर उठे हुए थे। सौ वर्षसे ऊपर होते हुए भी वे बालकोंके ही समान भोले-भाले थे। उनके हृदयमें किसी प्रकारका छल-छद्म या कूट-कपट नहीं था। ये भी 'बड़े बीरोंके' ग्रामके विद्यापीठके ही स्नातक थे और साक्षात् विद्या और तपस्याकी मूर्ति थे।

पंडित स्वयंप्रकाशजी असाधारण विद्यावर्चस्वी होनेके साथ अत्यन्त निःस्पृह, निर्लेप, गुणज्ञ, एकान्तप्रिय, उदार, निरभिमानी और सन्त-वृत्तिके सर्वोपकारी महापुरुष थे। उनके जैसे निष्कपट, विनयी, मितभाषी और तपस्वी पुरुष इस युगमें मिलते कहाँ हैं। उन्होंने अपने जीवनमें न तो कभी यशकी इच्छा की और न सार्वजनिक सम्मानकी। जहाँ एक ओर अनेक आत्मश्लाघी पुरुष अपने यशका दुन्दुभि-घोष करनेके लिये अनैतिक और असतुत्य उपायोंका आश्रम लेनेमें भी संकोच नहीं करते वहाँ स्वयंप्रकाशजी जैसे मनीषी उन सब उपाधियोंसे दूर रहनेके लिये सचेष्ट रहे और इसीलिये नगरके वातावरणसे वे कोसों दूर रहते थे कि कहीं वहाँके दूषित कीटाणु मानसिक विक्षोम उत्पन्न करके साधना न भंग कर डालें।

भागी बान्दरवाले सन्त निक्कूराम (गोपालदासजी)

सन्त निक्कूराम (गोपालदासजी) का जन्म राजस्थानके ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। अल्प अवस्थामें ही पितृ-वियोग हो जानेके कारण इनकी विधवा माताने ही इनका पालन-पोषण किया। कुछ दिनों पश्चात् इनकी माता राजस्थान छोड़कर पञ्जाबमें भटिण्डा जिले-के भागीवान्दर नामक ग्राममें आकर बस गईं और पैतृक सम्पत्तिसे गोपालदासजीका पालन पोषण करती रहीं। वहाँ-से दो कोसपर सावोकी तलवण्डी (दमदमा साहब) में उन दिनों स्वामी आत्माराम नामके अत्यन्त तेजस्वी उदासीन महात्मा रहते थे। उन्होंने इस पाँच वर्षके बालकको उसकी मातासे माँग लिया और उसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित कर लिया। तबसे उनका नाम गोपालदास पड़ गया। किन्तु निक्का (बच्चा) होनेके कारण इनको सब निक्कू-निक्कू कहकर पुकारते थे। अतः इनका निक्कू नाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि आगे चलकर ये सन्त निक्कूराम नामसे ही विख्यात हुए। इन्हें हनुमानजीका इष्ट था और ये दिन-रात एक सहस्र मनकोंकी ऊनकी मालापर जप करते रहते थे। सायंकाल केवल ४ से ५ बजेतक बोलते थे, अन्यथा शेष समय भजन करते और मौन रहते थे।



सन्त निक्कूरामजी (गोपालदासजी)

उन्होंने ही सबसे पहले एक आश्रम भागीवान्दर ग्राममें दूसरा मौड़मण्डीमें और तीसरा रामामण्डीमें बनवाया जहाँ अब क्रमशः वीरमदासजी, सतयुगीजी तथा अर्जुनदासजी इन आश्रमोंके महन्त हैं। स्वामी अर्जुनदासजी सन्त निक्कूरामके बड़े शिष्य और अत्यन्त सुयोग्य महात्मा हैं।

स्वामी निक्कूरामजीने कभी जीवनमें धन और प्रशंसाको महत्त्व नहीं दिया और न राजा-महाराजाओंके निमन्त्रणपर उनके यहाँ गए। प्रतिदिन सैकड़ों रुपये और वस्त्र जो चढावेमें आते थे सब दीनों और ब्राह्मणोंको बाँट दिया करते थे। अन्तमें लगभग अस्सी वर्षकी अवस्थामें भागीवान्दरमें ही सन् १९५२ में आपका शरीर शान्त हो गया।

स्वामी कृपा रामजी

डेरा समाधां (खुड्डी कलाँ गाँव) के संस्थापक बाबा कृपारामजी बड़े सिद्ध पुरुष थे, जिनके चमत्कारकी बहुत-सी कथाएँ उधर प्रसिद्ध हैं। इनके चार शिष्य हुए–बिशनदासजी, टहलदासजी, बालकरामजी तथा रामशरणदासजी। इनमेंसे बिशनदासजीने पटियालेमें 'बड़ी-खेड़ी' नामक आश्रमकी स्थापना की, जिसके वर्तमान महन्त आदरामजी हैं।

स्वामी टहलदासजी तथा मानदासजी

कृपारामजीके शिष्य टहलदासजी भी बड़े सिद्ध पुरुष थे। इन्होंने गठियेके अनेक असाध्य रोगियोंको ठीक किया था। इनके शिष्य मानदासजी आयुर्वेदके ऐसे प्रकाण्ड पण्डित थे कि दूरसे आकृति देखकर ही रोगका निदान कर दिया करते थे। वे अधिकतर गुफामें रहकर भजन करते थे और स्त्रीका दर्शन नहीं करते थे। वे इतने बलिष्ठ थे कि भैंसको दोनों हाथोंसे ऊपर उठा लेते थे। साधु-समाजमें आप बड़े सात्त्विक और धार्मिक महात्मा हुए हैं।

स्वामी सन्तरामजी

मानदासजीके पश्चात् बाबा सन्तरामजी खुड्डी कलाँ डेरा समाधाँके महन्त हुए। १२ वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली थी। बचपनमें इन्हें खुद्दो खूँडी खेलनेका बड़ा चाव था। एक दिन जब वे खेलकर लौटे तो एक वयोवृद्ध महात्माने इनसे हँसकर पूछा—'कहो बेटा! खेलमेंसे तुम्हें जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसमेंसे मुझे भी थोड़ा दोगे? सन्तरामजी बड़े लज्जित हुए। महात्माने सन्तरामजीको समझाया कि भाई! साधु इसलिये नहीं बना जाता कि अपने जीवनका दुर्लभ और अमूल्य समय खेल-कूदमें बिता दिया जाय। साधुओंका कार्य तो परमात्म-चिन्तन और समाजकी सेवा करना है।



श्री सन्तरामजी

बस उसी दिनसे उनके जीवनकी धारा लोकसेवा और आध्यात्मिकताकी ओर मुड़ गई। तत्पश्चात् २८ वर्षकी अवस्था-तक इन्होंने विद्याका अध्ययन किया और चारों धामकी यात्रा की। इसी प्रसंगमें घूमते हुए आप जब श्री साधुबेला तीर्थ (सक्खर, सिन्ध) में पहुँचे तो महीने भर रहकर प्रतिदिन सहस्रों व्यक्तियोंका भोजन बनाकर उनकी सेवा करते रहे। वहाँसे लौटनेके पश्चात् आप व्यवस्थित रूपसे खुड्डी ग्राममें निवास करने लगे। आप आयुर्वेदके अत्यन्त अनुभवी और प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपने लगभग सात सौ साधुओंको आयुर्वेद पढ़ाया। बरनालेमें

आपकी ही प्रेरणा और सहायतासे विशाल आयुर्वेद कालेजकी स्थापना हुई। किसी साधु या ब्राह्मणको पढ़ता देखकर आप बड़े प्रसन्न होते और सब प्रकारसे उसकी सहायता करते। वेददर्शनाचार्य स्वामी गंगेश्वरानन्दजीको भी आपकी ही प्रेरणाने विद्याध्ययनकी ओर प्रवृत्त किया और स्वामी ओंकारानन्दजी (जिनका नाम पहले ठाकुरदास था) को भी अपने संरक्षणमें रखकर सिद्धान्त-कौमुदी स्वयं उन्होंने ही कंठस्थ कराई। ये दोनों महानुभाव श्री सन्तरामजी महाराजका विशेष आदर करते थे। अन्तमें शुक्रवार, २३ अप्रैल सन् १९६५ को आप खुड्डी ग्राममें ही ब्रह्मलीन हुए।

स्वामी पंचमदासजी

अब उनके शिष्य स्वामी पंचमदासजी डेरा समाधाँ (खुड्डी कलाँ) के महन्त हैं और अपनी परम्पराके अनुसार आयुर्वेदके द्वारा प्रतिदिन सैकड़ों निर्धन रोगियोंकी सेवा करते हैं। आप संस्कृत, हिन्दी, पंजाबी आदि अनेक भाषाओंके ज्ञाता हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि आप सदा प्रसन्न रहते हैं।

डेरा समाधाँ, खुड्डी कलाँके उदासीन महात्माओंने अपने त्याग, तप, और तत्त्वज्ञानसे जो अध्यात्म-साधन किया वह तो किया ही, उन्होंने विशेष रूपसे आयुर्वैदिक चिकित्साके द्वारा जनता-जनार्दनकी जो अविस्मरणीय सेवा की वह अवश्य उल्लेखनीय है। सन्त पुरुषकी जो शाश्वत अभिलाषा और कामना रहती है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

[न मैं राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मुक्ति चाहता हूँ। मैं तो निरन्तर दुःखतप्त प्राणियोंके दुःख दूर करना चाहता हूँ।]

—उसका इस आश्रमने सदा अबतक अनुपालन किया है और यह आशा की जाती है कि आश्रमकी यह वरिष्ठ परम्परा भविष्यमें भी बनी रहेगी।

श्री सुन्दरदासजी

महन्त श्री सुन्दरदासजीका जन्म पञ्जावके 'ढुड्डी कपूरेकी' नामक ग्रामके ब्राह्मण-परिवारमें विक्रम संवत् १६१२ में हुआ। दैव-संयोगवश वचपनमें ही ये माता-पिताकी छायासे वंचित हो गए। लगभग १० वर्षकी अवस्थामें इन्होंने वावा चेतनदासजीसे दीक्षा ग्रहण की और अत्यन्त सात्त्विक निष्ठाके साथ उनकी सेवा भी की। जव आपने मकान रामपुरेमें वावा चेतनदासजीका स्वर्गवास हुआ तथा वे समाधिस्थ हुए उस समय ये ही रामपुरा तथा ढुड्डीके महन्त-पदपर प्रतिष्ठित किए गए। इसके पश्चात् जव वावा चेतनदासजीके गुरु-भाई ब्रह्मप्रकाशजी भी ब्रह्मलीन हो गए तव आप राजपुरा आश्रमके भी महन्त वना दिए गए।



श्री सुन्दरदासजी

कुछ दिनों पश्चात् ७०-८० साधु-महात्माओंको साथ लेकर आप भारतवर्षमें धर्म-प्रचार करते रहे। आपने अनेक स्थानोंपर तालाव और कुएँ वनवाए तथा मद्य-मांसके प्रयोगका व्यापक विरोध किया। जनताका आपमें इतना विश्वास था कि ढुड्डी तथा समीपवर्ती ग्रामोंके लोग उन्हींके यहाँ आकर अपने आपसी झगड़े सुलझा लिया करते थे। उनका जीवन पूर्ण तपस्यामय साधु-जीवन था। वे एक समय भोजन करते थे, जूता नहीं पहनते थे और खाटपर नहीं सोते थे। ऐसी अवस्थामें भी आपने भारतवर्ष-भरके

सभी तीर्थोंका भ्रमण किया। माघ शुक्ला ६, सम्वत् २०१३ को उन्होंने अपना पाञ्चभौतिक शरीर छोड़ दिया और उनके सुयोग्य शिष्य श्री कृष्णदासजी ही रामपुरा, राजपुरा तथा ढुड्डीके महन्त बनाए गए।

उदासीन सम्प्रदाय-परम्परामें कार्ष्णिजन

कार्ष्णि वास्तवमें कोई अलग सम्प्रदाय नहीं वरन् श्रीकृष्ण-के उपासक होनेके कारण वे उदासीन सम्प्रदायमें कार्ष्णि कहलाते हैं।

स्वामी ज्ञानदासजी

लखनऊकी सब्ज़ी मण्डीके जिस उदासीन आश्रमका सम्बन्ध उदासीन बड़ा अखाड़ा पूर्व पङ्गतसे है उसी आश्रमकी शिष्य-परम्परामें आजसे लगभग सौ सवा सौ वर्ष पूर्व स्वामी ज्ञानदासजी नामक संस्कृतके बड़े प्रसिद्ध विद्वान् तथा कृष्ण-भक्त महात्मा हो गए हैं। अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए वे यमुनाजीके तटपर भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-भूमि रमणरेतीमें सन् १८८० के लगभग पहुँचे और निरन्तर बारह वर्षतक वहीं भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करते रहे। उन्होंने राधाकृष्णजीकी जो मूर्ति रमण-विहारीके नामसे स्थापित की थी वह आजतक वहाँ विद्यमान है।

स्वामी गोपालदासजी

पञ्जाब सीमान्त-स्थित जिला हरीपुर हज़ाराके अन्तर्गत बगड़ा ग्रामवासी भगवानदास नामक एक क्षत्रिय युवक स्वामी ज्ञानदासजीकी शरणमें पहुँचा। उस युवकके मनमें विरक्तिका भाव देखकर कुछ मास उपरान्त स्वामीजीने उसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके उसका नाम स्वामी गोपालदास रख दिया। स्वामी गोपालदासजीने उनके पास रहकर संस्कृत-व्याकरण तथा दर्शनोंका अध्ययन किया और अनेक भक्ति-परक ग्रन्थोंका निर्माण किया जिनकी प्रशंसा अनेक विद्वान् महापुरुषोंने समय-समय पर की है।

स्वामी ज्ञानदासजीके ब्रह्मलीन होनेके उपरान्त स्वामी गोपालदासजी प्रायः हरिद्वारके अवधूत चेतनदेव आश्रममें निवास किया करते थे और श्रीमद्भागवतका प्रवचन करते थे। उसी समय स्वामी केशवानन्दजी आदि विद्वान् महापुरुष उन्हें कार्ष्णि कहने लगे थे और तभीसे यह शब्द उनके शिष्य-प्रशिष्योंके लिये प्रचलित हो गया।

स्वामी गोपालदासजी अत्यन्त वीतराग महापुरुष थे। ये उदासीन पंचायती बड़े अखाड़ेकी पूर्व पंगतके महात्मा थे। वे बड़े तपस्वी, सिद्ध और परम भागवत थे। उनके अनेक शिष्य हुए जिनमें कार्ष्णि कृष्णदासजी तथा कार्ष्णि हरिनामदासजी प्रमुख हुए हैं।

स्वामी कृष्णदासजी

स्वामी कृष्णदासजीका जन्म पंजाबमें लुधियानेके सारस्वत ब्राह्मण परिवारमें हुआ था। वे संस्कृत और हिन्दीके प्रसिद्ध विद्वान् और परम साधु स्वभावके संत थे। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दीके अनेक ग्रन्थोंकी रचना की थी। संवत् २००३ विक्रमीमें आप थोड़ी आयुमें ही संसारसे चल बसे।

कार्ष्णि स्वामी हरिनामदासजी

कार्ष्णि स्वामी हरिनामदासजी केवल व्रजमंडलके ही नहीं वरन् समग्र भारतके प्रसिद्ध रत्न हैं। आपका जीवन अत्यन्त त्यागपूर्ण, सत्य-भावित, तितिक्षायुक्त, भगवद्भक्ति-निरत तथा परम पवित्र है। आपकी कृपा और उपदेशसे सहस्रों व्यक्ति आध्यात्मिक लाभ उठा रहे हैं। आपका जन्म पंजाबके गुजरात नामक स्थानपर सारस्वत ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। बचपनमें ही इनके हृदयमें इतनी प्रबल विरक्ति उत्पन्न हुई कि ये नौ वर्षकी अवस्थामें ही लखनऊकी सब्जी मंडीके उदासीन आश्रमके महन्त बाबा विचारदासजीकी शरणमें आ गए जिन्होंने इस बालकको उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके इसका नाम हरिनामदास

रख दिया। इन्होंने लखनऊके आश्रममें ही आरंभिक शिक्षा प्राप्त की और स्वामी विचारदासजीके अवसानके पश्चात् ज्येष्ठ शिष्य होनेके कारण उनकी गद्दीके लिये प्रस्तावित किए गए किन्तु आपने उसे अस्वीकार कर दिया और अपने छोटे गुरु-भाई बाबा बलरामदासजीको गद्दीपर बैठाकर ये स्वामी गोपालदासजीके पास मथुरा चले आए। उन्हींसे आपने संस्कृत साहित्य और दर्शनका अध्ययन किया तथा उन्हींके साधक शिष्य हो गए। स्वामी गोपालदासजीके ब्रह्मलीन होनेके पश्चात् आप ही कार्ष्णि उदासीन समाजके प्रमुख माने जाते हैं।

बाबा शारदारामजी

पूनेके उदासीन बाबा शारदाराम आश्रमकी स्थापना श्रावण अधिक मास १९१९ में बाबा शारदारामजी उदासीनने की थी। जहाँ श्रीतीर्थ राम टेकड़ीमें यह उदासीन गढ़ बना हुआ है वहाँ पहले चारों ओर कँटीली झाड़ियोंका जङ्गल था किन्तु शारदारामजीके परम तपोमय जीवन, सात्त्विक निष्ठा और लोक-संग्रही वृत्तिके कारण वह भूमि आज अत्यन्त सुन्दर तीर्थ-स्थलीके रूपमें पल्लवित हो गई है। उस समय यह स्थान वन्य जीव-जन्तुओंका निवास-स्थान था, जहाँ मनुष्यके दर्शन भी महीनों

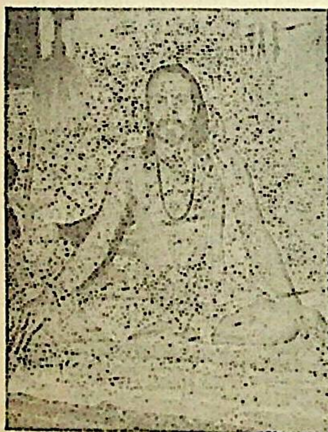


श्री शारदारामजी (राम टेकड़ी)

नहीं होते थे। किन्तु अब वहाँ गोशाला, धर्मशाला, संत-निवास, अतिथि-निवास; शिवमन्दिर तथा अनेक अन्य मन्दिरोंका निर्माण हो गया है। जनता-जनार्दन और सेवक-मंडलके सहयोगसे यह आश्रम निरंतर उन्नति करता रहा है। इस आश्रमकी दूसरी शाखा श्री शारदाराम उदासीन आश्रम, उदासीन पुरी, पंचदेव मन्दिर, कप्तान गंज, आजमगढ़में हैं। आश्रमकी ओरसे अनेक ग्रन्थोंका भी निर्माण हुआ है। इनकी गुरु-परम्परामें मौजीरामजी, शुद्धरामजी, माधवरामजी, संगत बख्श साहबजी, बावा सहज-रामजी, धन्नूरामजी, फतेहचंदजी, हर-मकरंदजी, तुलारामजी, टीकारामजी, भक्त भगवानजी तथा श्री श्रीचन्द्रजी हैं।

बाबा रघुवंशदासजी

बावा रघुवंशदासजी बावा शारदारामजीके शिष्य हैं। आश्रमकी सम्पूर्ण व्यवस्थाकी देख-भाल, अतिथियों तथा अभ्यागतोंका स्वागत, भवन-निर्माणका कार्य, सरकारी कार्यालयों और वैकोंसे संवंध आदि जितना भी व्यवस्थापन-कार्य है सबकी देखरेख वे ही करते हैं। ये बड़े उदार, शांत, विनम्र और सेवा-व्रत-धारी हैं।



श्री रघुवंशदासजी

इनके अतिरिक्त कोठारी बावा महादेव-दासजी, पुजारी बावा नानकशरणदासजी तथा राममूर्तिदासजी भी सब प्रकारसे आश्रमको सुव्यवस्थित रखने और अतिथियोंको प्रसन्न तथा संतुष्ट रखनेमें सहायता देते हैं।

स्वामी रामदयालजी

श्री श्रीचन्द्रजी तथा उनके शिष्य भगत भगवानजीकी प्रतिष्ठित परम्परामें स्वामी रामदयालजी बड़े तपस्वी हो गए हैं। जब उनके गुरु स्वामी गुरुदयालजी ब्रह्मलीन हो गए तब सभी महात्माओंके आग्रहसे अत्यन्त अनिच्छापूर्वक रामदयालजी गद्दीपर आरूढ हुए। कहा जाता है कि उन्हें कुछ ऐसी सिद्धि थी कि उनके मुखसे जो भी वचन निकलता था वह सत्य होता था—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

[जो लौकिक साधु होते हैं वे तो ऐसी बात कहते हैं जो होनेवाली होती है किन्तु आद्य ऋषि तो मुँहसे जो कुछ कह दें वही होकर रहता है।]

वे धनवान या अकिञ्चन सबको समान दृष्टिसे देखते थे और सभी सम्प्रदायोंके साधु-सन्तोंके साथ समान व्यवहार करते थे। आप अपने हाथसे बनाकर एक ही बार भोजन करते थे। किसी अन्यके हाथका बना हुआ भोजन नहीं करते थे। इस नियमके कारण कभी-कभी तो उन्हें दस-दस दिन-तक लङ्घन कर जाना पड़ता था। गौओंसे अत्यधिक स्नेह होनेके कारण आप रात-दिन उनकी सेवा किया करते थे। नियमित जीवन होनेके कारण आपने अपने जीवन-कालमें कभी किसी डाक्टर या वैद्यकी औषधि नहीं ली। ६२ वर्षकी अवस्थामें भगवानका नाम लेते-लेते आपका शरीर शान्त हो गया।

स्वामी रामदयालजी उन इने-गिने सन्त महात्माओंमें से थे जो सब प्रकारका भेद-भाव भुलाकर अत्यन्त आत्मीयताके साथ प्रत्येक व्यक्तिका कल्याण करते रहते हैं। अपने नियमित तथा संयत जीवनके कारण वे स्वयं तो स्वस्थ रहते ही थे, अन्य लोग भी उनका अनुगमन करके स्वस्थ तथा शान्त जीवन बिताते थे।

स्वामी हरिनामदासजी वेदान्ती

उनके उत्तराधिकारी अब स्वामी हरिनामदासजी वेदान्ती हैं। ये भी अपने गुरुजीके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए सभी सम्प्रदायोंके साधु-महात्माओंसे बड़े प्रेमसे समान भावसे मिलते हैं, और सदैव एकान्तवासी होकर ईश्वर-चिन्तनमें ही लगे हुए संसारसे बहुत पराङ्मुख रहते हैं। इनका स्थान पहले आडवानी गली, हैदराबाद (सिन्ध) था, अब श्रीचन्द्र आश्रम, मोती कटरा रोड, जयपुर है। हरिनामदासजीकी गुरु परंपराके क्रममें रामदयालजीसे लेकर गुरुदयालजी, आज्ञारामजी, खुशहालदासजी, रूढारामजी, चटपटदासजी, गरीबदासजी, लाल मुनिजी, तुलारामजी, टीकारामजी, भगत भगवानजी, श्रीचन्द्रजी तथा अविनाशी मुनिजी-तक हैं।



श्री हरिनामदासजी वेदान्ती

स्वामी शिवदयालजी

स्वामी हरिनामदासजीने स्वामी शिवदयालजीसे वेदान्तका अध्ययन किया था। स्वामी शिवदयालजी प्रारम्भमें गवैये थे। १७–१८ वर्षकी अवस्थामें आपकी भेंट सक्खर (सिन्ध) के महान् अवधूत स्वामी परमानन्दजीसे हो गई। उनसे इन्होंने कहा कि हमें वेदान्त-विद्या पढ़ाइए। स्वामी परमानन्दजीने कहा कि गवैये विषयी होते हैं इसलिये तुम्हें न हम अपने पास रहने देंगे और

न वेदान्त-विद्या पढ़ावेंगे। बहुत दुतकारे जानेपर भी स्वामी शिवदयालजीने शरण नहीं छोड़ी और अन्तमें स्वामी परमानन्दजी-ने कृपा करके उन्हें वेदान्त-विद्या पढ़ाई। तदनन्तर स्वामी शिवदयालजी साधु वेष धारण करके विरक्त हो गए। आप एक कौपीन और एक चद्दरके अतिरिक्त अपने पास कुछ भी नहीं रखते थे। आपका शरीर सुन्दर, बाल घुँघराले, दाढ़ी छोटी सी और मुखमण्डल आकर्षक था।

स्वामी सन्तदासजी

महात्मा सन्तदासजी स्वामी हरिनामदासजीके दूसरे वेदान्त-गुरु थे। आप अपने माता-पिताके अकेले ही पुत्र थे। जब आपने साधु बननेकी इच्छा अपनी माताके आगे प्रकट की तब उन्होंने तीन वचन लेकर साधु बननेकी आज्ञा दी—(१) कभी कोई चेला-चाँटी न बनाना; (२) कभी कोई मन्दिर, मठ या स्थान न बनाना; और (३) कभी किसीसे पैसा-पाई न लेना। ये तीन वचन देकर वे साधु हो गए। स्वामी सन्तदासजी पूर्ण त्याग-मूर्ति थे। वे कभी कोई सांसारिक बात नहीं करते थे। सारे दिन पलथी मारे बैठे रह जाते थे और वेदान्त-विद्याके ग्रन्थ ही देखते रहते थे। आप पञ्चमी भूमिकावाले महात्मा थे।

स्वामी प्यारेरामजी

हैदराबाद (सिन्ध) के स्वामी प्यारेरामजी चार धूणेवालोंमेंसे बालहसना मुनिकी पद्धतिसे सम्बद्ध थे। वे बड़े भजनानन्दी महात्मा थे। उनकी सिद्धियोंके चमत्कारकी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनके उत्तराधिकारी स्वामी बस्तीरामजी हुए। वे भी बड़े वाक्-सिद्ध पुरुष थे। आजकल उनकी गद्दीपर स्वामी हरिनामदासजी हैं जो बड़े विद्वान्, नीति-निपुण और प्रभावशाली वक्ता हैं। आज-कल कल्याण (बम्बई) में वे एकान्तवास करते हैं।

निर्वाण स्वामी अलखरामजी

निर्वाण स्वामी अलखरामजी बड़े उच्च कोटिके महात्मा थे। वे गदहेकी पीठकी ओर मुँह करके सवारी किया करते

थे। एक बार पटियालेमें एक ओर राजाकी सवारी भी आ रही थी और दूसरी ओरसे स्वामी अलखरामजीकी मण्डली। मार्ग तङ्ग होनेके कारण कर्मचारियोंने कहा कि राजाकी सवारी आ रही है, आप एक ओर हो जाइए। अलखरामजीने कहा कि हम तो शाहनशाह हैं। इसपर जब बड़ा कोलाहल हुआ और हाथीपर बैठे राजाने कारण पूछा तो उन्हें बताया गया कि स्वामी अलखरामजी आ रहे हैं। राजाने तत्काल हाथीसे उतरकर उनकी अभ्यर्थना की। स्वामीजीके चमत्कारोंकी भी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

स्वामी हरिदासजी

वसन्तपुर (बलिया) के प्रसिद्ध महन्त स्वामी शंकर मुनिके गुरु स्वामी हरिदासजी संगीत-मार्तण्ड हिन्दू महासभाके प्रथम अध्यक्ष और उदासीन निर्वाण-मण्डलके प्रथम सभापति १९५४ ई० में चुने गए थे। उन्होंने अनेक धार्मिक क्षेत्रों और संस्थाओंमें कार्य किया। इन्होंने बक्सरमें कई लाख रुपए लगाकर गोलाघाट तैयार कराया जहाँ घाटपर स्थित शिवालयके बरामदेकी दीवारपर संगमर्मरकी पटियापर हरिदासजीकी कीर्त्ति अंकित है। इसके साथ-साथ शाहाबाद ज़िलेके ब्रह्मपुर ग्राममें उन्होंने उच्चत्तर माध्यमिक विद्यालयकी स्थापना की, मुरादाबाद जिलेमें लाल गोलाघाट स्टेशन बाजारमें ऊपर तीसरे खंडपर नारायण और लक्ष्मीजीका बड़ा मंदिर, बीचके खंडमें संत-निवास और नीचेके खंडमें २० या २५ लाखकी लागतसे धर्मशाला तैयार कराई।

स्वामी शंकरमुनि

आजकल श्री शंकर मुनिजी उदासीन उनके उत्तराधिकारी हैं जो परम्पराके अनुसार अपने कर्त्तव्यका पालन करते जाते हैं। उनका हार्दिक लक्ष्य जनता-जनार्दनकी सेवा करना, दीनोंकी सहायता करना, टूटे-फूटे मंदिरोंको बनवाना, स्कूल और

अस्पतालका निर्माण कराना, कच्ची सड़कोंको पक्की सड़कोंमें परिवर्त्तित करना, कुआँ, तालाब एवं बावली बनवाना तथा सदुपदेशके द्वारा लोकमें जागतिका भाव उत्पन्न करना है। आठ-दस वर्षकी अवस्थामें ही उन्होंने सम्पूर्ण भारतकी यात्रा करके चारों धाम, चौरासी अड्डे एवं चौसठ तीर्थोंका भ्रमण किया। ये उच्च कोटिके संत, राग-द्वेष-रहित और निर्वाण पथके सच्चे पथिक हैं।

स्वामी हरिनामदासजी तंगतोड़ा

निर्वाण हरिनामदासजी तंगतोड़ाने स्वामी सुदर्शनानन्दजीसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित होकर शिष्यत्व ग्रहण किया। यह आश्रम मेड़ता रोडके पास गंगारणि, जिला नागोर (राजस्थान) में है। इनकी गुरु-प्रणालीमें सुदर्शनानन्दजी और सुखरामदासजी पश्चिम पंगतवाले आते हैं। इनकी निर्वाण-पद्धतिका सम्बन्ध उदासीन पंचायती बड़े अखाड़ेसे है। इस स्थानकी स्थापनाका श्रेय घेवरचन्द, रामजीवन तथा अमरचन्द आदिको है। इस आश्रमकी ओरसे भजन-कीर्तन तो होता ही रहता है, इसके अतिरिक्त औषधालय भी चलाया जाता है। इस आश्रमकी ओरसे 'हिन्दू सनातन धर्म उद्देश्य' और 'उदासीन हरि भजन' नामक पुस्तकें भी प्रकाशित की गई हैं।

स्वामी हरिनामदासजी तंगतोड़ा बड़े विनम्र, शान्त-चित्त, सरल और उदार महात्मा हैं। उन्होंने आश्विन शुक्ला ११, संवत् २०१९ को यहाँ धूना लगाया था। आपकी कृपासे ही इस समय चारों ओरके प्रदेशमें धार्मिक भावना, सात्त्विक वृत्ति, परोपकार और सेवाका वातावरण बना हुआ है। आपके आशीर्वाद और उपदेशसे न जाने कितने सद्गृहस्थोंको नवजीवन और शांति प्राप्त होती है।

स्वामी ईश्वरदासजी

सम्वत् १६०० विक्रमीमें महन्त देवादासजी उदासीन जब चारों धामकी तीर्थयात्रा करके सिन्ध लौटे तब उन्होंने कुम्बलीमा, जिला नवाबशाह (सिन्ध) में अपना आश्रम स्थापित किया। महन्त देवदासजी बड़े धर्मनिष्ठ, तपस्वी और लोक-संग्रही थे। उन्होंने यथाशक्ति अपने आश्रमके द्वारा हिन्दू धर्मका बड़ा प्रचार किया। इन्हींकी शिष्य परम्परामें गुरु रत्नदासजी-के शिष्य स्वामी ईश्वर-दासजी उदासीनने अपनी उदात्त लोकसेवा-भावना, उदारता तथा धर्म-प्रचारसे बड़ा यश अर्जित किया।



महन्त ईश्वरदासजी

महन्त स्वामी ईश्वरदासजी उदासीन निहङ्ग महात्मा थे। उनका जन्म सिन्धके जिला नवाबशाहके कुम्वलीमा गाँवमें सम्वत् १६२१ में हुआ था। उनके पिताका नाम भेलूमल और माताका धीरजबाई था। ये दोनों अत्यन्त धार्मिक और ईश्वर-भक्त थे इसलिये बचपनसे ही उन्होंने अपने पुत्रको धार्मिक दीक्षा दी और महन्त रत्नदासजीके यहाँ शिक्षा प्राप्त करने भेज दिया। महन्त रत्नदासजीने अत्यन्त आत्मीयता-पूर्वक ईश्वरदासजीको शिक्षा भी दी और ज्येष्ठ शुक्ला १३, सम्वत् १९५२ को उदासीन सम्प्रदायकी रीतिके अनुसार दीक्षित करके अपना शिष्य भी बना लिया। उस समय ईश्वरदासजीकी अवस्था २१ वर्ष की थी। वे बड़े सुकण्ठ और मधुर गायक थे। उन्होंने नियमित रूपसे भारतीय सङ्गीत-

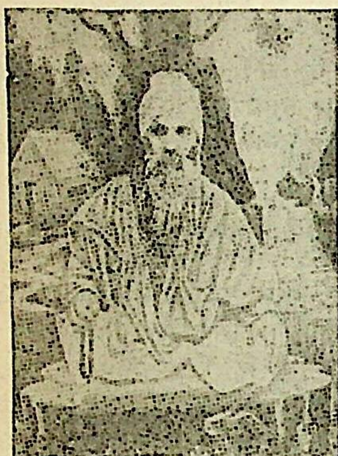
शास्त्रकी समुचित शिक्षा प्राप्त की थी। इस विद्यामें वे इतने निष्णात थे कि शीघ्र ही उन्होंने अपने सङ्गीत-कौशलसे सबको विमुग्ध कर लिया। इतना ही नहीं, वे बड़े शीलवान्, गुण-ग्राहक, शान्त और मधुर स्वभाववाले थे। चैत्र सम्वत् १९५४ में जब स्वामी रत्नदासजी दिवंगत हुए उसके पश्चात् सबने मिलकर स्वामी ईश्वरदासजी उदासीनको ही कुम्बलीमाकी गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया।

स्वामी ईश्वरदासजी एक क्षण भी निरर्थक नहीं नष्ट करते थे। वे दिन-भर कुछ न कुछ लिखते-पढ़ते रहते थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना भी की है। अपनी गान-विद्याके कारण वे इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि जब कभी अमृतसर जाते तो दिन-दिन-भर गाते रह जाते और सब कहने लगते कि सिन्धका गवैया आ गया है। श्री ईश्वरदासजी बड़े उदार और निर्लोभी थे। एक बार बसियामलने आकर उनके आगे रुपयोंकी थैली रख दी तो उन्होंने लौटाते हुए कहा कि हम क्या करेंगे, कभी लोक-कल्याणके लिये आवश्यकता होगी तो आपको सूचित करेंगे। इस घटनाके पश्चात् जब वे अगली बार अमृतसर गए तो उन्हें ज्ञात हुआ कि यहाँ बाहरसे आनेवाले साधु-सन्त और सद्गृहस्थोंको बड़ा कष्ट होता है तो उन्होंने बसियामलको बुलाकर कहा कि अमृतसरमें एक धर्मशाला बनवा दो। तदनुसार अमृतसरमें सिन्धी धर्मशाला बनवा दी गई जो आजकल सब यात्रियोंको सुख-सुविधा देती आ रही है।

स्वामी ईश्वरदासजीका जीवन बड़ा संयत, व्यवस्थित और क्रमबद्ध था। वे जितनी देर जागते उतनी देरतक कुछ न कुछ पूजा-पाठ, अध्ययन, लेखन, भजन-कीर्तन करते ही रहते थे। उनकी सदा यही भावना रहती थी कि मेरे शरीरसे किस प्रकार दूसरोंका कल्याण हो। साधु, महात्मा, सत्पुरुषके आगमनपर तो वे ऐसे प्रसन्न होते थे मानो उन्हें चारों फल प्राप्त हो गए हों।

स्वामी पारदासजी

स्वामी ईश्वरदासजी सचमुच ईश्वरदास और ईश्वर-भक्त थे। सारा जीवन उन्होंने भगवन्नाम - स्मरण-में ही विताया। उनके शिष्य स्वामी पारदास-जी उदासीन भी किसी प्रकार और किसी अंशमें भी अपने गुरुजीसे पीछे नहीं थे। उन्होंने भी अपने गुरुजीके समान ही पवित्र तथा धार्मिक जीवन व्यतीत किया और नवावशाह नगरमें अपना नया आश्रम भी वनवाया।



स्वामी गुरुमुखदासजी

उन्हींके शिष्य वर्तमान महन्त स्वामी गुरुमुखदासजीने अजमेरमें वहुत वड़ा आश्रम वनवाया है, जहाँ भंडारा भी चलाता है और जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्यजीकी जयन्ती भी धूम-धामसे मनाई जाती रहती है। स्वामी गुरुमुखदासजी उदासीनने गुजरातके विसनगर स्थानमें भी अपना एक आश्रम वनवाया है और वे भी स्वामी ईश्वरदासजी उदासीनकी पावन परम्पराका अत्यन्त प्रशंसनीय रूपसे प्रति-पालन कर रहे हैं।



महन्त बनानेका नियम

किसी महन्तके ब्रह्मलीन होनेके पश्चात् ठीक बारहवें दिन गरुड पुराण तथा हरिवंश पुराण आदि ग्रन्थोंका पारायण हो चुकनेके पश्चात् भोग लगाकर भंडारा किया जाता है। उसके पश्चात् भंडारेके समय उपस्थित रहनेवाले श्रीमहन्त, महन्त, ठिकानेदार, अभ्यागत तथा मंडलेश्वर सब मिलकर दिवंगत महात्माके योग्यतम अथवा दिवंगत महन्त-द्वारा नियुक्त शिष्यको तिलक करके उसे चद्दर या अँचला भगवा उढ़ाते हैं। सर्वप्रथम श्रीमहन्त, उसके पीछे क्रमशः महन्त, ठिकानेदार और गृहस्थ सेवक लोग तिलक करते हैं। इसके पश्चात् मर्यादा-पूर्वक सबकी पूजा-बिदाई होती है। यदि इस अवसरपर गुरु उदासीन पंचायती अखाड़ेवालोंको भी बुलाया गया हो तो उनकी पूजा उस अखाड़ेकी मर्यादाके अनुसार भिन्न प्रकारसे होती है और महन्तीका तिलक भी मण्डलके श्रीमहन्तसे पहले अखाड़ेका ही महन्त देता है क्योंकि पञ्च तो साक्षात् परमेश्वर माना जाता और सबसे अधिक पूज्य होता है। यदि दिवंगत महन्तका कोई शिष्य न हो तो सम्प्रदायके महात्मा किसी भी योग्य व्यक्तिको महन्त बना सकते हैं। यदि किसी कारणवश वह महन्त आश्रमकी मर्यादाके अनुसार आचरण न करे तो उदासीन महात्मा उसे गद्दीसे हटाकर किसी अन्य शिष्यको महन्त बना सकते हैं यहाँतक कि उस महन्तके गुरुभाईको भी महन्ती प्राप्त हो सकती है। उदासीन साधु केवल उदासीनोंको ही दान दे सकते हैं, अन्य लोगोंको केवल पोषणके निमित्त अन्न-वस्त्र दे सकते हैं, दान समझकर नहीं। उदासीनोंके निम्नाङ्कित छह कर्म बताए गए हैं—स्वयं ईश्वर-भजन करना तथा अन्य लोगोंसे कराना, स्वयं विद्याध्ययन करना तथा औरोंको कराना, स्वयं सदाचारी होना और औरोंको सदाचारी बनाना।

उदासीन लोग अपने पूर्वजोंकी निधन-तिथिपर उनकी स्मृतिमें उदासीनोंको भोजन कराते हैं किन्तु भण्डारेका प्रसाद सबको

देते हैं। उदासीन साधु-सन्त अपने वर्णके अनुसार यज्ञोपवीत और शिखा रखते हैं किन्तु चतुर्थाश्रमी अवस्थामें कुछ लोग नहीं भी रखते हैं। ये उदासीन साधु तीर्थोंमें वैदिक धर्मशास्त्रोंके अनुसार सङ्कल्प पढ़कर स्नान करते, तर्पण आदि करते, ठाकुरजीकी मूर्तिके साथ बारह-बारह वर्षतक चारों धामकी यात्रा करते और तीर्थोंमें स्नान करते हैं। वे लोग कुम्भपर ठाकुरजी-की मूर्ति (श्री शालिग्राम तथा श्री नर्मदेश्वर), वेदग्रन्थ, गोला साहब, श्रीचन्द्रजीकी मूर्ति आदिके साथ हाथी, पालकी, तामझाम, नालकी, मोटर आदिमें उनकी प्रतिष्ठा करके उनकी सवारी निकालते और तीर्थोंमें उन्हें स्नान कराते हैं।

अंतिम संस्कार

जब कोई उदासीन महन्त या महात्मा निर्वाणोन्मुख होता है तब उनके शिष्य या अन्यसाथी उदासीन महात्मा उनके पास बैठकर गीता, उपनिषद् या मात्रा-शास्त्रका पाठ करते हैं, उनके मुखमें गंगाजल, तुलसीपत्र और श्री श्रीचन्द्रजीके धूनेकी विभूति डालते हैं और पृथ्वीपर कुशा बिछाकर और आसन डालकर उसे पलथी लगवाकर बैठाते हैं और फिर प्राण छूटनेके पश्चात् उस शवको स्नान कराकर नई लँगोटी, कफनी, अँचला, साफा और सेली-टोपी पहनाकर उसके मस्तकपर विभूति लगाकर, पुष्प चढ़ाकर, शंख-घंटे-घड़ियाल बजाते हुए तथा शब्द-कीर्तन करते हुए ले जाकर या तो पत्थर आदि भारी वस्तु बाँधकर उसे जल-समाधि दे देते हैं या श्मशानमें ले जाकर उसका अग्नि-संस्कार करते हैं और तीसरे दिन उसके अवशेष (फूल) चुनकर गंगाजीमें डाल देते हैं। कुछ लोग उसे किसी निर्दिष्ट स्थानमें गाड़कर उसके ऊपर स्मारकके रूपमें थल्ला या मंदिर बनवा देते हैं जिसे समाधि कहते हैं जिसपर उस महात्माके निधनकी तिथि और संवत अंकित कर दिय जाता है। उदासीन महात्माओंको किसी प्रकारका सूतक या पातक नहीं लगता।

कोट फत्ताका आश्रम

उदासीन सम्प्रदायके आश्रमोंमें कोटा फत्ताके आश्रमका भी अपना अलग महत्त्व है।

डेरा कोट फत्ता, ज़िला भटिण्डा, पञ्जाबका सम्बन्ध श्री उदासीन पञ्चायती अखाड़ा बड़ाकी पश्चिम पङ्गतसे है। इनकी गुरु-प्रणालीमें बाबा हंसदासजी, बाबा सुन्दरदासजी, बाबा चरणदास-जी, बसाऊदासजी, बाबा ब्रह्मदासजी, बाबा मुक्तरामजी, बाबा निर्द्वन्द साहब, बाबा नानू साहब, बाबा गुलाबदासजी, बाबा ऊधोरामजी, बाबा शाहजी, बाबा जादोरायजी, बाबा बालहासजी, श्री श्रीचन्द्रजी, अविनाशी मुनिजी तथा सनकादि परब्रह्म-तक आ जाते हैं।

स्वामी बसाऊदासजी

बाबा बसाऊदासजी (खडेसरी) ने डेढ़ पौने दो सौ वरसों पूर्व यह आश्रम स्थापित किया था। स्वामी बसाऊदासजीका जन्म इसी ग्रामके एक सम्भ्रान्त वैश्य परिवारमें हुआ था। थोड़ा बड़े होनेपर इन्होंने घरका कार्य-व्यवहार सँभाला तो यहाँके सरदारोंके साथ ज़मीनका झगड़ा आरम्भ हो गया। इसमें कई वर्ष व्यतीत हो गए। यह झगड़ा तहसील भटिण्डेसे जिला बरनाले होता हुआ पटियाला राज्य-तक पहुँच गया। कुछ तारीखें पड़नेके पश्चात् संयोगवश सनौरी गेटमेंसे होकर निकलते हुए बसाऊदासजी सामने दुग्धाहारीजीके यहाँ पहुँच गए। वहाँ जाकर उन्होंने मुक़दमेके सब काग़ज-पत्र स्वामी दुग्धाहारीजीके चरणोंमें रखकर फाड़ डाले और फिर वे उनके शिष्य हो गए।

कुछ समय वहाँ रहकर उन्होंने कैथलके पास डिग्रोढखेड़ीके जङ्गलमें जाकर तपस्या की और अपना आश्रम बनाया। फिर आपने कुछ समयतक कोट फत्तेमें आकर वहाँ दिनरात खड़े रहनेका सङ्कल्प किया और इस प्रकार दिन-रात खड़े ही रहते रहे। इसीलिये आपका नाम बसाऊदास खडेसरी (खड़े सिर

रहनेवाला) पड़ गया। ऐसी अवस्थामें आप छातीके नीचे सहारा देकर नींद पूरी कर लिया करते थे।

आप खड़े होकर ही भोजन बनाते और खड़े होकर ही अपने हाथोंसे चक्की पीसकर आटा तैयार करके उसी अन्नसे अपने हाथों ही यात्रियोंका भोजन तैयार करते थे। इस प्रकार आपने वहाँ बारह वरस तपस्यामें व्यतीत किए।

उनके ब्रह्मलीन होनेपर उनके श्रद्धालु भक्त आज भी उस आश्रममें मान्यता मानते हैं। वहाँ सुन्दर कुआँ है, जिसका जल पीकर आनेवाले यात्री तथा स्थानीय किसान अपनी आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक पिपासा शान्त किया करते हैं और आपकी समाधिपर आकर सिर झुकाते हैं।

शिष्य-परम्परा

उनके ब्रह्मलीन होनेके उपरान्त उनके योग्य शिष्य बावा चरणदासजी उत्तराधिकारी नियुक्त हुए जिन्होंने बड़ी कार्य-कुशलतासे आश्रमका सारा कार्य संभाला।

बावा चरणदासजीके पश्चात् बावा सुन्दरदासजी महन्त हुए। उन्होंने षड्दर्शनके महोत्सव करके साधु-महात्माओंको भण्डारे दिए। इनके पश्चात् बावा हंसदासजी महन्त हुए। इन्होंने स्थानीय जनताके लिये नहरमेंसे पानी दिलाकर जमीनकी उपज बढ़ाई।

इस स्थानपर श्री श्रीचन्द्रजी महाराजकी उपासना तथा बावा बसाऊदासजीकी समाधियोंकी पूजा होती है और उदासीन सम्प्रदायकी मर्यादा और नियमोंका पूर्ण रूपसे पालन किया जाता है। इस आश्रमसे सम्बद्ध और भी बहुतसे आश्रम हैं जैसे तपस्वी पूरनदासजी धिङ्गड़, कोटला, तुङ्गवाली, भागीन्दर, माहला कलाँ, देहली आदि।

स्वर्गीय हंसदासजीके आठ शिष्योंमेंसे चार जीवित हैं—

१—शौकीनदास (शङ्कर मुनि), २—निरंजनदास, ३—जग्गरदास तथा ४—मानदास।

स्वामी मानदासजी

स्वामी मानदासजी ही इस स्थानके वर्त्तमान महन्त हैं। शौकींनदासजी तथा सन्त निरंजनदासजी, ग्राम ढींडसाँ, ज़िला फ़ीरोज़पुरमें सन्त कुटिया नामक आश्रम बनाकर निवास करते हैं। आपने ज़िला फ़ीरोज़पुरमें ग्राम-वैद्यमण्डल नामक वैद्य-संख्या पंजीकृत कराई है और आप आयुर्वेदकी उन्नतिके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। आजकल आप उदासीन सम्प्रदायके प्रचारके लिये 'बेनती-पत्र' का सम्पादन करके साधु-मण्डलको उत्साहित कर रहे हैं।

श्री ब्रह्मबूटा अखाड़ा, अमृतसर

जिन अनेक उदासीन आश्रमोंने हिन्दू वैदिक धर्मके प्रचार और प्रसारका यश अर्जित किया है उनमें अमृतसरके श्री ब्रह्म-बूटाका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी स्थापना निर्वाण सन्तोषदासजीने की थी।

निर्वाण सन्तोषदासजी

धर्मके प्रचार तथा अधर्मके विनाशके लिये उदासीन-संप्रदाय-की छह बख्शीशोंमें प्रमुख गुरु संगत साहबके शिष्य बाबा नारायण-दासजीकी शिष्य-परम्परामेंसे बाबा गुरिया साहबजीसे निर्वाण संतोषदासजीने दीक्षा ग्रहण की थी।

निर्वाण सन्तोषदासजीने पंजाबके भटिण्डा ज़िलेमें अवलु नामक ग्राममें तप करके निरन्तर ४४ वर्षोंतक भारतके तीर्थोंकी यात्रा की और एक आलवाल (गमले) में एक वट-वृक्षको सभी तीर्थोंके पवित्र जलसे सींचकर सम्वत् १८११ वि० में अमृतसरके दरबार साहबकी परिक्रमाके पूर्वी कोनेमें स्थापित करके उदासीन सम्प्रदायके अन्तर्गत श्री अखाड़ा ब्रह्मबूटाका निर्माण किया।

एक बार देशाटन करते हुए निर्वाण संतोषदासजी हैदराबाद (दक्षिण) जा पहुँचे। इनसे प्रभावित होकर हैदराबादके दीवान अमीचन्द्र इनके परम सेवक बन गए और इन्हें बहुत द्रव्य भेंट करनेकी इनसे प्रार्थना करने लगे कि आप हैदराबादमें भी अखाड़ेकी स्थापना करें। किन्तु निर्वाणजीने कहा कि इस द्रव्यसे सत्र चलाओ, हम लेकर क्या करेंगे। इससे अमीचन्द्र और भी अधिक प्रभावित हुआ और आज भी उनके वंशज अखाड़ेके सेवक बने हुए हैं।

वि० सम्वत् १८४० (सन् १७८३) में जब वर्षा न होनेके कारण अमृतसर-सरोवरका जल सूख गया था तब निर्वाण सन्तोषदास तथा निर्वाण प्रियतमदासजीने ३५ मील दूर रावी नदीसे कुल्या (हँसली या नहर) बनवाकर उसे जलसे पूर्ण कराया था।

३९ वर्षोंतक अखाड़ा ब्रह्मबूटाको समुन्नत करते हुए अपने सुयोग्य शिष्य श्री आप-ब्रह्मजीको गद्दी देकर वे वि० सं० १८५० (सन् १७९३) में ब्रह्मलीन हो गए।

निर्वाण आपब्रह्मजी

निर्वाण आपब्रह्म (आत्मब्रह्म) जीने विधिपूर्वक अनेक यज्ञ किए थे। उन्होंने निर्वाण संतोषदासजीके निमित्त भी एक अद्वितीय यज्ञका आयोजन किया था जो निरन्तर पन्द्रह दिनोंतक चलता रहा और जिसमें लाखों रुपए व्यय हुए थे। इतना ही नहीं, आपने अनेक कूप और तडागोंका निर्माण कराया था जिनमेंसे एक ऐसा कूप भी अखाड़ा ब्रह्मबूटामें विद्यमान है जिसका जल पीनेसे अनेक प्रकारके रोग दूर हो जाते हैं।

अखाड़ा ब्रह्मबूटाको ४२ वर्ष सतत समुन्नत करके अपने सुयोग्य शिष्य श्री ब्रह्महरिजीको गद्दी देकर वे वि सं १८९२ (सन् १८३५) में वैकुण्ठवासी हो गए।

स्वामी ब्रह्महरिजी

स्वामी ब्रह्महरिजीने तीर्थों और कुम्भ आदि पर्वोंपर अन्न-सत्र चलाए तथा अनेक स्थानोंपर कूप, तडाग आदिका निर्माण कराया जिनमेंसे आज भी अमृतसरके सुलतान-विण्ड द्वारके पास एक विशाल कूप विद्यमान है। स्वामी ब्रह्महरिजीने इन लोक-कल्याणकारी कार्योंके अतिरिक्त नया अखाड़ा, कनखलके निर्माणमें भी पूर्ण सहयोग दिया।

स्वामी ब्रह्महरिजी १७ वर्षतक उस धर्म-स्थानकी उन्नति करते हुए वि० सं० १९०९ (सन् १९५२) में परम गतिको प्राप्त हुए जिनके पश्चात् श्री ब्रह्मबूटा साहब उनके उत्तराधिकारी हुए।

श्री ब्रह्मबूटा साहब

श्री ब्रह्मबूटा साहब बड़े प्रभावशाली एवं लोकसेवी महात्मा थे। आपने देशमें धर्मका प्रचार करके उदासीन सम्प्रदायकी ख्याति बढ़ाई और विमल यश प्राप्त किया। प्रत्येक कुम्भपर वे एक मास पूर्व ही अन्न-सत्र प्रारम्भ कर देते थे तथा यात्रियोंको यथोचित सुविधा भी देते थे।

आप बहुत दिनोंतक अमृतसरकी नगर-महापालिकाके प्रधान तथा नगरके सम्मानित न्यायपाल भी रहे। उनकी लोक-सेवासे प्रभावित होकर लैफ्टिनैण्ट गवर्नर मौण्टगुमरीने उन्हें पदक भी प्रदान किया था।

स्वामी ब्रह्मबूटा साहब निर्वाण निरञ्जनदासजीको अखाड़ेका भार सौंपकर वि० सं० १९४२ (सन् १८८५) में परम धाम सिधारे।

अखाड़ा ब्रह्मबूटाकी महन्त-परम्परा

स्वामी निरंजनदासजी निरन्तर ३० वर्ष तक अखाड़ेकी प्रगति करते हुए वि० सं० १९७२ (सन् १९१५) में ब्रह्मलीन हुए।

तदनन्तर श्री प्रागदासजी अखाड़ेकी महन्ती प्राप्त करके अत्यन्त निष्ठापूर्वक साधु-समाजकी सेवा करते हुए वि० सं०

१९९२ में ब्रह्मलीन हुए। तत्पश्चात् श्री जयरामदासजी महन्त नियुक्त हुए। आपने कुछ ही वर्षोंमें कार्यभार सँभालकर महन्त-पद त्याग दिया। तब उदासीन-सम्प्रदायने श्री साधुरामजीको महन्त नियुक्त कर दिया। उनका देहावसान होनेपर श्री लक्ष्मणदासजीने महन्त-पदवी प्राप्त की। महन्त लक्ष्मणदासजीके शरीरपात होनेपर स्वामी रत्नदासजीने अखाड़ेकी महन्त-पदवी ग्रहण की। आपने वृद्धावस्था होनेके कारण स्वेच्छासे महन्ती त्याग दी।

महन्त विक्रमदासजी

तदनन्तर श्री विक्रमदासजीने उदासीन सम्प्रदाय-द्वारा महन्त नियुक्त होनेपर ७ दिसम्बर १९५८ ई० को अखाड़ा ब्रह्मबूटेकी गद्दी सुशोभित की। आप बड़े दानशील, धर्मात्मा तथा परोपकारी हैं। आप निरन्तर जप, अनुष्ठान तथा यज्ञ आदि कराते रहते हैं और निरन्तर अध्यात्म-चिन्तनमें संलग्न रहते हैं।

अखाड़ेका कार्यभार सँभालते ही आपने सब प्रकारसे ब्रह्म बूटा अखाड़ाका नवीनीकरण किया। आपने अखाड़ेमें जो विद्यालय चलाया है उसमें अनेक विद्यार्थी विद्याध्ययन कर रहे हैं जिनके भोजन-वस्त्र आदिकी व्यवस्था अखाड़ेकी ओरसे की जाती है। इतना ही नहीं, आप वाराणसी-स्थित उदासीन श्री गुरु सङ्गत विद्यालयके भी सञ्चालक हैं।

आप अपने यहाँ जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्रजीके जन्म-दिवसोत्सव-पर बहुत द्रव्य व्यय करके प्रतिवर्ष समारोह मनाते हैं, आमन्त्रित महात्माओंका ससुचित सम्मान भी करते हैं, श्री पञ्चपरमेश्वर उदासीन पञ्चायती नया अखाड़ाका तन-मन-धनसे पूजन करते हैं तथा दीपमालिकाके उत्सवपर अनेक महात्माओंको कम्बल-वितरण करके उनका यथोचित आदर करते हैं।

आपने जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्रजीके नामसे अमृतसरमें मार्केट बनवाकर और भी विमल यश प्राप्त किया है। आपके यहाँ अखाड़ेमें लगभग दो सौ महात्मा एवं छात्रगण प्रतिदिन भोजन

पाते हैं। आपके मनमें साधु-समाजको उन्नत करनेकी भावना सदैव प्रदीप्त रहती है। आप बहुत उदार, कर्मनिष्ठ एवं उच्च विचारके महानुभाव हैं और यह विश्वास है कि आप निरन्तर लोक-कल्याण और साधु-समाजका हित करते रहेंगे।

स्वामी कृष्णानन्दजी (कुलपति)

स्वामी कृष्णानन्दजीका जन्म बिहार प्रान्तके अत्यन्त सम्भ्रांत परिवारमें हुआ था। उन्होंने थोड़ी ही अवस्थामें उदासीन सम्प्रदायमें चतुर्थाश्रमी श्रौत पद्धतिमें दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ये स्वामी गंगेश्वरानन्दजीके अनन्य सहयोगी या यों कहिए कि उनके दाहिने हाथ थे। लोक-कल्याण और संस्कृत-शिक्षाके प्रचारके लिये इनके हृदयमें प्रारम्भसे ही बड़ी लगन थी। काशीकी ढुंढिराज गलीमें समवस्थित उदासीन संस्कृत-विद्यालयके अध्यक्ष-पदपर रहकर आपने उसकी बड़ी उन्नति की जिसका मंगलमय परिणाम यह हुआ कि आपके कौशलपूर्ण संरक्षणमें अध्ययन करके अनेक विद्वानों और महात्माओंने यहाँ विद्या ग्रहण करके अपने विद्या-वर्चस्वकी उन्नति की, विद्या तथा धर्मका प्रचार और प्रसार भी किया तथा अपने पारमार्थिक ज्ञानको भी सम्पन्न किया। आपकी ऐसी विचित्र सद्वृत्ति थी कि किसी प्रकारका भी भेद-भाव किए विना विद्यालयके सभी छात्रोंका निरन्तर हित-चिन्तन करते रहते थे और उन्हें अपना परम आत्मीय मानकर उनके अध्ययन-कार्यमें निरन्तर सहयोग देते रहते थे। इन्हीं अनेक उदात्त गुणोंके कारण और सबपर समान स्नेह-भाव तथा कृपा-भाव बनाए रखनेके कारण उन्हें कुलपतिकी उपाधि प्रदान की गई थी। ये ३ जुलाई सन् १९६७ को चिट्टी नामक ग्राममें ब्रह्मलीन हुए।

स्वामी ऋषिरामजी

स्वामी ऋषिरामजीका कहाँ जन्म हुआ और किस प्रकार तथा किन परिस्थितियोंमें उन्होंने श्रौत चतुर्थाश्रमी पद्धतिसे

उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ग्रहण की इसका कोई विवरण प्राप्त नहीं है। स्वामी ऋषिरामजी अत्यन्त ब्रह्मनिष्ठ और विरक्त महात्मा थे। वे समस्त सांसारिक प्रपंचोंसे दूर रहकर निरन्तर भगवद्-भजन और ईश्वर-चिन्तन करते रहते थे। वे इतने विरक्त और निःस्पृह थे कि उन्होंने कहीं किसी प्रकारका कोई आश्रम नहीं बनाया। यद्यपि उनके भक्तोंने उनसे बहुत बार आग्रह किया कि आप कहीं आश्रम बनवाइए किन्तु उन्होंने सदा यहां कहा कि यह सारा विश्व ही मेरा आश्रम है। उन्होंने अपना सारा जीवन अत्यन्त सरल ढंगसे व्यतीत किया और फ़ाजिलका बँगलेके श्री साधु आश्रममें ही रहकर सारा जीवन काट दिया। अध्ययन-अध्यापनमें उनकी विशेष रुचि थी और इसीलिये वे निरन्तर विद्यादानमें ही मग्न और व्यस्त रहते थे। आयुर्वेदके तो वे प्रकाण्ड पंडित थे। उनके सत्यनिष्ठ और सरल जीवनका उनके शिष्योंपर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनके सभी शिष्य परम विद्वान्, लोक-संग्रही और सेवाभावसे संयुक्त निकले जिनमें स्वामी योगीन्द्रानन्दजी तथा स्वामी शान्तानन्दजी आदि विद्वानों और महापुरुषोंने विद्वत्ता और लोक-सेवाके क्षेत्रमें विशेष ख्याति प्राप्त की। इस प्रकारके विरक्त और निःस्पृह त्यागी महात्मा बहुत कम देखनेको मिलते हैं जो एकान्तमें अपने कामसे काम रखकर अध्ययन-अध्यापनमें लगे हुए सब प्रपंचोंसे दूर होकर केवल लोकाराधन और विद्यादानमें ही लीन रहते हैं।

स्वामी योगीन्द्रानन्दजी

स्वामी योगीन्द्रानन्दजीने स्वामी ऋषिरामजीसे विद्या ग्रहण करके अपनी विद्वत्ता और सौजन्यसे बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की। आप भारतीय दर्शनोंके अद्वितीय विद्वान् हैं और काशीमें ही निवास करते हैं। ये प्रकृतिसे ही इतने गम्भीर हैं कि कोई देखने-पर उनकी अगाध विद्वत्ता, पाण्डित्य और मनोगत भावोंको सरलतासे नहीं समझ सकता। आपने अनेक मौलिक ग्रन्थोंकी

रचना की है और दर्शनके अत्यन्त प्रौढ ग्रन्थोंपर अधिकारपूर्ण प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं जिनमें चित्सुखीने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। आप अनेक वर्षोंतक काशीके उदासीन संस्कृत विद्यालयके अध्यक्ष-पदपर प्रतिष्ठित रहे। इस अवधिमें आपने इस विद्यालयकी सर्वतोमुखी उन्नति की तथा पुस्तकालयको भी सर्वांग सुसज्जित और समृद्ध कर दिया। आजकल आप निरन्तर अध्ययन, अध्यापन तथा ग्रन्थ-रचनाके कार्यमें ही सर्वतो-भावेन संलग्न हैं और मुनि-मंडल कनखल (हरिद्वार) के आप प्रधान ट्रस्टी भी हैं।

स्वामी कूटस्थानन्दजी त्रिपिटकाचार्य

स्वामी कूटस्थानन्दजी भी स्वामी योगीन्द्रानन्दजीके समवर्ती अत्यन्त प्रौढ विद्वान् हैं। पंजाबके भटिण्डा जनपदके तमकोर नामक ग्रामके अत्यन्त सम्भ्रांत परिवारमें उनका जन्म हुआ और वहीं उन्होंने एक ब्रह्मनिष्ठ उदासीन महात्मासे दीक्षा भी ग्रहण की। बचपनसे ही आपकी प्रतिभा ऐसी चमत्कारपूर्ण थी कि वे जो सुनते थे तत्काल कण्ठस्थ हो जाता था इसलिये वे स्वतः अध्ययनकी ओर प्रवृत्त हुए। लगभग बारह वर्ष काशीमें रहकर आपने आस्तिक दर्शनोंके अध्ययन और स्पष्टीकरणके लिये भारतीय नास्तिक और आस्तिक सभी दर्शनोंका गम्भीर अध्ययन किया। इसी प्रसंगमें आपने जब बौद्ध दर्शनका आलोडन प्रारम्भ किया तब उसके निमित्त उन्होंने नालन्दा (विहार) जाकर सांगोपांग पालि भाषाका भी अध्ययन किया। आप अत्यन्त प्रत्युत्पन्नमति हैं और शास्त्रार्थमें आपकी इतनी गति है कि कोई शास्त्रार्थ करनेके लिये आपके सम्मुख आनेका साहस नहीं करता।

आपने अध्ययन और अध्यापनके अतिरिक्त सनातन-धर्मका भी प्रचार किया और वही वास्तवमें आपके जीवनका विशेष लक्ष्य है। आपने हरिद्वारमें 'श्याम-निवास' नामक विशाल भवन बनवाया है जिसमें साधुओंके निवास तथा भोजनके लिये अन्न-सत्र भी चलता है।

अवधूत चेतनदेवजी

स्वामी चेतनदेवजी अवधूत वास्तवमें पूर्ण अवधूत थे। उनका पूर्वाश्रमका कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं हुआ। अपनी अवधूतावस्थामें वे सब ऋतुओंमें केवल एक कौपीन बाँधकर ही शरीर-निर्वाह कर लेते थे। उन्होंने इतनी तीव्र तितिक्षा साध ली थी कि जाड़ा, गर्मी, बरसातका उनपर कोई प्रभाव नहीं था। एक कौपीन बांधे वे निरन्तर विचरण ही करते रहते थे। एक बार इसी प्रकार प्रव्रजन करते हुए वे जब हरिद्वार पधारे तो उन्होंने देखा कि न तो साधुओंके आवास और विश्रामके लिए कोई स्थान है न उनके योगक्षेम और भिक्षाकी कोई व्यवस्था है। तत्काल आपने वहाँ आपने एक कुटिया स्थापित कर दी जो अवधूत चेतनदेवजीकी कुटियाके नामसे प्रसिद्ध है और जिसका उल्लेख भी पीछे कई महात्माओंके प्रसंगमें आ चुका है। धीरे-धीरे वृद्धिङ्गत होते-होते यह कुटिया ढाई-तीन सौ कक्षोंवाले विशाल आश्रमके रूपमें परिणत हो गई जिसमें एक साथ सात-सात सौ साधु निवास करते रहे हैं।

महन्त गुरुमुखदासजी

अवधूत चेतनदेवजीकी ही पावन परम्परामें महन्त गुरुमुख-दासजीने बड़ा यश अर्जित किया। उन्होंने अवधूत चेतनदेवजीके आश्रमके विकास, विस्तार और अलंकरणमें बड़ा अपूर्व परिश्रम किया और आज जो आश्रमका रूप है उसका अधिक श्रेय उन्हींकी प्रतिभा, प्रवन्ध-कौशल, योग्यता और परिश्रमको है। साधु-सेवाका तो आपने व्रत ही ले रक्खा है और इसीके लिये आपने बड़ी ख्याति अर्जित की। आप स्वभावसे बड़े मृदु और शान्त हैं और अनेक कुंभोंपर अन्न-सत्र चलाकर आपने वहाँ आनेवाले साधुओं और यात्रियोंकी बड़ा सेवा की।

स्वामी कँवलदास (कमलदास) जी

स्वामी कमलदासजीने बचपनमें ही उदासीन श्रौत चतुर्थाश्रमकी दीक्षा ले ली थी। वे ऐसे त्यागी और वीतराग महात्मा थे

कि पैसा-रुपया, धन-सम्पत्तिको स्पर्शतक नहीं करते थे। वे बड़े स्वाभिमानी भी थे। एक बार वे हरिद्वारकी निर्मल कुटियामें ठहरे हुए थे। संयोगवश आपने एक स्थानपर थूक दिया। उनका यह व्यवहार देखकर वहाँके महन्तने ताना मारते हुए कहा कि इसी प्रकार जहाँ-तहाँ थूकना हो तो अपनी कुटिया बनवाकर क्यों नहीं रहते। बस यह बात उन्हें लग गई। उनका स्वाभिमान जाग उठा। आप उसी समय वहाँसे यह कहते हुए उठकर चल दिए कि अब मैं रहूँगा तो अपनी ही कुटिया बनवाकर उसमें रहूँगा।

उनके भक्तोंकी कोई कमी नहीं थी। वे सीधे पंजाबमें बहावलपुर चले गए। जब भक्तोंने वहाँ टिकनेके लिये आग्रह किया तो आपने यही कहा कि हम तभी यहाँ रह सकते हैं जब हमें एक सहस्र रुपए प्रतिदिन प्राप्त हों। कहने भरकी देर थी। भक्तोंने तुरन्त उनका आदेश सिरमाथे ग्रहण किया। पच्चीस दिन वहाँ रहकर और २५ हजार रुपए लेकर वे हरिद्वार चले आए और वहाँ पहुँचते ही उन्होंने भूमि ले ली, आश्रम खड़ा होने लगा और तीन सौ कक्षोंका ऐसा आश्रम तैयार हो गया जिसमें पाँच सौ साधु आकर निवास करने लगे और बड़े मनोयोगसे वहाँ साधुओंकी सेवा होती रही। उनकी यह पुण्य कीर्ति आज भी जाज्वल्यमान रूपसे विद्यमान है और निरन्तर उन्नति कर रही है।

स्वामी हंसमुनिजी

पंजाबके जजल ग्रामके अत्यन्त धनाढ्य ब्राह्मण-परिवारमें स्वामी हंसमुनिजीका जन्म हुआ था। घरपर ही प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करके आपने लाहौरमें उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। जिन दिनों हमारे देशमें अँगरेजोंका शासन चल रहा था, उन दिनों आप लाहौरके एक महाविद्यालयमें ही प्राध्यापक रहे। संस्कृत और

अँगरेज़ी दोनों भाषाओंपर आपका अबाध अधिकार है इसीलिये उन दिनों लाहौरमें रहनेवाले अनेक अँगरेज़ भी समय-समयपर भारतीय संस्कृतिका स्वरूप जाननेके लिये आपके पास निरन्तर आते रहते थे।

इसके पश्चात् आपने लोक-सेवाको ही अपने जीवनका परम लक्ष्य बना लिया और उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार दीक्षित होकर अब आप पिछले ३० वर्षोंसे निरन्तर सनातन-धर्म और भारतीय संस्कृतिका प्रचार कर रहे हैं। इतने वृद्ध होनेपर भी आप सदा दर्शन-शास्त्रोंके अनुशीलनमें ही मग्न रहते हैं। श्री साधुबेला उदासीन आश्रमके स्वर्गत महन्त स्वामी हरिनामदासजी आपसे विशेष स्नेह रखते थे और आपका बहुत आदर करते थे।

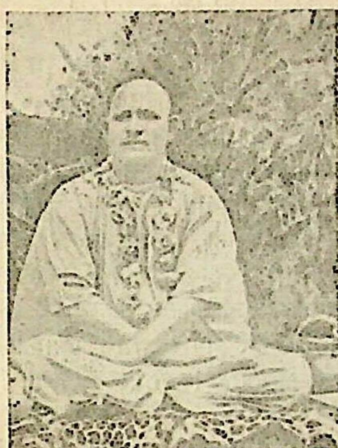
स्वामी कृष्णानन्दजी, स्वामी गोविन्दानन्दजी

स्वामी कृष्णानन्दजी तथा स्वामी गोविन्दानन्दजी दोनों वेदान्तके अद्वितीय विद्वान् हैं। उन्होंने भारतवर्षमें वेदान्त-विद्याका प्रचार करनेके लिये जितना श्रम किया उतना बहुत कम लोग कर पाते हैं। आपके ही प्रयत्नसे हरिद्वारमें 'भगवद्धाम' नामक उस प्रसिद्ध भवनका निर्माण हुआ जिसमें आज अनेक साधु, महात्मा तथा अभ्यागत आ-आकर विश्राम करते और सुख पाते हैं।

अवधूत हंसदेवजी

अवधूत हंसदेवजी अत्यन्त तपोनिष्ठ तथा बड़े विलक्षण महात्मा थे। उदासीन सम्प्रदायमें अपने ढंगके वे अद्वितीय महापुरुष थे और उनकी इन अप्रतिमताके कारण उदासीन-सम्प्रदायमें उनका बड़ा यश और बड़ी प्रसिद्धि है। प्रारम्भमें वे केवल एक कोपीन ही धारण करते थे। साधु-सेवाकी लगन तो उनमें प्रारम्भसे ही इतनी तीव्र थी कि उन्होंने अनेक अन्न-सत्र प्रारंभ कर दिए थे। सहसा आपने अपना बाना बदल दिया और ऐसे राजसी ठाट-बाटसे रहने लगे कि बड़े-बड़े चक्रवर्ती

राजा भी उनके आगे झख मारें। वे पन्द्रह-पन्द्रह हज़ार रुपएके अत्यन्त मूल्यवान् वस्त्र नित्य पहनते और जो परिधान एक दिन शरीरपर आ गया वह दूसरे दिन नहीं आता था। उनके यहाँ पाँच-पाँच हज़ार रुपएके तो स्वर्णके प्याले थे। इस प्रकार विराट् राजसी वैभवके बीच भी अपनी विरक्ति और तपस्याका निर्वाह वे उसी प्रकार करते



अवधूत हंसदेवजी

थे जैसा कालिदासने अपने अभिज्ञान शाकुन्तलमें महर्षि कश्यपके लिये कहा है—

यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥ [७।१२]

[जिन पदार्थोंको प्राप्त करनेके लिये मुनि लोग एकान्तमें जाकर तपस्या करते हैं उनके ही बीच रहकर ये तपस्या कर रहे हैं।]

इनके शिष्योंमें अधिक पारसी लोग थे जो अपने वैभव और समृद्धिके लिये प्रसिद्ध हैं। आपने वैद्यनाथ धाम (गिरिडीह, बिहार), नीलगिरि (दक्षिण) और भड़ौंच (भृगुकच्छ, गुजरात) में तीन विशाल सर्व-सुविधा-सम्पन्न भव्य आश्रम बनवाए और अपने जीवन-कालमें ही उन्हें अपने शिष्योंमें बाँट दिया।

श्री फलाहारीजी

योगिराज श्री फलाहारीका जन्म संवत् १९२४ (सन् १८६७) में पंजाबके लुधियाने जिलेमें सतलज (शतद्रु) नदीके तटपर

बसे हुए शेरपुर (बड़ा) नामक ग्राममें हुआ था। १६ वर्षकी ही अल्पावस्थामें इन्हें ऐसा वैराग्य हुआ कि इन्होंने घर-द्वारका परित्याग करके लुधियाना ज़िलेके ही भरोवाल नामक ग्रामके बाबा हरिदासजीसे उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षा ले ली जिन्होंने इनका नाम 'अर्जुनदास' रख दिया। अर्जुनदासजीने अपने गुरुजीके गुरु परम तपस्वी और योगी बाबा चरणदासजीसे पूर्ण रूपसे योग-विद्या सीखकर अनेक दिव्य शक्तियाँ अर्जित कर ली थीं। इसके अनन्तर आप लोक-कल्याणके कार्योंमें संलग्न हो गए। वे बड़े मनोयोगसे जनताके आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक क्लेश दूर करते रहे, असंख्य बेघरवालोंके लिये मकान बनवाते रहे, रोगियोंके लिये चिकित्साकी व्यवस्था करते रहे तथा ज्ञान-पिपासुओंकी ज्ञान-तृषा शान्त करनेमें दत्तचित्त रहे। संवत् २००३ में उन्होंने इस संसारसे महाप्रयाण किया।

स्वामी सर्वानन्दजी

स्वामी सर्वानन्दजीका जन्म पंजाबमें हुआ था। उनके पूर्वाश्रमका तो कोई विवरण प्राप्त नहीं है किन्तु इतना वर्णन अवश्य प्राप्त है कि उन्होंने स्वामी गंगेश्वरानन्दजीसे दीक्षा ग्रहण की थी। उनके समान अपूर्व उदारचेता और विलक्षण महात्मा उदासीन सम्प्रदायमें बहुत कम हुए हैं। दुराग्रह और कष्टाग्रह तो उनमें नाममात्रको नहीं। सदा वैषम्यमें समन्वय और सामंजस्य स्थापित करके अत्यन्त जटिल समस्याएँ भी सरलतासे सुलझा देना उनके लिये सदा बाएँ हाथका खेल रहा।

उनके इन्हीं लोकोत्तर गुणोंके कारण भारतीय साधु-समाजने उन्हें अपना अध्यक्ष चुना। इन्होंने लोकोपकारके इतने अगणित कार्य किए कि उनकी गणना करना ही उनका महत्त्व कम करना है। उन्होंने असंख्य अध्ययनशील छात्रोंको सहायता दी, अनेक पाठशालाएँ स्थापित कीं और इस प्रकार न जाने कितने छात्रोंको विद्यार्जनकी सुविधा दी। स्वयं बड़े मेधावी विद्वान् और विद्याव्यसनी होनेके कारण उनके शिष्योंमें प्रायः सभी प्रसिद्ध विचक्षण विद्वान् हैं।

ऐसे सभी उदासीन सन्त और महात्मा हमारे देशके अनमोल रत्न हैं जिनसे हमारे धर्मको शक्ति मिली है, देशको कीर्त्ति प्राप्त हुई है और सर्वसाधारण जन-समाजको नैतिक बुद्धि मिली है। ऐसे सब सन्तोंको भूरि-भूरि अभिवादन है।

उपसंहार

पिछले अध्यायोंमें जिन अनेक उदासीन आश्रमों, डेरों, संगतों, अखाड़ों और गद्दियोंका तथा उदासीन सन्तों, महात्माओं, तपस्वियों, साधकों और विद्वानोंका संक्षिप्त परिचय देनेका प्रयास किया गया है उनके अतिरिक्त अनेक महापुरुष पीछे वर्णित आश्रमोंसे सम्बद्ध होते हुए भी विवरण प्राप्त न होनेके कारण छूट गए हैं, कुछके संवन्धमें पूरा विवरण नहीं मिल सका और कुछके संवन्धमें भ्रामक, विरोधी या अतिरंजित विवरण मिला। ऐसी परिस्थितिमें जहाँतक संभव हो पाया वहाँतक विवेकका आश्रय लेकर तथ्य संग्रह करनेका पूर्ण और निश्छल प्रयास किया गया। यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि सुसंघटित रूपसे उदासीन साधु-समाजने निरन्तर भारतीय वैदिक सनातनधर्मकी परम्परामें वँधकर जहाँ एक ओर अपनी चतुर्थाश्रमी पद्धतिकी परिपाटीका निर्वाह करते हुए अपने साधुत्व और साधनाका मार्ग प्रशस्त किया वहीं दूसरी ओर अनेक प्रकारके लोक-कल्याणकारी कार्योंके द्वारा जन-सेवा करके यश भी अर्जित किया और जनताकी श्रद्धा भी प्राप्त की।

उदासीन-सम्प्रदायके सन्तोंकी परम स्पृहणीय परम्परा यह भी रही है कि इनके यहाँ अधिकांश साधु विद्या-विचक्षण होकर भारतीय विद्या और धर्मके प्रवल पोपक और प्रचारक भी हुए हैं जिनके कारण वेद, वेदांग, दर्शन और आयुर्वेदकी निर्बाध परम्परा अभीतक ज्योंकी त्यों वनी चली आ रही है। इसी ग्रन्थमें जिन अनेक महात्माओंका विवरण आया है उनमेंसे अधिकांश ऐसे हुए हैं जिन्होंने भारतीय विद्याओंमें पारगिता प्राप्त

करके अपने अनेक शिष्योंको विद्यादानके द्वारा शिक्षित और दीक्षित करके भारतीय विद्या-वर्चस्वकी उदात्त परिपाटीकी अक्षुण्णता बनाए रखनेमें बड़ी सहायता दी। यह परम्परा अभी-तक भी इतने प्रखर रूपसे प्रतिष्ठित है कि आज भी उदासीन सम्प्रदाय-द्वारा प्रतिष्ठित और सञ्चालित संस्कृत विद्यालयोंमें अनेक दर्शनों और विद्याओंके धुरन्धर विद्वान् अपने पांडित्य और वैदुष्यके द्वारा अविरल रूपसे अध्ययनाध्यापनका क्रम चलाते जा रहे हैं।

उदासीन-सम्प्रदायकी यह भी विशेषता रही है कि औषधालय अथवा पुस्तक-प्रकाशन आदिके द्वारा लोक-जीवनको शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियोंसे स्वस्थ और अनामय रखनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। इस प्रकारके कार्योंसे जहाँ जनता-जनार्दनको लाभ होता रहा वहीं लोकोपकार और परमार्थकी भावनाका पोषण होनेके कारण अध्यात्म-वृत्तिका तोषण और अभिवर्द्धन भी होता रहा।

सबसे अधिक महत्त्वकी बात तो यह है कि यह सम्पूर्ण समाज एक विशेष संघटनमें आबद्ध होकर अत्यन्त व्यवस्थित और नियमित ढङ्गसे एक विशेष प्रकारकी सात्त्विक व्यवस्थाके अन्तर्गत केन्द्रस्थ होकर भी कार्य करता है और निरन्तर पर्यटन करता हुआ लोक-मानसको प्रदीप्त और पवित्र करता हुआ अपने संघकी व्यवस्था भी देखता चलता है।

ऐसे सुव्यवस्थित सन्त-संघका यह इतिहास निश्चय ही लोक-मानसको सत्प्रेरणा देनेमें सहायक सिद्ध होगा।

प रि शि ष्ट



१

मात्रा-शास्त्र

किसने मूँडा किसने मुँडाया।
किसका भेजा नगरी आया ॥१॥
सद्गुरु मूँडा लेख मुँडाया।
गुरुका भेजा नगरी आया ॥२॥
चेतहु नगरी, तारहु गावँ।
अलख पुरुषका सुमिरहु नावँ ॥३॥
गुरु अविनाशी खेल रचाया।
अगम निगमका पन्थ बताया ॥४॥
ज्ञानकी गोदड़ी खिमाकी टोपी।
यतका आदबन्द शील लँगोटी ॥५॥
अकाल खिन्था निराश झोली।
युक्तिका टोप गुरुमुखी बोली ॥६॥
धर्मका चोला सत्यकी सेली।
मर्याद मेखला ले गल मेली ॥७॥

ध्यानका बटुआ नृत्तका सुईदान ।
ब्रह्म अञ्चला लैं पहिरे सुजान ॥८॥
बहुरंगी मोरछड निर्लेप विष्टी ।
निर्भव जंगडोरा नाको द्विष्टी ॥९॥
जाप जँगोटा सिफत उड़ानी ।
सिंगी शब्द अनाहद गुरुवाणी ॥१०॥
शर्मकी मुद्रा शिव विभूता ।
हरिभक्ति मृगानी लै पहिरे गुरुपूता ॥११॥
सन्तोष सूत विवेक धागे ।
अनेक टल्ली तहाँपर लागे ॥१२॥
सुरतिकी सुई लै सद्गुरु सीवे ।
जो राखे सो निर्भउ थीवे ॥१३॥
स्याह सफेद जरद सुरखाई ।
जो लै पहिरे सो गुरु-भाई ॥१४॥
त्रैगुण चकमक अग्नि मथि पाई ।
दुख सुख धूनी देहि जलाई ॥१५॥
संयम कपाली शोभाधारी ।
चरण कमलमें सुरति हमारी ॥१६॥
भाव भोजन अमृत कर पाया ।
भला बुरा मन नहीं बसाया ॥१७॥
पात्र विचार फरुआ बहुगुणा ।
करमण्डलु तुम्बा किस्ती घणा ॥१८॥
अमृत प्याला उदक मन दिया ।
जो पीवे सो शीतल भया ॥१९॥

इड़ामें आवे पिंगलामें धावे ।
सुषुमनके घर सहज समावे ॥२०॥
निराश मठ निरन्तर ध्यान ।
निर्भय नगरी दीपक गुरु ज्ञान ॥२१॥
स्थिर ऋद्धि अमर पद दपडा ।
धीरज फहुडी तपकर खपडा ॥२२॥
वशकर आसा समदृष्टि चौगान ।
हर्ष शोक नहिं मनमें आन ॥ ॥२३॥
सहज विरागी करे विराग ।
माया मोहनी सकलको त्याग ॥२४॥
नामकी पाखर पवनका घोड़ा ।
निःकर्म जीन तत्त्वका जोड़ा ॥२५॥
निर्गुण ढाल गुरु शब्द कमान ।
अकल संजोह प्रीतिके बान ॥२६॥
अकलकी बरछी गुणोंकी कटारी ।
मनको मारि करो असवारी ॥२७॥
विषम गढ़ तोड़ निर्भय घर आया ।
नौबत शङ्ख नगारा बाया ॥२८॥
गुरु अविनाशी सूषम वेद ।
निर्वाण विद्या अपार भेद ॥२९॥
अखण्ड जनेऊ निर्मल धोती ।
सोहं जाप सच माल पिरोती ॥३०॥
सिखा गुरुमन्त्र गायत्री हरिनाम ।
निश्चल आसन कर विश्राम ॥३१॥

तिलक सम्पूर्ण तर्पण यश।
पूजा प्रेम भोग महारस ॥३२॥
निर्वैर सन्ध्या दर्शन छापा।
वाद विवाद मिटाओ आपा ॥३३॥
प्रीति पिताम्बर मन मृगछाला।
धील चितम्बर दयाकुण माला ॥३४॥
शुद्धि बघम्बर कुलह पोस्तीन।
खौंस खड़ावाँ दृढ़ मति लीन ॥३५॥
तोड़ा चूड़ा और जंजीर।
लै पहिरै साधु उदासी धीर ॥३६॥
जटा जूट मुकुट सिर होय।
मुक्ता फिरे बन्ध नहिं कोय ॥३७॥
नानकपूता श्रीचन्द बोले।
जुगुत पिछायो तत्त्व विरोले ॥३८॥
ऐसी मात्रा लै पहिरै कोय।
आवागमन मिटावे सोय ॥३९॥

२

उदासीन-साधु-स्तोत्रम्

[श्रीकाष्ठजिह्व (देवतीर्थं) स्वामी-विरचितम्]

सुशीलान्सदाचारनिष्ठान्पवित्रान् हरिं वा हरं वा समं सेवमानान् ।
स्वशास्त्रेषु दक्षान्परब्रह्मनिष्ठानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ १ ॥
वचोमाधुरी सत्यतोषौ दया च तथा सौम्यता यत्र नित्यं वसन्ति ।
मुदा तानुदारान्वरिष्ठान् गरिष्ठानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ २ ॥
जितद्वन्द्वदोषान्विरक्तानसक्तान्महाधारणा-ध्यानयोगाधिरूढान् ।
गुरुं ब्रह्म जानन्ति ये तान् प्रशस्तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ ३ ॥
महावाक्यमेतत्समाकर्ण्य सम्यग् गुरूणां मुखादेव ये भावयन्तः ।
विभाव्योपपत्तिं च कुर्वन्ति ये तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ ४ ॥
असीति क्रियेयं त्वमो नो तदोऽपि तदा तत्त्वमोर्नित्यमङ्गाङ्गिभावः ।
तदैक्ये द्वयोः सिद्धमाहुश्च ये तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ ५ ॥
महोग्रं तपन्तस्तपो येऽपि वामे तथा दक्षिणे दक्षिणाः पुष्पतुल्याः ।
अहंदोषगन्धानहं तान्सुपात्रानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ ६ ॥
अदीनान्स्वयं वत्सलान् दीनवर्गे गभीरान् नदीनो यथा देवतुल्यान् ।
जिताहारनिद्रालसानात्मतृप्तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ ७ ॥
स्वशुद्ध्यै श्रुतौ कर्मकाण्डं हृदश्च तथोपासनाद्बुद्धिशुद्धौ विवेकः ।
विदित्वेति वादं न कुर्वन्ति ये तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ ८ ॥
विनाद्वैतसंपादनं निर्भयो न 'द्वितीयाद्भयं जायते' सिद्धमेतद् ।
सदा निर्भयत्वं प्रयच्छन्ति ये तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ ९ ॥

रविश्चक्षुषो देवतेत्याह शीर्षे प्रकाशो रविः स्यान्नतेनानवस्था।
इदं यत्प्रसादाद्‌द्रुतं ज्ञायते तानुदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये ॥१०॥
यदुक्तं श्रुतौ निर्गुणं ब्रह्म तत्र गुणो निर्गुणो ज्ञानमात्रं तदर्थः।
प्रसन्नानना: शिक्षयन्तश्च ये तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥११॥
भुजावेव दोषौ न दोषोऽस्ति येषु कचा एव वक्रा न वक्रत्वमस्ति।
जगन्मोदनायैव जाताश्च ये तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥१२॥
यदीयं शुभं दर्शनं पुण्यहेतुर्यदाभाषणं वाङ्मलं हन्ति तूर्णम्।
सदा निर्मला भीष्ममातेव ये तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥१३॥
स्वयं तीर्थभूताश्च तीर्थे वसन्तः समभ्यागतान् मानयन्तः प्रमोदात्।
सुतीर्थेषु दानानि कुर्वन्ति ये तानुदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये ॥१४॥
महावेषचिह्नस्थभावं विदित्वा तथैवाचरन्तः समं मानयन्तः।
न केन क्वचित्स्पर्धमानाश्च ये तानुदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये ॥१५॥
विशुद्धं च सत्त्वं मनोवाङ्निरोधो स्थिरा धीस्तथैवेन्द्रियाणां जयश्च।
स्फुरत्पञ्चरत्नैर्लसन्तश्च ये तानुदासीनसाधून्नमस्ये नमस्ये ॥ १६ ॥
सकेशा अकेशा सवस्त्रा अवस्त्रा अटन्तः पृथिव्यां सहायं विमुच्य।
परं दैवमाश्रित्य धैर्येण ये तानुदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये ॥१७॥
अरण्ये नदीसैकते वा वसन्तस्तथा पर्वतानां दरीमाश्रयन्तः।
विदेहाः प्रविष्टाः परे धाम्नि ये तानुदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये ॥१८॥
श्रुतेरुत्तमाङ्गं जपन्तः सदैव परा वक्तृता वा कवित्वं च येषु।
कृतार्थाश्च ये तान् महर्षेः समानानुदासीनसाधून् नमस्ये नमस्ये ॥१९॥
सुहृद्वा रिपुर्वा न यस्यां च वृत्तौ उदूर्ध्वं स्थितास्तीति धीमान्नगम्या।
उदासीनता सा हृदिस्थाऽस्ति येषामुदासीनसन्तो महान्तो जयन्ति ॥२०॥
पुरस्तात्तथा पृष्ठतः पार्श्वयोश्च ममार्हा उदासीनसन्तो लसन्तु।
अमीषां च मध्ये निवासो ममास्तु यथानेन मे पूर्णतामायुरेतु ॥२१॥
उदासीनसत्पादपीठस्य पूजा कृतैभिः शुभैर्वाक्यपुष्पैर्मनोज्ञैः।
तया सर्वभूतान्तरात्मा रमेशः सदा साधुमान्यः स तोषं प्रयातु ॥२२॥

३

उदासीन आश्रम और उनके महन्त

धूना बालू हसना साहबकी पद्धतिके आश्रम और महन्त-गण

[जिन नामोंके आगे गृहस्थ नहीं लिखा है, वे सभी विहंगम हैं।]

१	नारायणदासजी	पुश्ताघाट, गाजीपुर
२	हरिदासजी	गाजीपुर
३	बसन्तदासजी	बद्दूपुर, गाजीपुर
४	प्रेमदासजी	दिलदारनगर, गाजीपुर
५	सरयूदासजी	चौक बक्सर-संगत, आरा
६	हरिदासजी	नीलकण्ठ गोलाघाट, बक्सर, आरा
७	आत्मस्वरूपजी	बहादुरपुर, बड़ागाँव, बक्सर, आरा
८	कमलदासजी	आयेर, आरा
९	नगीनादासजी –जीवनदासजी (गृहस्थ)	अनापथ, आरा
१०	गुरुनारायणदासजी	जहानाबाद, गया
११	गुरुप्रसाददासजी	पल्हूबिगा, मखदूमपुर, गया

१२	श्यामदासजी	खुरजी, दीघाघाट, पटना
१३	प्रागदासजी	दानापुर, पटना
१४	अर्जुनदासजी	दानापुर, पटना
१५	आत्मारामजी (गृहस्थ)	हिलसा, पटना
१६	सरयूदासजी (गृहस्थ)	अन्नाघाट, बेगमपुर, पटना
१७	अचिन्तप्रकाशजी	कर्नलगंज, गुलजारबाग, पटना
१८	सन्ध्यादासजी	भलिया महादेव, पटना
१९	पूरनदासजी	फेलीडॉड, गुलजारबाग, पटना
२०	हरनामदासजी	बीयर, गुरहट्टा, पटना
२१	प्रागदासजी	धर्मपुर, नूरसराय, पटना
२२	सेवादासजी	बिहार, पटना
२३	रामशरणदासजी रामकृष्णदासजी	हँडिया, नेवादा, गया
२४	स्वरूपदासजी	अमामा, रजौली, गया
२५	गुरुप्रसादजी (गृहस्थ)	मऊ, दरभंगा
२६	हरनामदासजी	बमबाड़ा, मुंगेर
२७	रामस्वरूपदासजी	मनसूरचक्र, मुंगेर
२८	सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	मनसूरचक्र, मुंगेर
२९	अतरदासजी	मनसूरचक्र, मुंगेर
३०	माधोदासजी(गृहस्थ)	शीतलपुर, दिघवारा, छपरा
३१	सुन्दरदासजी	रूपगंज, छपरा
३२	सरयूदासजी	छपरा
३३	माधवानन्दजी	रायड़गंज, छपरा
३४	टहलदासजी	नरहर, हसनपुरा, छपरा
३५	रामदासजी	बड़रा पोखरा, हसनपुरा, छपरा
३६	हरकिशनदासजी	प्रताप टाँडा, मुजफ्फरपुर
३७	बैजनाथदासजी	कुण्डरानी, मुजफ्फरपुर
३८	बिशनदासजी (गृहस्थ)	सुक्कीका, पातोपुर, मुजफ्फरपुर
३९	गोवर्धनदासजी ,,	पुठिया, ताजपुर, दरभंगा
४०	काशीदासजी	ताजपुर, दरभंगा

४१	गुरुदयालदासजी	नागरबस्ती, दरभंगा
४२	केशरदासजी	सोंडी, समसड्डी, दरभंगा
४३	निर्वाणदासजी	वेर्यारपुर, मभौला, मुंगेर
४४	दयालदासजी, सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	मभौल, मुंगेर
४५	प्रेमदासजी	पानापुर, वीरपुर, मुंगेर
४६	दयालदासजी	शम्भोचक, मुंगेर
४७	शिवनारायणदासजी	पूर्णसराय, मुंगेर
४८	अर्जुनदासजी	जमालपुर मुंगेर
४९	गंगादासजी	भागलपुर
५०	मुक्तरामजी	टीकपुर, कसवा, पुर्निया
५१	हरभजनदासजी	मनोहर पोखरा, कलकत्ता
५२	मोहनदासजी	चन्द्रकोना, मेदिनीपुर
५३	कृपारामदासजी	मंगूमठ, जगन्नाथपुरी
५४	अयोध्यादासजी	बौलीशहर, जगन्नाथपुरी
५५	मौनीबाबा	विष्टोपुर, मेदिनीपुर
५६	ब्रह्मदासजी	बाँकुड़ा
५७	दर्शनदासजी	नागपुर
५८	तृपानाथजी	मुहल्ला बुधवारी, नागपुर
५९	सरसुखदासजी	नागपुर
६०	लक्ष्मणदासजी (गृहस्थ)	खूशला, अमरावती
६१	सरसुखदासजी	बालापुर, अकोला
६२	माधवानन्दजी (गृहस्थ)	अलवाल
६३	पूरणदासजी	हैदराबाद (दक्षिण)
६४	ज्ञानदासजी	हैदराबाद (दक्षिण)
६५	धर्मदासजी (गृहस्थ)	७१०, लश्कर बाजार, पूना
६६	प्रेमदासजी	टोकरा, मालेगाँव, नासिक
६७	प्रागदासजी	भुसावल
६८	प्रागदासजी	फैजपुर, जलगाँव
६९	विशनदासजी	बुहानपुर, सिन्धीपुरा, खँडुवा

७० नारायणदासजी	देवास छोटी, देवास
७१ श्यामदासजी	हातोत, इन्दौर
७२ सोहनदासजी	गौतमपुरा, इन्दौर
७३ फम्मनदासजी	श्यामरखा, खेड़ा
७४ मस्तरामजी	खमाच, बड़ौदा
७५ बिशनदासजी, रामेश्वरदासजी	पलस्वा, जामनगर
७६ रामदासजी	हेमकहा, बड़ौदा
७७ गंगादासजी	बादशाहपुर गौरा, गोराबाज़ार, जौनपुर
७८ मंगलदासजी	गौरीशंकर घाट, आजमगढ़
७९ रामदासजी	चौरहपुर, आजमगढ़
८० रामरतनदासजी, अयोध्यादासजी	नारायणपुर, ज्योति-सदन, फैजाबाद
८१ प्रेमदासजी	माफी मलारी, विशुनपुर, गोंडा
८२ नानकप्रकाशजी	बड़ी संगत, बहराइच
८३ धूनीदासजी	नैपालगंज, नैपाल
८४ बजरंगदासजी	कुरसी, बाराबंकी
८५ प्रागदासजी	मोतीझील, लखनऊ
८६ दौलतरामजी	रानीगंज, लखनऊ
८७ कुँवरदासजी (गृहस्थ)	गणेशगंज, लखनऊ
८८ चरनदासजी	मोहलिया
८९ जगन्नाथदासजी	बसई, दुनका, बाँसबरेली
९० लक्ष्मणदासजी	दरबार गुरु रामराय, देहरादून
९१ हरिदासजी	चोहः, अम्बाला
९२ सेवादासजी	चोहः, अम्बाला
९३ मंगलदासजी	कराला, बनूड़, पटियाला
९४ हरभजनदासजी	राजो माजरा, डेराबंसी, अम्बाला
९५ जसौंदीरामजी (गृहस्थ)	रोपड़, अम्बाला
९६ हरिनामदासजी ,,	रोपड़, अम्बाला

९७	शंकरदासजी	कराली, अम्बाला
९८	सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	बूरमाजरा, मोरनड़ा, अम्बाला
९९	रघुवरदासजी	वडनाही, नागोवाल, पटियाला
१००	ठाकुरदासजी	नन्दपुर कलाँ, कलोड़, पटियाला
१०१	माहीदासजी	रैलो, खेड़, अम्बाला
१०२	जमुनादासजी (गृहस्थ)	वनाड़ी बड़ी, सरहिन्द, पटियाला
१०३	बालानन्दजी ,,	सरहिन्द, पटियाला
१०४	लालदासजी	सरहिन्द, पटियाला
१०५	आनन्ददासजी	सरहिन्द, पटियाला
१०६	गुरमुखदासजी (गृहस्थ)	लोहारमाजरा, खेड़ी नोदसिंहकी, लुधियाना
१०७	लक्ष्मणदासजी ,,	हरिगना, खेड़ी, लुधियाना
१०८	सन्तरामजी ,,	दखाड़ी बड़ी, शकरपुर, लुधियाना
१०९	गुरुनारायणजी ,,	उच्चेजने, खूमानो, पटियाला
११०	प्रीतमदासजी ,,	सेह, सर्वलपुर, लुधियाना
१११	बिशनदासजी ,,	फल्लेवाल, समराला, लुधियाना
११२	जीवनदासजी ,,	उहारण, लुधियाना
११३	संतोषदासजी ,,	बेरोंवाल, दोराहा, पटियाला
११४	उद्धवदासजी, माधवदासजी	कोट कँगरा, लुधियाना
११५	निरंजनदासजी ,,	भेरोंमुन्ना, सन्नेवाल, लुधियाना
११६	आसारामजी, मनसाराम ,,	कटनीकलाँ, लुधियाना
११७	आत्मारामजी व ईश्वरदासजी	सबैना, पटानी, लुधियाना
११८	गोविन्ददासजी ,,	कोट कँगराये, खन्न, लुधियाना
११९	तुलसीरामजी ,,	पंजेर-टका, सन्नेवाल, लुधियाना
१२०	गोपालदासजी	रानिया, सन्नेवाल, लुधियाना
१२१	भक्तरामजी (गृहस्थ)	कोहड़ा, सन्नेवाल, लुधियाना
१२२	साधुरामजी ,,	कोहड़ा, सन्नेवाल, लुधियाना
१२३	गुरुदयालजी ,,	साईयान, लुधियाना
१२४	साधुरामजी ,,	मंगलीकुर्ची, सन्नेवाल, लुधियाना
१२५	अमरदासजी ,,	रामगढ़, सन्नेवाल, लुधियाना

१२६	नन्दरामजी	मानकी, सरवरपुर, लुधियाना
१२७	रामानन्दजी (गृहस्थ)	मुन्नियां, लुधियाना
१२८	पूरणदासजी	मुकुन्दपुर, जालन्धर
१२९	शरणदासजी (गृहस्थ)	जगतपुर, मुकुन्दपुर, जालन्धर
१३०	नारायणदासजी	वंगे, जालन्धर
१३१	मेलारामजी व सेवारामजी (गृहस्थ)	वंगे, जालन्धर
१३२	जैरामदास	भंगल बड़े, नवाशहर, जालन्धर
१३३	मेलारामजी	चालपुर, मोलाबाद, होशियारपुर
१३४	निर्मलदासजी	दौलतपुर, जाडला, जालन्धर
१३५	विशनदासजी	माटोली, नूरपुर, होशियारपुर
१३६	पंचमदासजी	नंगलकलाँ, होशियारपुर
१३७	रामदासजी	सानी, कपूरथला
१३८	कर्णदासजी	ऊचा, कपूरथला
१३९	ब्रह्मदासजी (गृहस्थ)	मोसापुर, ऊचा, कपूरथला
१४०	जीवनदासजी ,,	नंगल, फगवाड़ा, कपूरथला
१४१	सुन्दरदासजी ,,	घुल्लाराई, कपूरथला
१४२	हरिदासजी	धर्मशाला सत्यकरतार, फगवाड़ा, कपूरथला
१४३	महंतनी रामप्यारी (गृहस्थ)	ऐजन, कपूरथला
१४४	महंतनी माई मालिन ,,	ऐजन, कपूरथला
१४५	किशनदासजी ,,	गड़ियरकी धर्मशाला, ऐजन, कपूरथला
१४६	हरिनामदासजी	चाचोकी, फगवाड़ा, कपूरथला
१४७	ईश्वरदासजी (गृहस्थ)	रुड़का कलाँ, कपूरथला
१४८	सन्तरामजी	फासला, जालन्धर
१४९	रतनदासजी (गृहस्थ)	फासला, जालन्धर
१५०	परमानन्दजी	सुड़ा, नूरमहल, जालन्धर
१५१	नारायणदासजी	विलगा, जालन्धर
१५२	रामजीदास (गृहस्थ)	सुड़ा, नूरमहल, जालन्धर
१५३	सुन्दरदासजी ,,	विलगा, जालन्धर

१५४	वीरमदासजी (गृहस्थ)	आदोकाली, नूरमहल, जालन्धर
१५५	हरिदासजी ,,	ऐजन, नूरमहल, जालन्धर
१५६	सुन्दरदासजी ,,	मिठड़ा, नूरमहल, जालन्धर
१५७	वसन्तरामजी	वंडाला, जालन्धर
१५८	रामशरणदासजी, रामआसरेजी, जयरामदासजी (गृहस्थ)	चाँदिया, जालन्धर
१५९	पूरनदासजी ,,	बोपाराय कलाँ, जालन्धर
१६०	सन्तरामजी ,,	ऐजन, जालन्धर
१६१	सन्तरामजी ,,	लीतराँ, जालन्धर
१६२	सन्तरामजी	श्रीशंकर, जालन्धर
१६३	रामदासजी (गृहस्थ)	सिद्धमाँ, जालन्धर
१६४	रामदासजी	वीर, नवांपिण्ड, जालन्धर
१६५	धर्मदासजी	ऊधोवाल, महतपुर, जालन्धर
१६६	ईश्वरदासजी (गृहस्थ)	सोल जगीर, शाहकोट, जालन्धर
१६७	दौलतरामजी ,,	नंगल, जालन्धर
१६८	मेलारामजी	सेचीवाली, साहेपुर, जालन्धर
१६९	केशवरामजी (गृहस्थ)	वाजवे कलाँ, कोट, जालन्धर
१७०	प्रतापदासजी	सेचीवाली, साहेकोट, जालन्धर
१७१	रामानन्दजी	वाजवे कलाँ, कोट, जालन्धर
१७२	हरनामदासजी (गृहस्थ)	काकड़ा कलाँ, लोह्याँ, जालन्धर
१७३	वीरमदासजी ,,	सिन्दड़ा, शाहकोट, जालन्धर
१७४	फग्गूदासजी	ऐजन, शाहकोट, जालन्धर
१७५	विशनदासजी (गृहस्थ)	लसूड़ी, जालन्धर
१७६	विशनदासजी ,,	नूरपुर, नकोतर, जालन्धर
१७७	नारायणदासजी	कल्लरा, ओरकी, जालन्धर
१७८	कृष्णानन्दजी	सिद्धमदोना, कपूरथला
१७९	सरधारामजी (गृहस्थ)	सेन्धवाल, कपूरथला
१८०	यमुनादासजी	हलावलपुर, जालन्धर
१८१	रामस्वरूपजी (गृहस्थ)	मस्तापुर, कर्तारपुर, जालन्धर
१८२	शंकरदासजी ,,	खोजकीपुर, जालन्धर

१८३ माधवदासजी (गृहस्थ)	ऐजन, जालन्धर
१८४ ध्यानदासजी ,,	हीराकापुर, होशियारपुर
१८५ दयानन्दजी	भंगाला, होशियारपुर
१८६ खुशीरामजी (गृहस्थ)	कंगावेट, दुसूहा, होशियारपुर
१८७ हरनामदासजी ,,	कराला कलाँ, दुसूहा, होशियारपुर
१८८ गंगारामजी	अम्बाला, होशियारपुर
१८९ मोहनदासजी (गृहस्थ)	खैरवाँ, टाँडा, होशियारपुर
१९० विशनदासजी ,,	घुंडिया कुटिया रामरंगकी, वराँव, जालन्धर
१९१ हरनामदासजी	रहीमपुर, कर्तारपुर, जालन्धर
१९२ नारायणदासजी	हस्सेवाल, लुधियाना
१९३ अतरदासजी	दातेवाल, लुधियाना
१९४ हरनामदासजी (गृहस्थ)	ललतों, लुधियाना
१९५ भगवानदासजी ,,	दादवड़े, बधूवाल, लुधियाना
१९६ साधुरामजी ,,	ठाकरवाल, ललतों कलाँ, लुधियाना
१९७ मंगलदासजी	हमामपुरा, मसूर, लुधियाना
१९८ मेहरदासजी	धनदराँ, लुधियाना
१९९ पूरणदासजी (गृहस्थ)	खेड़ी, धनदराँ, लुधियाना
२०० माधवरामजी	जसोवाल सुदाका, लुधियाना
२०१ प्रतापदासजी (गृहस्थ)	रायपुर गूजरवाल, लुधियाना
२०२ जागीरदासजी ,,	रंगिया, डेलों, लुधियाना
२०३ मंगलदासजी	मोही, लुधियाना
२०४ हरनामदासजी (गृहस्थ)	साहौल, सहौली, लुधियाना
२०५ हरनामदासजी	मोही, लुधियाना
२०६ विशनदासजी	खंडूल, मनसूर, लुधियाना
२०७ खानदासजी (गृहस्थ)	जसोवाल, लुधियाना
२०८ आत्मप्रकाशजी	माना, मानचौंकी, लुधियाना
२०९ रतनदासजी	बुल्लापुर, लुधियाना
२१० नारायणदासजी (गृहस्थ)	यतीयाना, मानचौंकी, लुधियाना
२११ निरंजनदासजी ,,	शेखूपुरा मानचौंकी, लुधियाना

२१२	ईश्वरदासजी (गृहस्थ)	सिद्धमाँ कलाँ, लुधियाना
२१३	हरनामदासजी „	सिद्धमाँ कलाँ, लुधियाना
२१४	अर्जुनदासजी	भैरोवाल, शब्दनैना, लुधियाना
२१५	हीरादासजी	धेपई, नैना, लुधियाना
२१६	दर्शनदासजी (गृहस्थ)	पूना, जगरावाँ, लुधियाना
२१७	नारायणदासजी	चक्कर, रायकोट, लुधियाना
२१८	ज्वालादासजी	कोकेखुर्द, लुधियाना
२१९	सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	धीडी, गामा, फ़ीरोज़पुर
२२०	वचनदासजी	राऊके, फ़ीरोज़पुर
२२१	सन्तरामजी(गृहस्थ)	माड़ीका, बागेवाला, फ़ीरोज़पुर
२२२	घनानन्दजी	ठटियाँ, समालसर, फ़ीरोज़पुर
२२३	सुन्दरदासजी	धडियेंके, समालसर, फ़ीरोज़पुर
२२४	मोतीरामजी	सूरघुरी, कोटापुरा, फरीदकोट
२२५	विशनदासजी	ऐजन, कोटकापुरा, फरीदकोट
२२६	हरनारायणदासजी	मल्लन, दोदा, फीरोज़पुर
२२७	नारायणदासजी	ऐजन, दोदा, फीरोजपुर
२२८	भजनदासजी	ऐजन, दोदा, फीरोजपुर
२२९	वंशीरामजी	कौनी, दोदा, फीरोजपुर
२३०	सोहनदासजी	दोदा, फीरोजपुर
२३१	जमुनादासजी गुरुमुखदासजी	रुखाला, दोदा, फीरोजपुर
२३२	सर्वानन्दजी	कालझरानी, संगतमण्डी, पटियाला
२३३	पूर्णदासजी	ऐजन, संगतमण्डी, पटियाला
२३४	मंगलदासजी	मान, लम्बीबन्दी, फीरोजपुर
२३५	हरनामदासजी	मसीताँ, लम्बीबन्दी, फीरोजपुर
२३६	नारायणदासजी	खालबाई, गिद्दवाहा, फीरोजपुर
२३७	रिखीरामजी	चन्नु, ऐजन
२३८	नन्दरामजी	अब्वलखराना, फीरोजपुर
२३९	आत्मानन्दजी	रोड़ावाली, लकवेवाली, फीरोजपुर
२४०	संतोषदासजी	मुक्तसर, फीरोजपुर

२४१	संतोपदासजी	कौनी, गुरुका जंड, फीरोजपुर
२४२	सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	बड़े फीडे, बरुवाली, फरीदकोट
२४३	ईश्वरदासजी	उत्तमावाली, बरुवाली, फरीदकोट
२४४	प्रतापदासजी	खारा, कोटकापुरा, फरीदकोट
२४५	रामदासजी	खिड़कियाँवाला, बरुवाली, फीरोजपुर
२४६	परमानन्दजी	अवलूकोटली, फीरोजपुर
२४७	मोतीरामजी (गृहस्थ)	दयोंन, नाइयाँवाला, फरीदकोट
२४८	दशहरादासजी	चप्पाटिव्वा समालसर, फरीदकोट
२४९	कृष्णानन्दजी	बुर्जहरीका, समालसर, फीरोजपुर
२५०	बुद्धदासजी	कोठा गुरुका, पटियाला
२५१	हरिदासजी	गंगानथाना, नथाना, फिरोजपुर
२५२	विशुनदासजी	गोविन्दपुर, कुशवा, फीरोजपुर
२५३	हंसदासजी	फत्तेकोट, पटियाला
२५४	यमुनादासजी	ऐजन, पटियाला
२५५	गंगेश्वरानन्दजी(गृहस्थ)	चक हरिसिंह, पक्का, पटियाला
२५६	भक्तरामजी (गृहस्थ)	रघुवाला, पटियाला
२५७	महताबदासजी	सिंगपुर, सावोकी तलमंडी, पटियाला
२ ८	स्वरूपदासजी	महावत लैरा, पटियाला
२५:	रामदासजी	पक्को, लुधियाना
२६०	इन्द्रदासजी	कौंडेवाल कोटरा, रामपुरमंडी, लुधियाना
२६१	बालकदासजी	जेठूके, कानसोवाला, लुधियाना
२६२	कानदासजी	धिंगड़, कानसोवाला, लुधियाना
२६३	अतरदासजी	अलीवे, लुधियाना
२६४	आत्मारामजी	बड़े सिद्ध, भधौड़, पटियाला
२६५	मोहनदासजी	ऐजन, भधौड़, पटियाला
२६६	जवरदासजी	जंगीयाना, भधौड़, पटियाला
२६७	धर्मदासजी	रामगढ़, बिलल, पटियाला
२६८	गुरुप्रसादजी	भिंडरा, फीरोजपुर
२६९	अतरदासजी	चुगे, धर्मकोट, फीरोजपुर
२७०	कृपारामजी	वडवाल, फीरोजपुर

२७१	भगवानदासजी	छोटी पोखरी, फीरोजपुर
२७२	चैतन्यदासजी	भिंडरा, फीरोजपुर
२७३	भगवानदासजी	लोहगढ़, मोगा, फीरोजपुर
२७४	सन्तरामजी	गागड़ा, कोट, फीरोजपुर
२७५	सुन्दरदासजी	मसूरवाला, जीरा, फीरोजपुर
२७६	हरपालदासजी	पट्टी, मक्खू, फीरोजपुर
२७७	हरनामदासजी	खचड्डूर, मक्खू, फीरोजपुर
२७८	लक्ष्मणदासजी	छोरी ठट्टियाँ, पट्टी, लाहौर
२७९	भक्तरामजी	भैनी मस्सासिंहकी, अलगू, लाहौर
२८०	मोहनदासजी	चड्डानका, लाहौर
२८१	मेहरदासजी	रायपिण्ड, लाहौर
२८२	सोहनदासजी	धुन्दे, रायपिण्ड, लाहौर
२८३	दयालदासजी	मानोचहल, अमृतसर
२८४	वीरदासजी	डूंगरी, ठोटेवाल, "
२८५	सोहनदासजी (गृहस्थ)	संगतपुरा, ब्रह्मपुर, "
२८६	वैसाखीदास	जाम्मराय, "
२८७	अनन्तानन्दजी	किशनपुर, फीरोजपुर
२८८	वचनदासजी	गालवमण्डी, लुधियाना
२८९	ठाकुरदासजी	भम्मीपुरा, जगरामाँ, लुधियाना
२९०	नन्दरामजी	लम्बे, वसियाँ, लुधियाना
२९१	रामानन्दजी	छोटे राजवाना, " "
२९२	बुद्धदासजी	कलासियाँ, लोटवद्दी, नाभा
२९३	रौनकीदास (गृहस्थ)	रायकोट, लुधियाना
२९४	तोतीरामजी (गृहस्थ)	ताजपुर, रायकोट, लुधियाना
२९५	विशुनप्रसादजी	रामगढ़, रखवारा, लुधियाना
२९६	सुखदासजी	धद्दाहूर, लोटवद्दी, नाभा
२९७	कर्नैलदासजी (गृहस्थ)	मूमा, पधौढ़, पटियाला
२९८	हरनामदासजी (गृहस्थ)	ब्रह्मपुर, पधौढ़, लुधियाना
२९९	दर्शनदासजी	सिलोटवधी, नाभा
३००	किशनदासजी	सुआजपुर, लोटवद्दी, नाभा

३०१	धर्मदासजी	गहल, पटियाला
३०२	रिखीरामजी	रायसर, बरनाला, पटियाला
३०३	ईश्वरानन्दजी	सैजेड़े, बरनाला, पटियाला
३०४	मानकदासजी	संघेड़े, बरनाला, पटियाला
३०५	नानकशरणजी	ऐजन, बरनाला, पटियाला
३०६	उत्तमदासजी	धनौला, नाभा
३०७	संतरैन (गृहस्थ)	ऐजन, नाभा
३०८	ईश्वरानन्दजी	धूनेका कोट, पटियाला
३०९	लालदासजी	ऐजन, पटियाला
३१०	ब्रह्मदासजी	राजियाँ, धनौला, नाभा
३११	गोपालदास, ज्ञानदास	बड़ा किवा, पिक्खी, पटियाला
३१२	ओंकारदासजी	कोटला, पिक्खी, पटियाला
३१३	हंसदासजी	सजादेवाला खीवा, पिक्खी, "
३१४	माधवानन्दजी	तामकोट, पटियाला
३१५	जवाहरदासजी	मानसा, पटियाला
३१६	मानदासजी (गृहस्थ)	जवाहरके, पटियाला
३१७	कानदासजी	कलियानी, हिसार
३१८	उत्तमस्वरूप	आलमपुर मन्दरा, बोहा, पटियाला
३१९	हंसदासजी	वारे, पटियाला
३२०	अखण्डानन्दजी	बड़े वीरोंके, पटियाला
३२१	उत्तमदासजी	बल्लरे, जाखल, पटियाला
३२२	ईश्वरदासजी	अमीरगढ़, पटियाला
३२३	गिरिजानन्दजी	कल्लरभैंड़ी, मानोका, पटियाला
३२४	केवलानन्दजी	छाजली, पटियाला
३२५	ब्रह्मानन्दजी	ऐजन, पटियाला
३२६	किशनदासजी	छाजली, पटियाला
३२७	टहलदासजी	ऐजन, पटियाला
३२८	लक्ष्मणदासजी	ऐजन, पटियाला
३२९	पूरणदासजी	ऐजन, पटियाला
३३०	भक्तरामजी	जखेपल, पटियाला

३३१ आत्मारामजी	जाखल, पटियाला
३३२ ब्रह्मस्वरूपजी	मांहला, जींध
३३३ मणिरामजी	सनाम, जींध
३३४ जवाहरदासजी	शेरों, सनाम, पटियाला
३३५ अर्जुनदासजी	शहपुर, सनाम, पटियाला
३३६ पूर्णदासजी	बाजेवाल, पटियाला
३३६ विशनदासजी, नारायणदासजी	कुब्बराँ, धनौला, नाभा
३३८ जवाहरदासजी	वलियाँ, शेखा, पटियाला
३३० कृपालदासजी	रंगियाँ, शेखा, पटियाला
३४० चेतनदासजी	मुसहापुर, अवलाना, पटियाला
३४१ चेतनदासजी	हरिगढ, धनौला, नाभा
३४२ भगवानदासजी	मुलहापुर, धनौरी वडी, पटियाला
२४३ बचनदासजी	बड़ी गन्नोरी, पटियाला
३४४ तुलसीदासजी	ऐजन, पटियाला
३४५ चैतन्यदासजी	गुच्छहींपुर, पटियाला
३४६ देवादासजी	ऐजन, पटियाला
३४७ शंकरानन्दजी	मामगढ, मलेरकोटला
३४८ प्रेमदासजी	धनेर, कगनवाल, मलेरकोटला
३४९ ज्ञानदासजी	दलीज जयिडयाली, अहमदगढ, मलेरकोटला
३५० गोरखदासजी	रसीन, अहमदगढ, लुधियाना
३५१ प्रीतमदासजी (गृहस्थ)	खताला, अहमदगढ, लुधियाना
३५२ गंगारामजी	सठियाला, अमृतसर
३५३ ईश्वरदासजी	धर्मचक्र, मसोपुर, अमृतसर
३५४ सेवादासजी	बोराला, मसोपुर, अमृतसर
३५५ यमुनादासजी	नानकचक, कालापठाल, गुरुदासपुर
३५६ दर्शनदासजी	गुम्मन, नसेरा, गुरुदासपुर
३५७ परमानन्दजी	वग्गूआना, नसेरा, गुरुदासपुर
३५८ रामदासजी	काना, कलानो, गुरुदासपुर

३५९	रामदासजी	भैरवाना, गुरुदासपुर
३६०	सुन्दरदासजी	नेजे, गुरुदासपुर
३६१	सोहनदासजी	नानोंके, सिद्धार, अमृतसर
३६२	ठाकुरदासजी	कक्केके, स्यालकोट
३६३	मंगलदासजी	डेरा नानक, गुरुदासपुर
३६४	पूरणदासजी	पीरोंचक, स्यालकोट
३६४	हरनामदासजी	जीमके, स्यालकोट.
३६६	वचनदासजी	चोबच्चा साहब गुरुरामराय, लाहौर
३६७	विवेकदासजी	महापुर खारा, गुजरात (पंजाब)
३६८	हरनामदासजी	ननकाना साहब, शेखूपुर
३६९	वचनदासजी	छ चक, शेखूपुर
३७०	वचनदासजी	ननकाना, शेखूपुर
३७१	शुकदेवजी, तिप्परचन्दजी (गृहस्थ)	जसपाल, गिल्ल, लुधियाना
३७२	खजानदासजी	मेदपुर, सानवाल, लुधियाना
३७३	मेहरदासजी	श्रीशंकर, लुधियाना
३७४	भोलारामजी	सीलों, डिलों, लुधियाना
३७५	सन्तरामजी	घुड़ियानी, लुधियाना
३७६	मानदास, रतनदास (गृहस्थ)	खरेड़, डिलों, लुधियाना
३७७	नारायणदासजी (गृहस्थ)	जनौज, दुराहमण्डी, पटियाला
३७८	प्रेमदासजी, मोतीरामजी (गृहस्थ)	घुड़ीनी, पटियाला
३७९	हरिप्रकाशजी	कर्तारपुर, लुधियाना
३८०	मस्तरामजी (गृहस्थ)	पैल, पटियाला
३८१	सुन्दरदासजी	जरगड़ी, जर्ग, पटियाला
३८२	कृपारामजी	लसोई, पटियाला
३८३	भगवानदासजी	जर्ग, पटियाला
३८४	कृपालदासजी	छोटी रोनां, एकलाहा, लुधियाना
३८५	दादारामजी (गृहस्थ)	राजेवाल, एकलाहा, लुधियाना

३८६ जागीरदासजी — बड़ी रोनां, ऐजन
३८७ ब्रह्मदासजी — फिरूसाँ, भमण्डी, लुधियाना
३८८ निरंजनदासजी — चकोरी, भमण्डी, लुधियाना
३८९ नन्दरामजी — मानकी, सखरपुर, लुधियाना
३९० मस्तरामजी — जस्सड़, नाभा
३९१ धर्मस्वरूपजी — नारायणगढ़, मलोह्, नाभा
३९२ तनप्रकाशजी — भद्दथुश्रा, मलोह्, नाभा
३९३ अतरदासजी — छोटी चनाथल, बड़े चनाथल, पटियाला
३९४ अमरदासजी — भडौर, पटियाला
३९५ श्यामदासजी — बुलिह्दी, सटिवाला, पटियाला
३९६ पंजाबदासजी दुग्धाहारी — पटियाला
३९७ हरिकिशनदासजी — नई दिल्ली
३९८ चरणदासजी — जन्तरमन्तर रोड, पञ्चकुईं, नई दिल्ली
३९९ फत्तेदासजी — रामटेक, कानपुर
४०० गुरुप्रसादजी — जलालगंज, कानपुर
४०१ हरकादासजी — भैरोघाट, कानपुर
४०२ यमुनादासजी — स्वामीघाट, मथुरा
४०३ इन्दरदासजी — वृन्दावन

धूणा अलिमत्त (अलमस्त) साहबकी पद्धतिके आश्रम और महन्तगण

१ हरिप्रसाददासजी — सैदपुर, गाजीपुर
२ जगन्नाथदासजी — सहदाद, आजमगढ
३ बालकिशोरदास (गृहस्थ) — ब्रह्मपुर, सहदाद, आजमगढ
४ हरिदासजी — गाजीपुर
५ द्वारकादासजी — रेवतीपुर, गाजीपुर
६ रामस्वरूपदासजी — डुमरावँ, आरा

७	लक्ष्मणदासजी(गृहस्थ)	सुखपुर, हनुमानगंज, आरा
८	संगमदासजी	नमेज, छपरा
९	रामदयालदासजी(गृहस्थ)	लेई, पटना
१०	गुरुप्रसादजी	फलवाड़ी, पटना
११	रामदासजी	देवघाट, गया
१२	प्रीतमदासजी	नगाया, गया
१३	जमुनादासजी	भीदेजा, मुनिबादगंज, गया
१४	द्वारकादासजी	चर्खाघाट, पटना
१५	खेमकरणजी	सूआ, डूँगी, गया
१६	लालदासजी	सखाफतेहपुर, डूँगी, मुंगेर
१७	जगन्नाथदासजी	कटौना, वारसलीगंज, गया
१८	बालगोविंददासजी	कतरीगंज, वारसलीगंज, मुंगेर
१९	गुरुप्रसादजी	जमदाहा, दरभंगा
२०	मनोहरदासजी (गृहस्थ)	रिपोली, जमदाहा, मुजफ्फरपुर
२१	गोपालदासजी	खंजवती, मनार, मुजफ्फरपुर
२२	नानकशरणजी	गाजीपुर
२३	माई साहेबजी	मजेमपुर, दोवारा, छपरा
२४	रामचरणदासजी	ओसरों, रसनपुर, छपरा
२५	हरिचरणदासजी	विक्रमपुर, मरोहण, छपरा
२६	हरिदासजी	मुजफ्फरपुर
२७	संतशरणदासजी	भागलपुर
२८	लालदासजी (गृहस्थ)	सागरथ, दुर्गागंज, पुर्णिया
६९	दौलतरामजी (गृहस्थ)	अंगपाद, उज्जैन
३०	शान्तिस्वरूपजी	भदैनी, वाराणसी
३१	सेवादासजी	खजूरहाट, फैजाबाद
३२	भगवान् गुरुप्रसादजी	कटरा, बेला, प्रतापगढ़
३३	अयोध्यादासजी	हरीमहू, जगदीशपुर, सुलतानपुर
३४	अयोध्यादासजी	देवगाँव, देवगंज, फैजाबाद
३५	श्यामदासजी	खलीयाबाद, बाराबंकी

३६	गुलाबजी	नवाबगंज, गोंडा
३७	गुरुचरणदासजी (गृहस्थ)	गोंडा
३८	मलूकदासजी	कर्नलगंज, गोंडा
३९	कुमेरदासजी (गृहस्थ)	मीनापुर, कंडैलगंज, गोंडा
४०	जानकीदासजी	खारी, कर्नलगंज, गोंडा
४१	पंथदासजी	गोदड़ी छोटा, बड़ैच
४२	ईश्वरदासजी	कानूगोपुरा, बड़ैच
४३	गुरुनारायणदासजी	ढंडीवा परमपुर, बड़ैच
४४	बटोरनदासजी	पटसी झाडी, परमपुर, बड़ैच
४५	बटोरनदासजी	भमरा, परमपुर, बड़ैच
४६	दामोदरदासजी	जखल, बड़ैच
४७	श्यामदासजी	जखलमार्ग, बड़ैच
४८	सेवादासजी	हजरतपुर, बुडवल, बाराबंकी
४९	नौमीदासजी	हकैतनगर, बाराबंकी
५०	भगवानदासजी	भगवानदासजीकी धोली, सुगदत्तगंज, बाराबंकी
५१	विशनप्रतापजी	जकड़ियाँ, मसवोली, बाराबंकी
५२	द्वारकादासजी	सतरफ, बाराबंकी
५३	गुरुप्रसादजी (गृहस्थ)	जहाँगीराबाद, बाराबंकी
५४	रामखेलावनदासजी	भगहरी, सूरतगंज, बाराबंकी
५५	निर्मलप्रकाशजी	मझारी, सूरतगंज, बाराबंकी
५६	नानकप्रकाशजी	गुरसेल, सोडियामऊ, बाराबंकी
५७	संतोपदासजी	गुरसेल, सोडियामऊ, बाराबंकी
५८	भगवानदासजी	फतेहपुर
५९	करनदासजी	चरखा, फतेहपुर
६०	रघुबरदासजी	सीतापुर
६१	त्रिवेणीदासजी	खीरी
६२	विश्वेश्वरदासजी (गृहस्थ)	मेखाभेड़, तममोर, सीतापुर
६३	ठाकुरदासजी	तममोर, सीतापुर
६४	मंगलदासजी (गृहस्थ)	पिपरौली, पैंतेपुर, बाराबंकी

६५ लक्ष्मीदासजी (गृहस्थ)	रसीवट, लखनऊ
६६ गुरुचरणदासजी	शाहजहाँपुर
६७ गुरुवक्तदासजी	तिलहर, शाहजहाँपुर
६८ रामदासजी	बाँसबरेली
६९ प्रेमदासजी	सराँफनगर, शेरगढ़, इटावा
७० सेवादासजी	मोहल्ला राजाकी हट, सहारनपुर
७१ परमानन्दजी	घड्डुवाँ, पटियाला
७२ हरिनामदासजी (गृहस्थ)	घड्डुवाँ, पटियाला
७३ कानदासजी	बूढ माजरा, मोरड़ा, अम्बाला
७४ अमरदासजी	डुमखेड़ो, मोरड़ा, अम्बाला
७५ गंगाप्रसादजी	डुमखेड़ो, मोरड़ा, अम्बाला
७६ रामप्रसादजी	तिलाकी, मोरडा, अम्बाला
७७ यतिरामजी	नंदपुरकलाँ, पटियाला
७८ साधुरामजी	नंदपुरकलाँ, पटियाला
७९ प्रीतमदासजी (गृहस्थ)	मल्लोकी (मोहल्ला), लुधियाना
८०. हरिदासजी	ढ्डोफर, जालन्धर
८१ ज्वालादासजी	मोरों, जालन्धर
८२ खरजूदासजी	कितना, होशियारपुर
८३ ठाकुरदासजी	धुलाराई, कपूरथला
८४ धर्मदासजी	डफ्फर ढकी, होशियारपुर
८५ भक्तराम ज्ञानीजी	ढकी, होशियारपुर
८६ सन्त रामदासजी	अमृतसर
८७ हरिप्रकाशजी	अमृतसर
८८ वसन्तदासजी (गृहस्थ)	ज्ञानीजीकी धर्मशाला, कुम्भटाला, अमृतसर
८९ दयारामजी (गृहस्थ)	दैत्यवाल, लुधियाना
९० खजानदासजी	सरदारवालो, लुधियाना
९१ मालदासजी (गृहस्थ)	आलूवाल, लुधियाना
९२ ब्रह्मदासजी	गदरवाँ, लुधियाना
९३ पुरुषोत्तमदासजी	डाला, फिरोजपुर

९४ गुरुमुखदासजी	पँचगाई, खमालसर, फिरोजपुर
९५ भजनदासजी	कोटकापुरा, फरीदकोट
९६ भोलादासजी	माईका कोट, लुधियाना
९७ सन्तरामजी	जंगीराना, चल्लुयाना, पटियाला
९८ नगनदासजी	सिखमाकार, भटियडा, पटियाला
९९ साहेबदासजी	भक्तुआना, जैतो, नाभा
१०० दयालदासजी (गृहस्थ)	गोविंदपुर, नथाना, फिरोजपुर
१०१ सन्मुखानन्दजी	गुरुसर, दमदमासाहेब, पटियाला
१०२ बालकरामजी	पटोल, जीरा, फिरोजपुर
१०३ सुन्दरदासजी	अमीसा, खाडी, लाहौर
१०४ दर्शनदासजी	भूचर, भूचरकलाँ, अमृतसर
१०५ साधुरामजी	गयढीपियड, अमृतसर
१०६ जमुनादासजी	करपाट, खारडा, लाहौर
१०७ विशनदासजी	रखवगौथा, धीमंडी, लाहौर
१०८ आत्मारामजी	मानोचहल, अमृतसर
१०९ आत्मारामजी	रामजीवन्दे, केरों, अमृतसर
११० भगवानदासजी	नन्दपुर, नसेरा, अमृतसर
१११ हरिप्रकाशजी	वडे राजवाना, वसियाँ, लुधियाना
११२ ब्रह्मदासजी	वसियाँ, लुधियाना
११३ हरनामदासजी (गृहस्थ)	छजवाल, रूमी, लुधियाना
११४ सन्तरामजी (गृहस्थ)	रायकोट, लुधियाना
११५ भक्तरामजी	जौन, लोटवद्दी, नाभा
११६ हरदत्तदासजी (गृहस्थ)	अखोवार, लुधियाना
११७ नारायणदासजी निरंजनदासजी, तुलसीदासजी (गृहस्थ)	बड़े छीनेवाल, महलवड़े, पटियाला
११८ दयारामजी	धनौला, पटियाला
११९ हरचन्ददासजी	वन्दरा, कालके, पटियाला
१२० मंगलदासजी	घड़ियाली, महल, झींद
१२१ सरनदासजी	लौंगोवा, पटियाला

१२२ दर्शनदासजी	लौंगोवा, पटियाला
१२३ नन्दरामजी	पंडोरी, बड़े महल, लुधियाना
१२४ मोहनदासजी	घरदेयाँ, अमृतसर
१२५ कानदासजी	भीलोवाला, अमृतसर
१२६ सन्तरामजी (गृहस्थ)	वज्जोवान, अमृतसर
१२७ गुरुमुखदासजी	गक्खनपिंडी, अमृतसर
१२८ हरनामदासजी	गक्खनपिंडी, अमृतसर
१२९ ईश्वरदासजी (गृहस्थ)	जीराने, अमृतसर
१३० प्रीतमदासजी	मेहमाचक, भोलोंके, गुरुदासपुर
१३१ परमानन्दजी	गुजराँवाला
१३२ हरवंशदासजी (गृहस्थ)	गुल्लाहूर,गुजराँवला
१३३ जयप्रकाशजी(गृहस्थ)	उचाँड़के, गुजराँवाला
१३४ धर्मदासजी	लोवाना, गुजराँवाला
१३५ साधुरामजी (गृहस्थ)	अटारी, अमृतसर
१३६ कौलदासजी	मल्लू नंगल, अमृतसर
१३७ बिशनदासजी	मल्लू नंगल, अमृतसर
१३८ गुरुप्रसादजी	चेतनपुर, अमृतसर
१३९ साधुरामजी	लूगेरका, अमृतसर
१४० हरनामदासजी	कपूरगढ़, धन्दवन्द, नाभा
१४१ गोपालदासजी (गृहस्थ)	मुल्लापुर, जर्ग, पटियाला
१४२ भगवानदासजी (गृहस्थ)	नाभा
१४३ परमानन्दजी	इटावा
१४४ सन्तशरणजी	इटावा
१४५ बिशनदासजी	शकूराबाद, मैनपुरी
१४६ श्यामदास गुरुबानदास	हैदराबाद दक्षिण
१४७ मङ्गलदासजी (गृहस्थ)	उदासीन टोला, मथुरा
१४८ नानकप्रकाशजी	दयालपुरा, बल्लभगढ़, गुड़गावँ
१४९ बिशनदासजी	कोटवन, कोसी, मथुरा

अजीतमल पद्धतिके आश्रम तथा महन्त-गण

१५०	शंकरदासजी	टांडा, फैजाबाद
१५१	काशीरामजी	चोरा बजार, फैजाबाद
१५२	निक्कूरामजी	फतेहपुर, सुलतानपुर
१५३	निक्कूरामजी	सुलतानपुर
१५४	मनसादासजी	सोनसरी, सुलतानपुर
१५५	शिवचरणदासजी	आसकाबाद, सलोन, रायबरेली
१५६	बसन्तदासजी	नदौरा, इटौरा, रायबरेली
१५७	शिवचरणदासजी	नरायनचक, शिवरतनगंज, रायबरेली
१५८	ब्रह्मदासजी	बस्ती

सोढी पद्धतिके आश्रम तथा महन्त-गण

१५९	नानकशरणजी	संगत कटरा, खैराबाद, सीतापुर
१६०	नानकप्रकाशजी	बिलगा, जालंधर
१६१	जीवनदासजी	गड्डुवा, फगवाडा, कपूरथला
१६२	सच्चिदानन्द	दोदा, फिरोजपुर
१६३	मुक्तानन्दजी	वसियाँ, हवोरमंडी, फीरोजपुर
१६४	आत्मारामजी	हवोर, फीरोजपुर
१६५	आत्मारामजी	मुक्तसर, फिरोजपुर
१६६	लालदासजी	संग गुरुका, गुरुका जंड, फरीदकोट
१६७	परमानन्दजी	अवलूकोटली,. फीरोजपुर
१६८	ब्रह्मप्रकाशजी	आकलिया, जोगा, पटियाला
१६९	रामदासजी	सठियानी; भाई फेरू, फिरोजपुर
१७०	माई रामीजी	घीमंडी, लाहौर
१७१	लक्ष्मणदासजी	खोखरवड्डी, मानसा, पटियाला
१७२	रूपरामजी	सद्दा सिंहवाला, मानसा, पटियाला
१७३	आत्मारामजी	मानसा, पटियाला

१७४ सदानन्दजी	फग्गू, सलियानी, हिसार
१७५ सन्तरामजी	पीरो, मानसा, पटियाला
१७६ हरनामदासजी	मल्लासिंहवाला, वोहा, पटियाला
१७७ ईश्वरदासजी	दोदड़े, बुडलाडा, हिसार
१७८ तोतारामजी	दातेवास, हिसार
१७९ सन्तरामजी	नङ्गल, छाजली, पटियाला

धूना पुष्पदेवजी (फूल साहब) की पद्धतिके

आश्रम और महन्तगण

१ मस्तराम	पंचोखर, दिलदारनगर, गाजीपुर
२ ईश्वरदास	मनार, मुज़फ्फ़रपुर
३ मंगलदास	ऐजन, मुज़फ्फ़रपुर
४ भक्तदास (गृहस्थ)	आसाम, हसनपुर, छपरा
५ लक्ष्मणदास	रूसड़ा; दरभंगा
६ सुन्दरदास	कुलैडरिया, खटौना, दरभंगा
७ रामदास	बारकपुर, हुगली, कलकत्ता
८ आत्मस्वरूप	चिखली, बुलडाना
९ भाई मुन्नादास	रायबरेली
१० गुरुनारायणदास	मूसावन्द, ऐजन, रायबरेली
११ चतुरदास	जटाशंकरी, गोरखपुर
१२ भगौतीदास	चनौक, गोरखपुर
१३ प्रेमदास	बड़ैच
१४ बहादुरदास	बोहना, केढ़ियाँ, सीतापुर
१५ सेवादास	लखीमपुर, खीरी
१६ नजीरदास	डालीगंज, लखनऊ
१७ मोहनदास	सीतापुर
१८ पूरणदास	मसुन्निआ, सीतापुर
१९ तेजदास (गृहस्थ)	नगीना, बिजनौर
२० धूनीदास	सालिगरामके बगीचेके पास, लुधियाना

२१ अर्जुनप्रकाश	सहराला गनुआका, खराला, जालंधर
२२ धर्मदास	अनियाँचक, अपरा, जालंधर
२३ माई सम्बाकौर (गृहस्थ)	महरमपुर, अटरी, जालंधर
२४ वीरनदास	ढाहा, वग्गा, जालधर
२५ ज्वालादास	पहली रामफाड़ी, साहेवा, होशियारपुर
२६ भगवानदास	क्रिशनपुर, होशियारपुर
२७ नारायणदास (गृहस्थ)	रुडकी सैंरियाकी, शंकरगढ़, होशियारपुर
२८ भगवानदास	भरौवाल, होशियारपुर
२९ विष्णुदास (गृहस्थ)	श्यामचौरासी, होशियारपुर
३० धूनीदास	सिंहकी पट्टीसूरत, होशियारपुर
३१ विशनदास (गृहस्थ)	ऐजन, होशियारपुर
३२ विशनदास	पोशी, होशियारपुर
३३ ईश्वरदास	सरलाँ
३४ खेमदास	चीनीघाटी, मेली, होशियारपुर
३५ केशवानन्द (गृहस्थ)	जयडोली, होशियारपुर
३६ वसन्तदास ,,	लैली जंडोली, होशियारपुर
३७ भगवानदास	बम्बेवली, होशियारपुर
३८ गंगादास	बस्वेवली, होशियारपुर
३९ निरंजनदास	खयडुरसाहेब, सुसोली, होशियारपुर
४० दर्शनदास	राजपुर, नङ्गलकलाँ, होशियारपुर
४१ भगवानदास	खडोदी, नङ्गलकलाँ, होशियारपुर
४२ आत्मप्रकाश	महेलीआना, लखपुर, जालन्धर
४३ कानदास	कल्याण, पालपेटा, कपूरथला
४४ मङ्गलदास	रामपुर सोनढा, पालपेटा, कपूरथला
४५ प्रेमदास (गृहस्थ)	जगतुपुर कुलियाँ, फराला, कपूरथला

४६ सुन्दरदास	खेड़ा, फगवाड़ा, कपूरथला
४७ ब्रजलाल	थंडालका, नूरमहल, जालन्धर
४८ ईश्वरदास	चकबागडियाँ, जालन्धर
४९ विशनदास	ऐजन, जालन्धर
५० रतनदास	मीहेम, नकोदर, जालंधर
५१ ज्वालादास (गृहस्थ)	रोकादी बिल्ली, खानपुर, जालंधर
५२ भक्तराम ,,	दोलीके, अलावलपुर, जालंधर
५३ भक्तराम ,,	पयडोरोनी जराँकी, जालंधर
५४ विशनदास ,,	श्यामचोरासी, होशियारपुर
५५ हीरादास	माणको, जालन्धर
५६ जगतराम	माणको, कालंधर
५७ भगवानदास	घड़ियाल, होशियारपुर
५८ भगवानदास	प्यालाँ, कयडोरी, होशियारपुर
५९ विशनदास	बहादुरपुर, होशियारपुर
६० शरणदास	चकराला, कर्तारपुर, जालन्धर
६१ दर्शनदास	ब्यासपिंड, कर्तारपुर, जालन्धर
६२ विशनदास	दोदे तलवंडी, करतारपुर, जालन्धर
६३ ब्रह्मदास	कालमा, करतारपुर, जालन्धर
६४ विशनदास	तिखनिबद्ध, वोहर, फिरोजपुर
६५ हीरानन्द	सैंदोचक्र, जलालपुर मयडी, फिरोजपुर
६६ धर्मदास	कोठा गुरुका, पटियाला
६७ वीरमदास	भिडराँ, पटियाला
६८ सन्तराम	जस्सीपौं, भटिंडा, पटियाला
६९ सुखदेवदास	सुमासिंहकी तलमयडी, पट्टी, लाहौर
७० मानदास	पठन, जामाराय, अमृतसर
७१ देवादास (गृहस्थ)	संगतपुर, ब्रह्मपुर, अमृतसर
७२ मेरदास	फत्ता मायोंका, पटियाला

७३ आत्मस्वरूपजी	फतेपुर, वोहा, पटियाला
७४ सन्तरामजी	ठुडियाँ, पटियाला
७५ मदनरूपजी	लेलवडी, जाखल, पटियाला
७६ नारायणदासजी (गृहस्थ)	छोटी धनौरी, शेरपुर, पटियाला
७७ नवेदनदासजी	छोटी धनौरी, शेरपुर, पटियाला
७८ पूर्णदासजी (गृहस्थ)	हेड़ीके, पटियाला
७९ हरनामदासजी	सुहानके, जतवाल, मलेरकोटला
८० मेहरदासजी	सठियाला, अमृतसर
८१ गुरुमुखदासजी	करालियाँ, अमृतसर
८२ जगतरामजी	साहेपुर, अमृतसर
८३ हरप्रसादजी	दुलचियाँ, लुड्डियाँ, लायलपुर
८४ जमुनादासजी	इटावा
८५ गोपालानन्दजी	अमेर विहार, विहार, पटना
८६ प्रेमदासजी (गृहस्थ)	बुड़ावड़, होशियारपुर

धूना मोहाँ साहबकी पद्धतिके आश्रम और महन्तगण

१ अयोध्यादासजी	किराकत, जौनपुर
२ गंगारामजी	डोभी, देवगाँवँ, आज़मगढ़
३ रघुनन्दनदासजी	बलिया
४ सूर्य्यदासजी	वैरिया, रानीगंज, बलिया
५ खेत्रादासजी	सिताब दियरा, छपरा
६ हरनामदासजी	गया
७ आज्ञारामजी	गया
८ केशरदासजी (गृहस्थ)	मानपुर, मुनियादगंज, गया
९ हरिदासजी (गृहस्थ)	कावा, मेलसा, पटना
१० सेवादासजी	फतुआ, गया
११ संगलवाला अखाडा	अमृतसर
१२ श्यामदासजी (गृहस्थ)	रानीपुर, बेगमसिटी, पटना

१३ लड्डूदासजी	गोविन्दपुरा, फतुआ, पटना
१४ पञ्चमदासजी	घुसवरी, पटना
१५ बद्रीदासजी	नूरसहाय, पटना
१६ भगवानदासजी	मस्वाईगंज, पटना
१७ सरमुखदासजी	पाण्डेपुर, राजगृह, पटना
१८ अयोध्यादासजी	धनियापहाड़ी, नारदीगंज, गया
१९ सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	मालती, तुंगी, डूँगी, गया
२० सेवादासजी	अमामा, रजौली, गया
२१ राघवदासजी (गृहस्थ)	दलसिंहसराय, दरभंगा
२२ रामदासजी (गृहस्थ)	दलसिंहसराय, दरभंगा
२३ भगवतदासजी (गृहस्थ)	सलारा, जमदाहा, दरभंगा
२४ परमानन्दजी	छपरा
२५ परमानन्दजी	छपरा
२६ ज्ञानदासजी	सन्तनारा, मुज़फ्फरपुर
२७ त्रिवेणीदासजी (गृहस्थ)	रुक्तड़ा, दरभंगा
२८ किशनदासजी	बेगूसराय, मुंगेर
२९ विशनदासजी	जमालपुर, मुंगेर
३० निक्कूरामजी	बन्सी, दुमका
३१ रामदासजी	खेरिया, पूर्णिया
३२ लछरामदासजी	कसना, पूर्णिया
३३ सन्तदासजी	साहेबगंज, दुमका
३४ सेवानन्दजी	अटक, कटक
३५ परमात्मादासजी (गृहस्थ)	रविरखेड़ा, अमरावती
३६ अर्जुनदासजी (गृहस्थ)	अमरावती
३७ अद्वैतप्रकाशजी	खामगाँवँ, बुलडाना
३८ गोविन्ददासजी	अलवाल
३९ निर्मलदासजी	अलवाल
४० बालकदासजी	धोलका, अहमदाबाद
४१ भगवतदासजी	अयोध्या, फैजाबाद

४२	सेवादासजी	टिकरी, धमोल, सुलतानपुर
४३	कुबेरदासजी	सरोली, अखियापुर, बस्ती
४४	लक्ष्मीदासजी (गृहस्थ)	खरस, उज्जैन
४५	कुबेरदासजी	उर्दूबाजार, गोरखपुर
४६	कुबेरदासजी	सरोली मदरसा, खलीलापुर, बस्ती
४७	गंगादासजी	रिसिया, बहैच
४८	हरिदासजी	करमुल्लापुर, सर्वतगंज, बाराबंकी
४९	स्वरूपदासजी	पुलिस लाइन, सीतापुर
५०	ज्ञानदासजी	सुगामऊ, चनहट, लखनऊ
५१	अनन्तदासजी	चनहट, लखनऊ
५२	हरखरामजी	अलीगंज, हसनगंज, लखनऊ
५३	हरिकिशनदासजी	हजाराबाद, लखनऊ
५४	हरिभजनदासजी	पीपलगाँवँ, लखनऊ
५५	हरिनारायणदासजी	खेराबाद, सीतापुर
५६	त्रिवेणीदासजी	कबरा, कटरा, शाहजहाँपुर
५७	अखाड़ा संगलवाड़ा	अरुबरपुर ऊदगाँवँ, सुलतानपुर, सहारनपुर
५८	जमुनादासजी	माजरी, काशपुर, देहरादून
५९	जवाहरदास	बनूण, पटियाला
६०	हरिनामदासजी (गृहस्थ)	फैरोमाजरा, मनौली, अम्बाला
६१	प्रीतमदासजी	नाभा, सोढ़दियालपुर, पटियाला
६२	मनसारामजी	कहीड़, फैरोमाजरा, सोहाना, अम्बाला
६३	भगवानदासजी	कुम्बड़ा, सोहाना, अम्बाला
६४	कानदासजी	मनौली, अम्बाला
६५	सुन्दरदासजी	तसौली, मानिकपुर, पटियाला
६६	नारायणदासजी	रोपड़, अम्बाला
६७	हरिदासजी (गृहस्थ)	घूरड़े, चमकौर, अम्बाला
६८	नृसिंहदासजी	बुर्ज, सरोला, लुधियाना

६९ सुन्दरदासजी (गृहस्थ)		कलोड़, पटियाला
७० वेअनन्तदासजी		हरिगना, खेड़ी, लुधियाना
७१ नन्दलालजी		सिद्धपुर, लड़ेद्री, अम्बाला
७२ श्यामदासजी		खन्द, लड़ेद्री, अम्बाला
७३ नन्दरामजी		सिद्धपुर, लड़ेद्री, अम्बाला
७४ सन्तरामजी		शेरदी सिरोही, लुधियाना
७५ पोलोरामजी (गृहस्थ)		दीवाला, समराला, लुधियाना
७६ वचनदासजी		खटणा, समराला, लुधियाना
७७ सन्तरामजी		नागरा, समराला, लुधियाना
७८ मोलकदासजी		कलौर, जालन्धर
७९ माधोदास, सुन्दरदास (गृहस्थ)		अट्टीका, वडा पिण्ड, जालन्धर
८० अम्बरदासजी	,,	मत्तफलू, वड़ा पिण्ड, जालन्धर
८१ हरिकिशनदासजी	,,	लैल, मुण्डीसाल, जालन्धर
८२ प्रेमदासजी	,,	दसाँज, जालंधर
८३ शरणदासजी	,,	ऊजल, मुकुन्दपुर, जालंधर
८४ अतरदासजी लल्लूरामजी	,,	रामूका चक्र, जालंधर
८५ साधूरामजी	,,	गुरुका चक्र, रामूका चक्र, जालन्धर
८६ रामदासजी	,,	लद्दिड कलाँ, सराय काजियां-दीन, जालन्धर
८७ मेहरदासजी	,,	राजपुर, अपरा, ऐजन
८८ हरिनामदासजी गोविन्ददासजी	,,	गढ़ी, अपरा, जालन्धर
८९ प्रीतमदासजी	,,	फलपोता, वड़ा पिण्ड, जालन्धर
९० गंगारामजी	,,	चकपोता, अपरा, जालन्धर
९१ धनीरामजी		गढ़ी जीतसिंहकी, औढ़, जालन्धर
९२ जीवनदासजी (गृहस्थ)		गढ़ी जीतसिंहकी, औढ़, जालन्धर
९३ भगवानदासजी		बंगे, जालंधर
९४ अनन्तरामजी (गृहस्थ)		जेजोवाल, मालगहलाँ, जालंधर
९५ योगेन्द्रदासजी (गृहस्थ)		मूसापुर, जालंधर

९६	शंकरदासजी (गृहस्थ)	खानखाना, जालन्धर
९७	निर्मलदासजी (गृहस्थ)	खंडकलाँ, जालन्धर
९८	जगतरामजी भगवानदासजी	फतेहपुर खुर्द, मौला बहादुरपुर, होशियारपुर
९९	भगवानदासजी	नैनुश्रा, जालंधर
१००	प्रेमदासजी	मालगहलाँ, जालंधर
१०१	सरयूदासजी	मोहनवाल, गढ़शंकर, होशियारपुर
१०२	हरिदास, अमरदास, सन्तराम ईश्वरदास (गृहस्थ)	डूँगरपुर, जालन्धर
१०३	मनसारामजी (गृहस्थ)	विश्रामपुर, छावनी, जालंधर
१०४	तरणदासजी (गृहस्थ)	भूलाराई, कपूर्थला
१०५	योगेन्द्रदासजी (गृहस्थ)	फराला, जालन्धर
१०६	हरिदासजी (गृहस्थ)	वेलगा, जालंधर
१०७	हरिनामदासजी (गृहस्थ)	सैदोवाल, नूरमहल, जालंधर
१०८	वेदान्तदासजी ,,	श्रोजले, विलगा, जालंधर
१०९	ईश्वरदासजी	भंगाडा, सोहकी, जालंधर
११०	जयरामदासजी (गृहस्थ)	सरोहीशंकर, जालंधर
१११	ज्वालादास, जमुनादास हरिकिशनदास ,,	गिंडाला, जालंधर
११२	हरिनामदासजी, जगतरामजी ,,	डेसिया, जालंधर
११३	मुन्शीरामजी ,,	रुड़की, जालंधर
११४	जयरामदासजी ,,	सरोहीशंकर, जालंधर
११५	दयालदासजी ,,	ऊपलखालसा, नूरमहल, जालंधर
११६	हरनामदासजी ,,	खानेवाल, कपूर्थला
११७	निरंजनदासजी	चौंक चडाला, कपूर्थला
११८	सेवादासजी	ललसिया, कलाखपुर, जालन्धर
११९	गुरुनारायणदासजी	जमशेर, जालन्धर
१२०	बाबूराम, शोभारामजी (गृहस्थ)	आदमपुर, जालन्धर

१२१ नारायणदासजी (गृहस्थ)	चन्दूआना, घड़ियाल, होशियारपुर
१२२ किशनदासजी	हरिआना, होशियारपुर
१२३ गोविन्ददासजी	गरदीवाला, होशियारपुर
१२४ गोपालदासजी	समराला, कर्तारपुर, जालन्धर
१२५ सन्तरामजी	संगलवाला, अमृतसर
१२६ अमरदासजी	निर्वाणसर, अमृतसर
१२७ गोविन्ददासजी	अखाड़ा छत्तेवाला, अमृतसर
१२८ प्रेमदासजी	अमृतसर
१२९ रामदासजी	अमृतसर
१३० मंगलदासजी	कौंडेकू, ऐंजन
१३१ मस्तरामजी (गोविन्द साहबकी पद्धति)	जौंहा, मनसूर, लुधियाना
१३२ करणदासजी (गृहस्थ)	रामगढ़ा, शेरपुर, लुधियाना
१३३ हरनामदासजी (गृहस्थ)	जगरामा, लुधियाना
१३४ कृष्णानन्दजी	रामूवाला, फिरोजपुर
१३५ हीरानन्दजी	खाई, फिरोजपुर
१३६ रामप्रसादजी	वगराड़ी, कोटकपुर, फरीदकोट
१३७ करणदासजी	समालसर, फिरोजपुर
१३८ ईश्वरदासजी	पंजग्राई, फिरोजपुर
१३९ आत्मारामजी	छतिआना, दोहा, फिरोजपुर
१४० पुरुषोत्तमदासजी	फिलियावाली, हबोर, फीरोजपुर
१४१ बालकदासजी	गोविन्दगढ़, फिरोजपुर
१४२ हीरादासजी	केरों, मुक्तसर, फिरोजपुर
१४३ किशनदासजी	लम्भी, मुक्तसर, फीरोजपुर
१४४ सरमुखदासजी	कोट लपेवनकी, मुक्तसर, फ़िरोजपुर
१४५ सुतेप्रकाशदास (गृहस्थ)	जयडसाहेब, फीरोजपुर
१४६ हरनामदासजी	मुक्तसर, फीरोजपुर
१४७ अतरदासजी	दीपसिंहवाला, मुक्तसर, फीरोजपुर
१४८ गुरुमुखदास (गृहस्थ)	धिवलम, गुरुका जयड, फरीदकोट

१४९ लक्ष्मणदासजी (गृहस्थ)	फरीदकोट
१५० मोतीरामजी	समीरा, जयडसर, फरीदकोट
१५१ सन्तरामजी (गृहस्थ)	मोटोवालाँ, कौनी, फ़रीदकोट
१५२ सेवादासजी	मोरमवाला, कौनी, फ़रीदकोट
१५३ उत्तमदासजी	बड़ी सिक्खोंवाला, फ़रीदकोट
१५४ उत्तमदासजी	बुर्ज मैमा, मैमा, फ़रीदकोट
१५५ हरनामदासजी (गृहस्थ)	किली, नाईवाला, फ़रीदकोट
१५६ किशनदासजी	जैतो, नाभा
१५७ रतनदासजी	दबड़ीखाना, जैतों, नाभा
१५८ सुतेप्रकाशदास (गृहस्थ)	फत्तेकोट, पटियाला
१५९ गुरुमुखदासजी	नरो, फत्तेकोट, पटियाला
१६० शीतलदासजी	चट्टेवाला, फत्तेकोट, पटियाला
१६१ निक्कूरामजी	भागीबाँदर, फत्तेकोट, पटियाला
१६२ भजनदासजी	बवरदू, पटियाला
१६३ ईश्वरदासजी	संगत, तलवण्डी, पटियाला
१६४ मानदासजी	रौला, कोकरी, फिरोजपुर
१६५ हरीदासजी	मठवानी, बड़ी कोकरी, फ़ीरोजपुर
१६६ किशनदासजी (गृहस्थ)	दत्ते, जलालाबाद, फीरोजपुर
१६७ धनीरामजी (गृहस्थ)	कपूरे, मोना, फ़िरोजपुर
१६८ गुरुमुखदासजी (गृहस्थ)	घवड़ीयाल, कोटकपुर, फीरोजपुर
१६९ ईश्वरदासजी	होलावाली, फेरूशहर, फिरोजपुर
१७० केहरदासजी	मल्लोंके, जीरा, फ़ीरोजपुर
१७१ विशनदासजी	मसूरदेवा, जीरा, फ़ीरोजपुर
१७२ जीवनदासजी	चोन सिंगरवाला, जीरा, फ़ीरोजपुर
१७३ सन्तरामजी	धरीवाल, पट्टी, फ़ीरोजपुर
१७४ कर्तारदासजी	मानके, चट्टना, लाहौर
१७५ केहरदासजी	मक्खू मल्लोंके, खीरा, फ़िरोजपुर
१७६ विशनदासजी (गृहस्थ)	रायकोट, लुधियाना
१७७ हरनामदासजी	बरनाला, पटियाला

१७८ गोपालदासजी	बरनाला, पटियाला
१७९ सन्तरामजी	खुड्डी, हंडिआया, पटियाला
१८० सेवादासजी	घूरे कुवे, कोलेके, नाभा
१८१ कृपारामजी	लोहाखेड़ा, पटियाला
१८२ हरीदासजी	पधेरा, धनौला, नाभा
१८३ मोतीरामजी	बड़ी कोठी, मौढ, पटियाला
१८४ आदिप्रकाश	घरजाना, मानसा, पटियाला
१८५ सन्ध्यादासजी	लखमरिवाला, बोरा, पटियाला
१८६ मुतावदासजी	मडाली, बोरा, पटियाला
१८७ मानिकदासजी	अहमदपुरर, बुलाढ़ा, हिसार
१८८ हरिप्रकाशजी	गिद्दड़अली, बरेठा, पटियाला
१८९ रामदासजी	महल, जीन्द
१९० खुम्मनदासजी	मौढ, महल, जीन्द
१९१ शरणदासजी	ख्याली, मैंना, लुधियाना
१९२ गुरुप्रसादजी	फुल्लीवाल, शेरपुर, पटियाला
१९३ कृपीरामजी	मौल छोटे, बड़े महल, पटियाला
१९४ नानकशरणजी	हथाना, हिम्मतआना, मलेरकोटला
१९५ सुन्दरदासजी	कंगनवाल, मलेरकोटला
१९६ विशनदासजी	महेरना, अहमदगढ़, मलेरकोटला
१९७ प्रेमदासजी (गृहस्थ)	छपार, लुधियाना
१९८ गुरुनारायणजी	जमशेर, जालन्धर
१९९ विशनदासजी (गृहस्थ)	सठियाला, अमृतसर
२०० गंगेश्वरानन्दजी	खुजियाला, अमृतसर
२०१ साधुरामजी (गृहस्थ)	जीराये, अमृतसर
२०२ हरिदासजी	कोटला चहल, कालापराड़ा, गुरुदासपुर
२०३ धर्मदासजी	वग्गूआना, कलानों, गुरुदासपुर
२०४ गोपालदासजी	दालव लंगल,कलानों, गुरुदासपुर

२०५ सन्तरामजी	खज्जलवाल, गुडेल हरपुर, गुरुदासपुर
२०६ प्रेमदासजी	वचनक्रोट, मंगा, गुरुदासपुर
२०७ भगवानदासजी	घर्कोके, गुरुदासपुर
२०८ ईश्वरदासजी	दिल्लोंके सादड़े, थोथल, गुरुदासपुर
२०९ मंगलदासजी	टपिपांडा, बोबार, स्यालकोट
२१० माई (गृहस्थ)	पंजग्राँईं, स्यालकोट
२११ ठाकुरदासजी	सोहूँके, जीमके, स्यालकोट
२१२ चैतन्यदासजी	बस्सनके, आमदगढ़, स्यालकोट
२१३ निर्मलदासजी (गृहस्थ)	चवावाली, स्यालकोट
२१४ हरिदासजी	गफ़सा, गुजराँवाला
२१५ रामप्रकाशजी	केल मुरादबक्सका, सुक्खोंके, गुजराँवाला
२१६ हरिदासजी	चूड़काना, शेखूपुर
२१७ जगतरामजी	मजीठा, अमृतसर
२१८ सन्तरामजी	फेरा, अमृतसर
२१९ गरीबदासजी	जगदेया, अमृतसर
२२० वीरमदासजी	लाड़ेवाज, पटियाला
२२१ शरणदासजी (गृहस्थ)	भमंदी, लुधियाना
२२२ वीरमदासजी (गृहस्थ)	कानपुर, मलोरू, नाभा
२२३ आज्ञारामजी	पटियाला
२२४ आदिरामजी	पटियाला
२२५ सन्तरामजी	पटियाला
२२६ हरिदासजी	पटियाला
२२७ गुरुप्रसादजी	स्वामीघाट, मथुरा
२२८ दामोदरदास (गृहस्थ)	स्वामीघाट, मथुरा
२२९ अलखरामजी	दमदमा तलमण्डी साबोंकी, पटियाला
२३० सुन्दरदासजी	पावें, मण्डीमौर, लुधियाना

२३१ गणेशदासजी	७।२३ शकरकन्दगली, वाराणसी
२३२ गुरुदासजी	सलेमपुर, चहेरू, कपूरथला

भक्त भगवान साहबकी पद्धतिके आश्रम और महन्तगण

१ हीरादासजी दर्शनानन्दजी	चन्द्र पाठशाला, नीचीबाग, काशी
२ मोतीरामजी	देवगाँवँ, आजमगढ़
३ विद्यादासजी	सोपीपुर, लालगंज, आजमगढ़
४ भगवानदासजी	लालगंज, उड़ीहाट, गाजीपुर
५ रामदासजी	रेवतीपुर, गाजीपुर
६ शिवनन्दनदासजी	जमानियाँ, गाजीपुर
७ रामप्रवीणदासजी (गृहस्थ)	ऐजन, गाजीपुर
८ रामावतारदासजी ,,	रेवतीपुर, गाजीपुर
९ ओंकारदासजी	गहवर, वारा, बनारस
१० बलदेवदास (गृहस्थ)	वीरमपुर, बनारस
११ किशनदासजी	पास-डुगहाटोली, बक्सर, आरा
१२ हरनन्दनदासजी (गृहस्थ)	गोकुलपुर, आरा
१३ कैलासदासजी ,,	पटवारी, रुसड़ा, आरा
१४ रामवरनप्रकाशजी ,,	रुसड़ा, आरा
१५ शोभारामजी	ऐजन, आरा
१६ राजपतिदासजी	वासड़ी, आरा
१७ हरिदासजी	मधुवनी, बैरिया, आरा
१८ मोतीरामजी	वरसा, बलिया
१९ बुद्धदासजी (गृहस्थ)	बैरिया, रानीगंज, बलिया
२० रामलगनदासजी	साहेपुर, आरा
२१ लक्ष्मणदासजी	जगदीशपुर, आरा
२२ मायादासजी (गृहस्थ)	बोहिया स्टेशन, आरा
२३ जगहरदास ,,	रामगढ़ा, आरा
२४ बच्चूदासजी ,,	आरा

२५ रोशनदासजी (गृहस्थ) — फैंमनगर, आरा
२६ सन्तदासजी ,, — नेमतपुर, पटना
२७ कुनकुनदासजी ,, — मसुढ़ी, पटना
२८ भगवानदासजी ,, — जहानाबाद, गया
२६ प्रियारामदासजी (गृहस्थ) — पालीविया, गया
३० बालकदासजी — वेला, गया
३१ विश्वेश्वरदासजी (गृहस्थ) — फुलवाड़ी, पटना
३२ जगदेवानन्दजी ,, — ऐंजन, पटना
३३ शीतलदासजी ,, — ऐंजन, पटना
३४ हरनामदासजी — गया
३५ गुरठीटान भगवानदासजी (गृहस्थ) — गया
३६ गुरुमुखदासजी — वेहटा, खिदिरसराय, गया
३७ मोहनदासजी — देवरा, इस्लामपुर, पटना
३८ चरणदासजी — गोपालगंज, इस्लामपुर, पटना
३६ हरप्रसादजी — इस्लामपुर, पटना
४० बुद्धदासजी — तारापुर, एक ग्रंगसराय, पटना
४१ शंकरदासजी — एकग्रंगसराय, पटना
४२ भगवानदासजी — हिलसा, पटना
४३ नानकशरणजी (गृहस्थ) — शाहजहाँपुर, नगरनौसा, पटना
४४ रघुनन्दनदासजी ,, — रिकाबगंज, बेगमपुर, पटना
४५ परमेश्वरदासजी — नूनगोला, पराऊगंज, पटना
४६ निरंजनदासजी — नालापुर, पराऊगंज, पटना
४७ रामकिशनदासजी — पश्चिम दरवाजा, गुलजारबाग, पटना
४८ श्यामदासजी — दोस्त, हरनोत, पटना
४६ विद्यादासजी (गृहस्थ) — सीमान, ईसा, पटना
५० रामधनीदासजी ,, — सन्तनारा, चण्डी, पटना
५१ प्रेमदासजी ,, — प्रह्लाद करना, नूरसराय, पटना
५२ परमानन्दजी — सोहसराय, पटना

५३ हरगोविन्ददासजी	मखकुड्या, टोलाविहार, पटना
५४ वसन्तदासजी	विहार, पटना
५५ हरगोविन्ददासजी	मथरियाटोला, विहार, पटना
५६ श्यामदासजी	मगारा, विहार, पटना
५७ गनपतदासजी	जुआफर, दीपनगर, पटना
५८ ज्ञानदासजी	निगायाके पास, दीपनगर, पटना
५९ जानकीदासजी	सलाऊ, पटना
६० गुरुदासजी	राजगृह, पटना
६१ दयालदासजी	किनारचंडी, डूँगी, गया
६२ प्रकाशदासजी	वीणापुर, रजौली, गया
६३ रामकिशनदाजी	अकबरपुर, रजौली, गया
६४ अनन्तदासजी	चतरा, गया
६५ रामप्रसादजी (गृहस्थ)	ऐजन, गया
६६ ब्रह्मदासजी	सेलिया कोडरमा, गया
६७ रामकृष्णजी वक्तदासजी	रजौली, गया
६८ बैजूदासजी (गृहस्थ)	नेवादा, गया
६९ जगतविहारीदासजी	गुनामा. नेवादा, गया
७० गुरुप्रसादजी (गृहस्थ)	कादरगंज, नेवादा, गया
७१ नानकशरणजी ,,	ऐजन, नेवादा, गया
७२ परमेश्वरदासजी ,,	वार्सलीगंज, गया
७३ चरणदासजी ,,	कवरौल, वार्सलीगंज, गया
७४ सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	गुलली, वार्सलीगंज, गया
७५ नानकशरणजी ,,	धखोल, वार्सलीगंज, गया
७६ शिवदासजी	सुनखार, वार्सलीगंज, गया
७७ ज्ञानदासजी	शेखूपुरसराय, कतरीसराय, मुंगेर
७८ हरिकिशनदास	शेखूपुर शहर, मुंगेर
७९ माधोदासजी	वरडिग्घा, शेखूपुर, मुंगेर
८० जयरामदासजी (गृहस्थ)	वरडिग्घा, शेखूपुर, मुंगेर
८१ गोविन्ददासजी (गृहस्थ)	सखसोटा, वाढ़, मुंगेर

८२ उत्तमदासजी	गुलाबबाग, बाढ़, मुंगेर
८३ बुद्धरामदासजी (गृहस्थ)	बाढ़ बड़ी संगत, मुंगेर
८४ नानकराम ,,	रिपोली, जमदाहा, मुजफ्फरपुर
८५ बालगोविन्ददासजी ,,	ऐजन, जमदाहा, मुजफ्फरपुर
८६ नानकरामजी ,,	बारएडा, मुजफ्फरपुर
८७ गोविन्ददासजी	मुनार, मुजफ्फरपुर
८८ माधोदासजी	मुहल्ला दरनाम, छपरा
८९ सुखमनीदासजी (गृहस्थ)	छपरा
९० काशीदासजी	मीजी, छपरा
९१ रघुनाथदासजी	भगोली, माझी, छपरा
९२ रघुनाथदासजी	चब्बोपुर, माझी, छपरा
९३ शिवदासजी (गृहस्थ)	देनपुर, माझी, छपरा
९४ कैलासदासजी ,,	अलीगंज, हसनपुर, छपरा
९५ सुन्दरदासजी ,,	मशरक, हसनपुर, छपरा
९६ हरगोविन्ददासजी ,,	हरिहरपुर, खेरा, छपरा
९७ रामप्रसाददासजी	प्रताप टाँडा, मुजफ्फरपुर
९८ बिशुनदासजी	मुजफ्फरपुर
९९ दर्शनदासजी	मनियारी, सिलोट, मुजफ्फरपुर
१०० सन्तोपदासजी	सूर्यगढ़ा, मुंगेर
१०१ हरिदासजी	बेटवन बाजार, मुंगेर
१०२ रामदासजी (गृहस्थ)	मुंगेर
१०३ जल्लूदासजी	मुंगेर
१०४ किशनदासजी हरिदासजी	ननहाड़ दुमकी, दुमका
१०५ नानकशरणजी (गृहस्थ)	मोरा, मधुबनी, दरभंगा
१०६ साधुरामजी	मधुबनी, दरभंगा
१०७ शीतलदासजी (गृहस्थ)	झंझारपुर, कोलीरिढ़िया, खटोना, दरभंगा
१०८ जसदेवजी ,,	मदुरा, भीमनगर, नैपाल
१०९ महेन्द्रनारायणदासजी ,,	रफलासोनिया, मानसाई, पूर्णियाँ
११० जगन्नाथदास	बैजनाथ, दुमका

११	करनदासजी	बैजनाथ, दुमका
११२	संतोषदासजी	मधुपुर, बैजनाथ, दुमका
११३	करनदासजी	पथरोटा, मधुपुर, दुमका
११४	भगत रामदासजी	वाखीघाट, श्रीरामपुर, हुगली
११५	महावीरदासजी	बारकपुर हुगली, (बंगाल)
११६	करनदासजी	मुहल्ला बुधवारी, नागपुर
११७	हरिदासजी	नागपुर
११८	करनदासजी	हीवरखेड़ा, अमरावती
११९	रामदासजी	राजापट, अमरावती
१२०	सुन्दरदासजी	चन्दूर बाजार, अमरावती
१२१	ओंकारदासजी (गृहस्थ)	अमरावती
१२२	प्रेमरामदासजी ,,	अंजन ग्रामवारी, अमरावती
१२३	किशनदासजी ,,	मदनूर, अलवाल, नाँदेड़
१२४	श्रद्धारामजी	रामटेकड़ी, पूना
१२५	दयालदासजी (गृहस्थ)	टट्टावरी, खँडुवा
१२६	सन्मुखदासजी	खँडुवा
१२७	विशुनप्रकाशजी	आजमगढ़
१२८	नारायणदासजी	ऐजन
१२९	रामदासजी	ससूरी, आजमगढ़
१३०	मौजीरामजी	इटौरा, अतरौलिया, आजमगढ़
१३१	विदुरदासजी	शहजादपुर, अकबरपुर, फैजाबाद
१३२	रामस्वरूपदासजी	टाँडा, फैजाबाद
१३३	अयोध्यादासजी	टाँडा, फैजाबाद
१३४	नानकशरणजी (गृहस्थ)	सूर्यकुण्ड, फैजाबाद
१३५	बाबूरामजी	अयोध्या, फैजाबाद
१३६	किशोररामजी	रानोपाली, अयोध्या, फैजाबाद
१३७	सेवादासजी	बन्धवा, हसनपुर, सुलतानपुर
१३८	दामोदरदासजी	स्वर्गद्वारी, अयोध्या, फैजाबाद
१३९	महावीरदासजी	आमोरती, सुलतानपुर
१४०	लालदासजी	बेला प्रतापगढ़

१४१	गंगादासजी धर्मचन्द्रजी	खापड़गंज, रायबरेली
१४२	भगवानदास	कचौरी, हैदरगढ़, रायबरेली
१४३	महिराम लखनदासजी	रीडोरी, बाराबंकी
१४४	भक्तरामजी (गृहस्थ)	महमदपुर, बड़ागाँवँ, फैजाबाद
१४५	त्रिवेणीदासजी	शाहगंज, शिवदयालपुर, गोंडा
१४६	संतोषदासजी	सिकन्दरपुर, बस्ती
१४७	ब्रह्मदासजी	ऐजन, बस्ती
१४८	रामेश्वरदासजी (गृहस्थ)	पैर, मसकनवा, गोंडा
१४९	त्रिवेणीदासजी	राजघाट, गोरखपुर
१५०	मुकुन्दरामजी	गोरखपुर
१५१	सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	बखरा, बस्ती
१५२	रामचरणदासजी ,,	वाली, बस्ती
१५३	निर्भयदासजी	उतरौला, गोंडा
१५४	केशोरामजी	टेढ़ीबाजार, बलरामपुर, गोंडा
१५५	ब्रह्मचैतन्यदासजी	गोलापुर, बलरामपुर, गोंडा
१५६	बालकदासजी	झाड़कुयडी, बलरामपुर, गोंडा
१५७	किशुनदासजी	भगवतीपुर, बलरामपुर, गोंडा
१५८	जोखनदासजी	खड़गपुर, गोंडा
१५९	प्रेमदासजी	कौड़िया, गोंडा
१६०	ध्यानदासजी	दिललरिया, बहैच
१६१	अमरदासजी	ऐजन
१६२	रामरतनदासजी	ऐजन
१६३	गंगादासजी	जरवाघाट, बहैच
१६४	निर्भयदासजी	रिसिया, बहैच
१६५	विश्वम्भरदासजी	नानपार स्टेट, बहैच
१६६	किशनदासजी	नैपालगंज, नैपाल
१६७	बसन्तदासजी (गृहस्थ)	नानपारा
१६८	अतरदासजी	कुढ़ासर, केशरगंज, बहैच

१६९	केवलदासजी	वरखाना, गण्डारा, बहराइच
१७०	ज्ञानदासजी	गणेशपुर, बड़ी रामघाट, बाराबंकी
१७१	दूबरदासजी	गणेशपुर, बाराबंकी
१७२	कर्णदासजी	सतरख, बाराबंकी
१७३	नौमीदासजी	नाकासतरख, बाराबंकी
१७४	भोलादासजी	ऐजन, बाराबंकी
१७५	मोहनदासजी	गोपालपुर देवा, बाराबंकी
१७६	नामकर्णदासजी	कैथेपुर, सीतापुर
१७७	ज्ञानदासजी	सानापुर, पैंतेपुर, सीतापुर
१७८	सन्तरैनदासजी	महमदाबाद, सीतापुर
१७९	हरचरणदासजी	मदारीपुर, बिसवा, सीतापुर
१८०	गोविन्ददासजी	चहेलापुर, बिसवा, सीतापुर
१८१	गंगादासजी (गृहस्थ)	बिसवा, सीतापुर
१८२	नानकशरणजी	खैराबाद, सीतापुर
१८३	हरिदासजी	सदर भगवतीपुरका बाग, सीतापुर
१८४	उत्तमदासजी	उलझापुर, झरोखा, सीतापुर
१८५	फकीरादासजी (गृहस्थ)	ओयल, खेरी
१८६	संतोषदासजी	बेहटा, सीतापुर
१८७	ब्रजमोहनदास	सहाड़ा, कुटरा, सीतापुर
१८८	रामपरोसेजी (गृहस्थ)	बिसवा, सीतापुर
१८९	नागेश्वरदासजी	हसनापुर, बिसवा, सीतापुर
१९०	हरिदयारामजी	हुसैनगंज, लखनऊ
१९१	गोविन्ददासजी	ऐजन, सदादार, लकड़मंडी, लखनऊ
१९२	गुरुनारायणदासजी	बासमण्डी, लखनऊ
१९३	शिवशरणदासजी	सिधौली, सीतापुर
१९४	हरनामदासजी	खैराबाद संगत, तकुमालसराय, सीतापुर
१९५	हंसदास	मसुन्नियाँ मील, सीतापुर
१९६	गुरुचरणदासजी	मिसरिख, सीतापुर
१९७	केशोरामजी	हरदोई
१९८	मथुरादासजी	कोपामऊ, हरदोई

१९९	द्वारकादासजी	चौक सराफ़ा, शाहजहाँपुर
२००	बद्रीदासजी	शाहजहाँपुर
२०१	कृपालदासजी	बाँसबरेली
२०२	सेवादासजी	फैजपुर, नगीना, बिजनौर
२०३	रामस्वरूपजी	गुरुमण्डल, हरिद्वार, सहारनपुर
२०४	गुरुमुखदासजी	चेतनदेवकी कुटिया, कनखल, सहारनपुर
२०५	पूर्णदासजी	नानकवाड़ा, हरिद्वार, सहारनपुर
२०६	रामनारायणजी (गृहस्थ)	जगाधरी, अम्बाला
२०७	परशुरामजी	मलाना, अम्बाला
२०८	सुखरामप्रकाशजी(गृहस्थ)	बालूड़ बड़ा डेरा, पटियाला
२०९	सोहनदासजी ,,	मलूरडेरा, चोईपार, पटियाला
	(बेदी पद्धतिके)	
२१०	गोविन्ददासजी	पुलका, बनूड़, पटियाला
२११	निरञ्जनदासजी	बनूड़, पटियाला
२१२	मोलकदासजी(गृहस्थ)	घूखड़ी खैर, अम्बाला
२१३	सुरजनदासजी ,,	मकड़े, अम्बाला
२१४	हरकिशनदासजी ,,	खैर, अम्बाला
२१५	स्वरूपदासजी	बासमा, मछली, पटियाला
२१६	प्रीतमदासजी	रामपुर, पटियाला
२१७	बचनदासजी	सरवो माजरा, महोदा, अम्बाला
२१८	भगवानदासजी (गृहस्थ)	बहोड़, बसी, पटियाला
२१९	नीकूरामजी	गुटेड़ी, बसी, पटियाला
२२०	रघुवीरदासजी	गोपालहेड़ी, अम्बाला
२२१	रामप्रकाशजी	जावन्दे, पटियाला
२२२	रामाश्रयजी (गृहस्थ)	गोपालो, नन्दपुर, बसी, पटियाला
२२३	परशुरामदासजी ,,	डडहेड़ी, थैड़ी, लुधियाना
२२४	हरिनामदासजी	असमालपुर, थैड़ी, लुधियाना
२२५	सुन्दरदासजी ,,	कोटला अजनेर, थैड़ी, लुधियाना
२२६	श्रवणदासजी ,,	डडहेड़ी, थैड़ी नोदसिंहकी, लुधियाना
२२७	सुन्दरदासजी	खेतपुर कोटला, समराला, लुधियाना

२२८	विशनदासजी	रामपुर, दोराहा, पटियाला
२२६	अमरदासजी	रामपुर, दोराहा, पटियाला
२३०	दयालदासजी	बड़ापिण्ड, जालन्धर
२३१	सोहनदासजी	पट्टी सिक्खनीकी, बड़ापिण्ड, जालन्धर
२३२	कचहरीदासजी	जाहोलका, जालन्धर
२३३	हरिनारायणदासजी (गृहस्थ)	लोहगढ़, जालन्धर
२३४	प्रयागदासजी	चक कलाला, जालन्धर
२३५	चरणदासजी	गोसाल, जालन्धर
२३६	ज्ञानी नानकशरणजी	बंगे, जालन्धर
२३७	कृपालदासजी	समानपुर, जाडला, जालन्धर
२३८	जवाहरदासजी	समानपुर, जाडला, जालन्धर
२३६	ईश्वरदासजी	औटाला, जाडला, जालन्धर
२४०	सुन्दरदासजी	मौंजो माजरा, वफोदी, होशियारपुर
२४१	मोतीरामजी	रुड़की सहरियाँवी, गढ़शंकर, होशियारपुर
२४२	ध्यानदासजी	मोरौंवाली, होशियारपुर
२४३	भाई ईश्वरीजी	ऐजन, होशियारपुर
२४४	जीवनदासजी	कट्टारपुर, रामपुर भज्जोवाल, होशियारपुर
२४५	वीरमदासजी	लंगेरी, महलपुर, होशियारपुर
२४६	स्वरूपदासजी	लखपुर, जालन्धर
२४७	गोपालदासजी	कोटली थानसिंहकी, जालन्धर
२४८	गुरुध्यानदासजी	रानीपूहा, कपूरथला
२४६	स्वरूपदासजी	वरना, रानीथूही, कपूरथला
२५०	चरणदासजी	पंडोरी, लखपुर, कपूरथला
२५१	केशरदासजी	मेगाहा, समरावाँ, जालन्धर
२-.२	सन्तरामजी	मकान टालीका, जियडाला, जालन्धर
२५३	सन्तरामजी	टाली, जियडाला, जालन्धर
२५४	ईश्वरदासजी (गृहस्थ)	महतपुर, जालन्धर
२५५	शंकरदासजी	तलमंडी, सादकपुर, जालन्धर

२५६	दर्शनदासजी	वलेर, कपूरथला,
२५७	चरणदासजी	खैरड़, डलके, कपूरथला
२५८	मस्तरामजी	कपूरथला
२५९	दयानन्दजी	चीही डगी, जालन्धर
२६०	दयारामजी, सियारामजी (गृहस्थ)	हरोदाँ परोला, फगवाड़ा, जालन्धर
२६१	मोतीरामजी	खुसरूपुर, जालन्धर छावनी
२६२	सुन्दरदासजी	जिन दयाली, जालन्धर
२६३	गुरुमुखदासजी (वेदी पद्धतिके)	सोडर, जालन्धर
२६४	ईश्वरदासजी	छातराँ, श्याम चौरासी, होशियारपुर
२६५	जमुनादासजी	पुरानी छावनी, होशियारपुर
२६६	लालदासजी	रेंज पालमाँ, दसुहा, होशियारपुर
२६७	चरणदासजी	खुनखुना, होशियारपुर
२६८	नारायणदासजी	कोटली, भंगाला, होशियारपुर
२६९	सन्तरामजी	जवराँ, होशियारपुर
२७०	गुरुमुखदासजी	वेदी साहबकी टटिया, अमृतसर
२७१	पूरनदासजी	अवेकसर अखाड़ा, अमृतसर
२७२	शरनदासजी	धर्मशाला, अमृतसर
२७३	साधुरामजी (गृहस्थ)	धर्मशाला, अमृतसर
२७४	गुलारामजी	पत्तो, अमृतसर
२७५	सेवादासजी	पादू, संसारो बड़ी, लुधियाना
२७६	सीतारामजी	धोथल, सब्दी, लुधियाना
२७७	देवादासजी	रामनेका, लोहारके, फिरोजपुर
२७८	रामदासजी	लधाली, बागवाला, फिरोजपुर
२७९	बुद्धदासजी	सुखना, दोदा, फिरोजपुर
२८०	रामानन्दजी	मालूकपेड़ा, लगोर, फिरोजपुर
२८१	सन्तरामजी	माधोपुर, खगोर, फिरोजपुर
२८२	प्रतापदासजी (गृहस्थ)	सीरवाली, मुक्तसर, फिरोजपुर

२८३ बिशनदासजी	चक्क मराज, वरवाली, फिरोजपुर
२८४ नन्दरामजी	पाचेवाला, मुक्तसर, फिरोजपुर
२८५ मुक्तरामजी	खिडकियाँवाला, मुक्तसर, फिरोजपुर
२८६ देवादासजी	गंगाबाली, जैतो, फिरोजपुर
२८७ प्रेमदासजी	बज्जो आना, कल्याणासुखा, फिरोजपुर
२८८ जवाहरदासजी(गृहस्थ)	दर्शनके, मण्डीपौड़, पटियाला
२८९ अर्जुनदासजी	पिट्ठो, फूल, नाभा
२९० देवादासजी	मूँदड़, बुज्जोमण्डी, लुधियाना
२९१ बसन्तदास	दराज, तपा, पटियाला
२९२ गोपालदास	अकरपुरा, गोविन्दपुर, लाहौर
२९३ महन्तनी तलेधल्ली	नारली, खालड़ा, अमृतसर
२९४ नानकशरणजी (गृहस्थ)	नारला, अमृतसर
२९५ चरणदासजी	चक्क, खाडची, अमृतसर
२९६ नारायणदासजी	चिमेकलाँ, अमृतसर
२९७ हरनामदासजी	चहल, अमृतसर
२९८ तीर्थानन्दजी	वीमण्डी, लाहौर
२९९ वचनदासजी	फेर, कानराकाला, लाहौर
३०० अमरदासजी	भंगो, लाहौर
३०१ कृपादासजी	अवकियावाला, संगवाली, लाहौर
३०२ करनदासजी	छीने, संगतसिंह, लाहौर
३०३ सन्तरामजी	भुच्चोके, रायपिण्ड, लाहौर
३०४ गोपालदासजी	सतखेरो, नैसेरा, अमृतसर
३०५ पूर्णदासजी	दरगापुर, अमृतसर
३०६ गुरुमुखदासजी	ठठियाँ, नैसेरा, अमृतसर
३०७ इन्द्रदासजी (गृहस्थ)	खण्डे, नैसेरा, अमृतसर
३०८ भगतरामजी	सिरयाली, अमृतसर
३०९ वैशाखीरामजी	लम्मेका, रायकोट, लुधियाना
३१० ईश्वरदासजी	दसियाँ, लुधियाना
३११ सरवनदासजी	अच्चड़वाल, नत्थूवाल, लुधियाना
३१२ सन्तरामजी	वकीलसरदा टाँकी, लुधियाना

३१३	किशनदासजी	कालेके, पटियाला
३१४	लालदासजी	बूनेका कोट, पटियाला
३१५	करनदासजी	मूसा, सदासिंहवाला, पटियाला
३१६	मोहनदासजी	जोगीपीर, सदासिंहवाला, पटियाला
३१७	अमरदासजी	हरिका बुर्ज, मानसा, पटियाला
३१८	नारायणदासजी	छोटी खोखर, मानसा, पटियाला
३१९	आत्मारामजी	उड्डत, मानसा, पटियाला
३२०	कृपालदासजी (गृहस्थ)	झनीर, मानसा, पटियाला
३२१	आत्मारामजी	मीरपुर छोटा, शार्दूलगढ़, पटियाला
३२२	टहलदासजी	जटांडे, शार्दूलगढ़, पटियाला
३२३	सरमणदासजी	झंडेके, शार्दूलगढ़, पटियाला
३२४	सन्तरामजी	चहल, शार्दूलगढ़, पटियाला
३२५	रतनदासजी	दानेवाल, बोहा, पटियाला
३२६	गोपालदासजी	देसू, दबवाली, हिसार
३२७	हरिदासजी	झोड़रोही, कालयाँवाली, हिसार
३२८	गुरुप्रसादजी	राज, पटियाला
३२९	पूर्णदासजी (गृहस्थ)	बड़े बीरोके, पटियाला
३३०	ठाकुरदासजी	भाधड़े, भक्खी, पटियाला
३३१	प्रीतमदासजी (गृहस्थ)	दुखियाड़ा, जाखल, हिसार
३३२	सेवादासजी	धंडीवाल, शेरपुर, पटियाला
३३३	लक्ष्मणदासजी	सेखा, पटियाला
३३४	टहलदासजी	ऐजन, पटियाला
३३५	मुक्तरामजी	सुलतानपुर, अलालाँ, पटियाला
३३६	सरस्वतीदासजी	अलालाँ, पटियाला
३३७	रामप्रकाशजी	पुन्नावाल, धूरी, पटियाला
३३८	परमानन्दजी	पुल्लैवाल, शेरपुर, पटियाला
३३९	सुन्दरदासजी (गृहस्थ)	खटड़े, लच्छाबदी, मलेरकोटला
३४०	करनदासजी	लच्छाबदी, मलेरकोटला
३४१	दयालदासजी	बुताला, अमृतसर
३४२	धनीरामजी (गृहस्थ)	कक्कोंवाल, भीलोंवाल, अमृतसर

३४३	गंगारामजी (गृहस्थ)	भूटाना, गुरुदासपुर
३४४	रामप्रकाशजी	ऐजन, गुरुदासपुर
३४५	हरिदासजी	सालादी, गुरुदासपुर
३४६	गुरुमुखदासजी	चूहेवाला, गुरुदासपुर
३४७	हितप्रकाशजी	टाली साहेब, भगोवाल, गुरुदासपुर
३४८	ईश्वरदासजी	डेरा बाबा नानक, गुरुदासपुर
३४९	सरवनदासजी	डेरा बाबा नानक,टालीसाहेब,गुरुदास०
३५०	प्रीतमदासजी	गुजराँवाला
३५१	रामनारायणजी	ऐजन
३५२	हीरादासजी	ऐजन
३५३	अमरदासजी	सानेवाल, गली, गुजराँवाला
३५४	हरीदासजी	लाहौर
३५५	गोपालदासजी (गृहस्थ)	सैदोंके, गुजराँवाला
३५६	ईश्वरदासजी ,,	वजीराबाद, गुजराँवाला
३५७	यतीदासजी	गुजरात, गुजराँवाला
३५८	हरिहरानन्दजी	जही, जलालपुर, झेलम
३५९	रामप्रकाशजी	पिंडपहिया, गुजराँवाला
३६०	चरणदासजी	ऐजन, गुजराँवाला
३६१	सुरजनदासजी	चन्नोट, झंग
३६२	हरिनामदासजी	अजनेवाला, शेखूपुर
३६३	ब्रह्मदासजी	पण्डियालका, गुजराँवाला
३६४	गोलखदासजी	भाछीके, चूडकाना, शेखूपुरा
३६५	भूलदासजी	शेखूपुरा
३६६	शेरदासजी (गृहस्थ)	नागरे, शेखूपुरा
३६७	आत्मारामजी	ननकाना साहेब, शेखूपुरा
३६८	ठाकुरदासजी	ऐजन, शेखूपुरा
३६९	शीतलदासजी	ऐजन, शेखूपुरा
३७०	गंगादासजी	नवचक, शेखूपुर
३७१	मनीरामजी	अटारी श्यामसिंह, अमृतसर
३७२	प्रेमदासजी	दाखे, लुधियाना

३७३	प्रतापदासजी (गृहस्थ)	सलाना, नाभा
३७४	ईश्वरदासजी	सलाना कुटी, नाभा
३७५	निहालदासजी	जलालपुर, मलौहो, नाभा
३७६	प्रेमदासजी (गृहस्थ)	सलाना, नाभा
३७७	टहलदासजी	मंडी गोबिन्दगढ़, नाभा
३७८	सोहनदासजी (गृहस्थ)	ऐजन, नाभा
३७९	सन्तरामजी (गृहस्थ)	दरखेड़ी, नाभा
३८०	लालदासजी	अचलोवाल, पटियाला
३८१	पूर्णदासजी	रखुआ, सोनपत, रोहतक
३८२	हरिनामदासजी	रमणरेती, महावन, मथुरा
३८३	सन्तदासजी	एकदिल, इटावा

[सुथरे साहबकी पद्धतिके आश्रम और महन्त-गण]

१	गणेशसाहजी	गया
२	मिश्रीसाहजी (गृहस्थ)	बाढ़, मुंगेर
३	नारायणसाहजी	बुरहानपुर, खण्डवा
४	देवीसहायजी (गृहस्थ)	समुदड़ा, होशियारपुर
५	अष्टमीसाहजी ,,	तलवन, जालंधर
६	लखरामसाहजी ,,	कोटकापुरा, फरीदपुर
७	निमालसाहजी	जीरा, फिरोजपुर
८	सन्नमसाहजी (गृहस्थ)	बरनाला, पटियाला

[दीवाना साहबकी पद्धतिके आश्रम तथा महन्तगण]

१	रामकिशनदासजी	छपरा
२	चरणदासजी	बुरहानपुर, खण्डवा
३	सन्तशरणदासजी	कलालमाजरा, अम्बाला
४	आत्मारामजी	रुक्केके, धनौला, नाभा
५	निरंजनदासजी	पटियाला
६	मेहरदासजी	तख्तूपुरा, फिरोजपुर
७	सन्तोषदासजी	बुडुन्दी, लोटवद्दी, लुधियाना

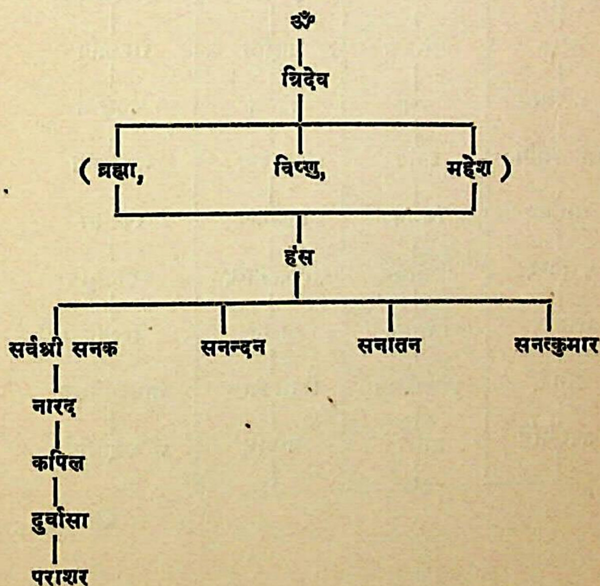
८	मनीरामजी	बरनाला, पटियाला
९	नारायणदासजी (गृहस्थ)	हंडिआया, बरनाला, पटियाला
१०	भगवानदासजी, गोविंददासजी	कालेके, पटियाला
११	निरंजनदासजी, धर्मदासजी	रामपुर, मानसा, पटियाला
१२	बुद्धदासजी	सितौज, सनाम, हिसार
१३	कृपालदासजी	छाजली, पटियाला
१४	चरणदासजी (गृहस्थ)	अलाड़, पटियाला
१५	निरंजनदासजी (गृहस्थ)	माँगेवाल, शेरपुर, पटियाला
१६	रामनारायणजी	घूरकोट, अहमदगढ़, लुधियाना
१७	रामस्वरूपजी	लताला, लुधियाना
१८	बुद्धदासजी	खेड़ा, अहमदगढ़, लुधियाना
१९	शेखरनन्दजी	बड़ा नंगल, अहमदगढ़, लुधियाना
२०	इन्द्रदासजी	लताला, अहमदगढ़, लुधियाना

[वक्त मलियेकी पद्धतिके आश्रम और महन्तगण]

१	गणेशदासजी	रकागंवज, मिश्ली, पटना
२	आत्मस्वरूपजी (गृहस्थ)	सुलतानगंज, भागलपुर
३	किशनदास, दीनदयालदासजी	राजाका केवलराम, बुलडाणा
४	पूरणदासजी	सीतलसराय, बहादुराबाद, सहारनपुर
५	नारायणदासजी	कुवाड़ागली, अमृतसर
६	रामदासजी	सहारन माजरा, फिलाहींरू, लुधियाना

४

उदासीन-सम्प्रदाय-परम्परा



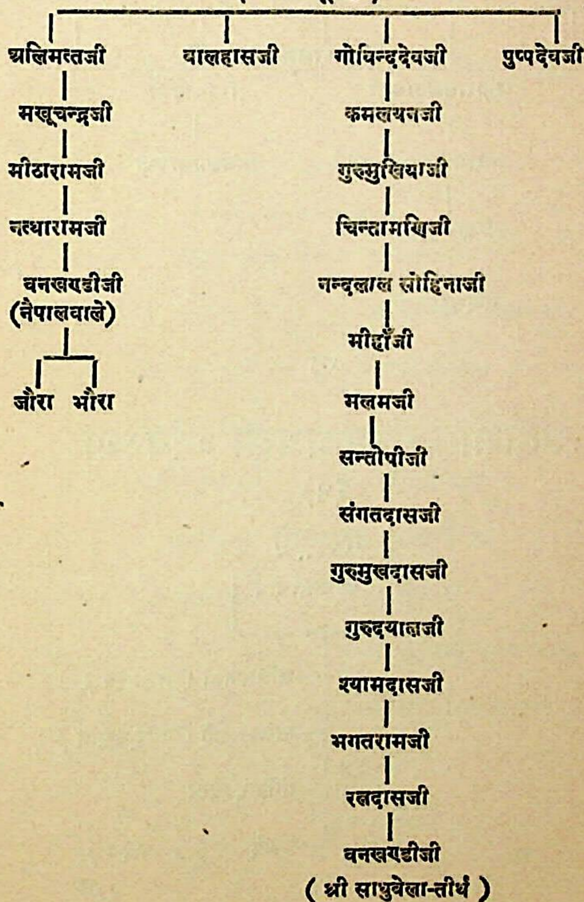
जमदग्नि	सर्वेश्वर	प्रतापवान्	कुण्डल
परशुराम	स्वर्णविन्दु	पद्म	सुरथ
कुशिक	श्रुति	सुखेन	सुचेत
विश्वामित्र	माधवमुनि	चन्द्रगुप्त	उदयप्रकाश
सुप्रभ	आचरण	चन्द्रचूड़	स्वतःसिद्ध
श्रीवर्धन	हरिनारायण	हरदत्त	लक्ष्मीदास
वत्समुनि	पद्माक्ष	रमेश	सुमेरदास
सुखदर्शन	रत्नमुनि	कृपाराम	हरिगंभीर
कनक	हरियश	वाह्लीक	रामऋषि
भास्कर	चन्द्र	दिनेश	चतुर्भुज
महेन्द्रमुनि	मतंग	निजानन्द	भाष्यमुनि
मार्तण्ड	चिर्मन	ब्रह्मानन्द	रत्ताराम
अरविन्द	त्रिलोचन	सच्चिदानन्द	अतीतमुनि
मकरन्द	प्रभाकर	हारीत	वेदमुनि
हेमाद्रि	दुःखमोचन	त्रिलोकराम	अविनाशीराम
तपोनिधि	भ्रामर	वररुचि	श्रीचन्द्राचार्य

५

श्री श्रीचन्द्राचार्यजीकी परम्परा

श्रीचन्द्राचार्य

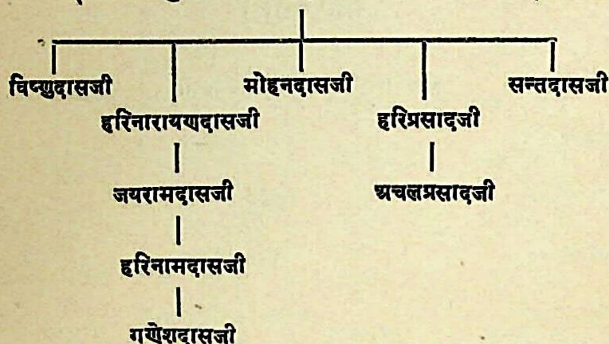
(चार धूणे)



६

स्वामी वनखण्डीजी

(श्री साधुबेला आश्रम, सक्खर, सिन्धवाले)



७

उदासीन सम्प्रदायकी व्यवस्था

(१)

चार धूणे

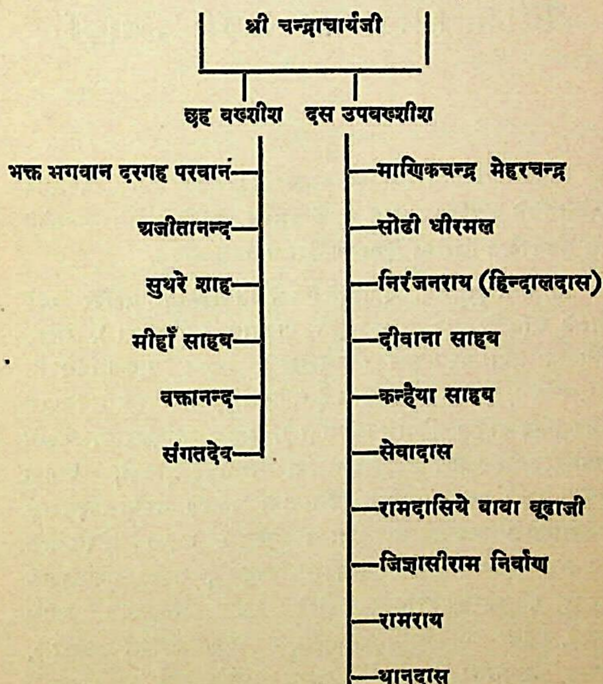
श्री श्रीचन्द्राचार्य

- अलिमत्तजी (अलमस्त)
- बालहासजी (बालू हसना)
- गोविन्ददेवजी
- पुष्पदेवजी (फूलसाहब)

८

(२)

छह बख्शीश और दस उपबख्शीश



९

उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ा

प्रसिद्ध उदासीन पंचायती अखाड़ेको सुरक्षित और व्यवस्थित करनेके लिये आश्विन कृष्णा ३, सं १८४४ को निम्नांकित महन्तोंने एक संकल्प-पत्र लिखकर दिया जो इस प्रकार है—

हम चारों धूणों तथा बख्शीशोंके निम्नांकित महन्तगण यहाँपर आपके सामने आए हैं—गुरु साहब महन्त प्रागदास (पटियाला), महन्त नेतानन्द तथा श्यामदास (अमृतसर), महन्त गुरुनारायणदास (लखनऊ), महन्त भगवानदास (अयोध्या), महन्त नारायणदास (हैदराबाद दक्षिण निर्वाण अखाड़ा), महन्त गुरुमुखदास, महन्त गंगाप्रसाद (फुलेरी), महन्त मनसाराम (सरकड़ी, परगना नजीबाबाद), महन्त हरिदास (डेरा बाबा नानक), महन्त स्वरूपदास (देहरादून), महन्त शाहजादा (बक्सर), महन्त गोपालदास (जयपाल), महन्त विष्णुदास (कीरतपुर), महन्त गुरुमुखदास (मोड़ा), महन्त ब्रह्मदास (रोही), महन्त नानकबख्श (जवाल खुर्द), महन्त नानकबख्श (अमृतसर), महन्त रामप्रसाद (उमाया), महन्त मखनीराम (हीरा), महन्त कर्मदास (नानकमता), महन्त लक्ष्मणदास (लखनऊ), महन्त विष्णुदास (खैराबाद), महन्त

आत्माराम (भैरो), महन्त साधूराम (बलाड़ी), महन्त सुन्दरदास (नान्देड़) महन्त प्रीतमदास (नकोरवा), महन्त हरियश (कालेके), महन्त श्यामदास, महन्त रामशरण (अमृतसर), महन्त हरिप्रसाद (अम्बलवाल), महन्त रामप्रसाद (लखनऊ), महन्त पूर्णदास पटना (अजीमाबाद), महन्त मानदास (सोलाना), महन्त रामशरण (जोनवा), महन्त रामशरण (गुजरात), महन्त निहालदास (चिनौड़), महन्त गुरुमुखदास (होशियारपुर), महन्त संतदास (कीरतपुर), महन्त जयपालदास (चीनेघाटी), महन्त हरिशरणदास तथा महन्त ब्रह्मगणेश (फगवाड़ा), महन्त कृष्णदास (जलालपुर), महन्त भगतराम (रोपड़), बाबा गुरुपथदास (खेराबाद), महन्त कृष्णदास (पटियाला), महन्त गोविन्ददास (हैदराबाद) ।

उपर्यंकित हम सभी महन्त अधिकारी उदासीन प्रत्येक प्रदेशके हैं और संकल्प करते हैं कि अखाड़ा पंचायती उदासीन महन्त, संत, साधु, अधिकारी, महन्त रामप्रसाद, महन्त हरिदास और महन्त ज्ञानप्रकाश सभी महन्त ब्रह्मनारायणकी सेवा टहलमें हैं और रहेंगे क्योंकि हमारी यह बड़ी सभा है जो हमारी रक्षा करेगी । इसमें हमारे सम्प्रदायके ही साधु सम्मिलित होकर कार्यकर्त्ता बनेंगे । सं० १८४३ में प्रयागमें अखाड़ेका मकान बनाया गया । इस प्रकार अखाड़ा (आश्रम) बनाकर इसके निम्नांकित उद्देश्य स्थिर किए गए हैं—

(१) जो सम्पत्ति महन्त और संत उदासीनों तथा गृहस्थोंने अखाड़ेको धर्मार्थ कार्यके लिये देकर इस पंचायती अखाड़ेका निर्माण किया है उस पूँजीका सुप्रबन्ध करना और जो धन प्राप्त होता है तथा नियमानुसार बढ़ता है उसकी रक्षा करना तथा अखाड़ेकी मान-मर्यादा बनाए रखते हुए उसकी उन्नति करना ।

(२) अखाड़ेमें बाहरसे आए हुए उदासीन साधु, संत, महन्तके निवास और भोजन आदिका उचित प्रबन्ध करना । इसी प्रकार अन्य किसी स्थानपर जहाँ साधु-समागम होता हो वहाँ भोजन आदि-की व्यवस्था करना ।

(३) जो मठ, स्थान (संगत) अखाड़ेसे भिन्न हैं उनमें महन्त बनाना, उन महन्तोंकी देख-भाल तथा रक्षाका प्रबन्ध करना और यदि कोई व्यक्ति उनके अधिकारमें हस्तक्षेप करता हो उससे उस स्थानकी मर्यादा और अस्तित्वको बनाए रहनेके लिये उचित व्यवस्था करना।

इस अखाड़ेमें चारों पंगतोंके चार महन्त इस क्रमसे होते हैं—एक महन्त अलमस्तजीकी पंक्तिका, एक गोविन्द साहबजीकी पंक्तिका, एक बालू हसनाजीकी पंक्तिका तथा चौथा महन्त भगत भगवानजीकी परम्परासे क्योंकि फूल साहबके धूनेके कोई साधु वहाँ उपस्थित नहीं हुए। पाँचवें स्थानपर गोला साहबकी स्थापना की गई। इस पंचायती अखाड़ेका प्रमुख केन्द्र प्रयाग है और इसकी शाखाएँ गोपीगंज, असरगंज, काशी, गया, वृन्दावन, कुरुक्षेत्र, अमृतसर, उज्जैन, दक्षिण हैदराबाद, त्र्यम्बक, शिवकांची, गुंटूर, पटियाला और हरिद्वार आदि स्थानोंमें हैं।

इस प्रकार निर्वाण प्रीतमदासजीने उदासीन सम्प्रदायके समस्त साधुओंको एक सूत्रमें बाँधकर वैदिक धर्मके प्रचारके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन अखाड़ोंमें महन्तोंके अतिरिक्त कोठारी, पुजारी, कारबारी, भंडारी आदि अनेक साधु कार्य-कर्ता रहते हैं। ये लोग पैदल देश भरमें हाथी-घोड़े-ऊँट लेकर भ्रमण करते हैं और उदासीनोंके आश्रमोंमें जाकर वहाँके महन्तोंसे पूजा ग्रहण करते हैं। ये अपने साथ गोला साहबके अतिरिक्त ठाकुरजीकी प्रतिमा और वेद आदि वैदिक धर्मग्रन्थ भी रहते हैं। इनके यहाँ सभी साधु जटाधारी होते हैं और किसी प्रकारका कोई सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनते।

उदासीन पंचायती नया अखाड़ा

सन् १८०२ में उदासीन साधुओंमें परस्पर मतभेद हो जानेके कारण प्रयागके बाँधके महात्मा सूरदासजीकी प्रेरणासे प्रयागमें एक अलग संघटन किया गया जिसका नाम 'उदासीन पंचायती नया

अखाड़ा' रक्खा गया और तबसे पहलेवाले अखाड़ेका नाम उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ा रक्खा गया। इस अखाड़ेका मुख्य केन्द्र तो प्रयागमें है किन्तु इसके स्थान हरिद्वार, गया, काशी और कुरुक्षेत्र-में भी हैं। यद्यपि इनके नियम आदि समान हैं किन्तु नये अखाड़ेमें केवल संगत साहबकी परम्पराके ही साधु सम्मिलित हैं और बड़े पंचायती अखाड़ेमें सभी उदासीन साधु सम्मिलित हैं। यह उदासीन पंचायती नया अखाड़ा ६ जून सन् १६१३ को महन्त निहालदास, महन्त चेतनदास, महन्त अनन्तदास, महन्त नारायणदास, महन्त वीरमदास, महन्त मौलदर्या, महन्त संतदास तथा महन्त गुरुप्रसादके हस्ताक्षरसे पंजीकृत किया गया। इनके यहाँ गुरु संगत साहबकी परम्परासे ही चार महन्त बनाए जाते हैं। कुम्भके अवसरपर इन दोनों अखाड़ोंकी शाही (शोभायात्रा) निकलती है।

यथार्थ प्रतिलिपि

॥ श्री गुरु श्री श्रीचन्द्राय नमः ॥

श्री १०८ पूज्यपाद अद्वैत पञ्च परमेश्वर पञ्चायती अखाड़ा
बड़ा उदासीन निर्वाण
अथवा
पञ्चायती बड़ा अखाड़ा उदासीनका
संशोधित स्थापना-पत्र तथा नियमावली

संस्थाका नाम

इस संस्थाका नाम श्री १०८ पूज्यपाद अद्वैत पंच परमेश्वर पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीन निर्वाण है जो पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीनके नामसे भी प्रचलित है।

लक्ष्य तथा उद्देश्य

उक्त संस्थाके लक्ष्य और उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

१—उदासीन सम्प्रदाय तथा मतके धार्मिक, व्यावहारिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका सब उचित उपायों-द्वारा प्रचार

करना, जिसमें संस्थाके एक विभाग-द्वारा भ्रमण करना तथा धर्मोपदेश देना भी सम्मिलत है।

२—श्री प्रयागराज, हरिद्वार, उज्जैन और त्र्यम्बक तीर्थ-स्थानोंमें कुम्भ और अर्धकुम्भके अवसरोंपर जहाँ अखाड़ा अपना झण्डा लगाकर डेरा डाले वहाँपर आए हुए समस्त उदासीन सन्त और महन्तोंके ठहरने और भोजनका प्रबन्ध करना।

३—अखाड़ेके प्रधान कार्यालय तथा उसकी शाखाओंमें आगन्तुक उदासीन मतके समस्त सन्त तथा महन्त तीर्थ-यात्रियोंके ठहरने और भोजनका प्रबन्ध करना।

४—उदासीन सम्प्रदायके सन्त-महन्तोंके प्रबन्धाधीन विभिन्न डेरों, मठों, सङ्गतों, स्थानों, मन्दिरों और अखाड़ोंके महन्तोंकी नियुक्ति, गद्दी, निष्कासन-सम्बन्धी विषयोंका निरीक्षण तथा संचालन करना, उक्त स्थानोंके सन्त महन्तोंकी नियुक्ति, गद्दी तथा पृथक्करण विषयोंमें झूठे दावेदारों और अनधिकृत पुरुषोंके हस्तक्षेपको क़ानूनी कार्यवाही तथा अन्य आवश्यक उपायों-द्वारा रोकना तथा महन्त-पदके उपयुक्त व्यक्तिके न होनेपर ऊपर लिखे हुए किसी विशेष स्थान या सभी जगहोंकी रक्षा करना तथा उक्त उद्देश्योंकी पूर्तिमें आवश्यक व्यय करना।

५—आध्यात्मिक तथा धार्मिक शिक्षा तथा संस्कृत पढ़ानेके लिये पाठशालाएँ स्थापित करना।

६—अखाड़ेकी सम्पत्तिसे अखाड़ेके ही लाभके लिये महाजनी तथा रुपयेका लेन-देन करना और इस तरीकेसे प्राप्त लाभ-धनको अखाड़ेके सब उद्देश्योंकी पूर्तिमें खर्च करना। लेन-देनका कार्य अखाड़ेके सब या किसी भी महन्त-द्वारा प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंमें भी होगा।

७—बिना जाति-पाँतिके भेद-भावके गरीबोंको दान देना तथा प्रबन्धकारिणी समितिके निश्चयके अनुसार अन्य लोकोपकारी तथा शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओंकी सहायता करना।

८—अखाड़ेके धनको समय-समयपर प्रवन्धकारिणी समितिके निश्चयानुसार जायज़ कामों अथवा व्यवसायोंमें लगाना।

नियम तथा कायदा

परिभाषाएँ—

१—उदासीन साधु : उदासीन साधु शब्दके प्रयोगसे उस व्यक्तिका तात्पर्य होगा जो आचार्य श्री श्रीचन्द्रदेव-द्वारा स्थापित परम्परा तथा सिद्धान्तोंके अनुसार उदासीन सम्प्रदायमें नियमानुसार दीक्षित हो। उसे विरक्त तथा जटाजूटधारी रहना होगा।

२—'झाड़ा-अखाड़ा' का अर्थ उस प्रक्रियासे है जिसमें प्रवेश होते समय नवागन्तुक अपनी सारी चल तथा अचल सम्पत्ति अखाड़ेको सौंपकर गोला साहवपर हाथ रखकर शपथ लेते हैं कि वह जबतक अखाड़ेके सदस्य रहेंगे, अखाड़ेके समस्त नियमोंको मानेंगे और अखाड़ा उनका भरण-पोषण करेगा।

३—'श्रीमहन्त' का तात्पर्य उस व्यक्तिसे होगा जो आगे उल्लेख की हुई निर्वाचन-पद्धतिके अनुसार चुने हुए महन्तोंमें सबसे पुराना हो।

४—'मुख्य महन्त' से अभिप्राय उन चार महन्तोंसे हैं, जो अखाड़ेके नियमानुसार इस पदके लिये चुने जाते हैं।

५—स्थानीय महन्तका आशय उन महन्तोंसे होगा जो अखाड़ेके नियमानुसार नियुक्त किए जायँ और जिनको अखाड़ेके प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंका प्रवन्ध सौंपा जाय।

६—'निर्वाण' का अभिप्राय उन सब उदासीन साधुओंसे हैं जो झाड़ा-अखाड़ा क्रिया-द्वारा अखाड़ेमें प्रवेश हों।

७—'वस्त्रधारी' का अभिप्राय उस उदासीन बालक साधुसे है जिसकी अवस्था १८ वर्षसे कम हो लेकिन जो उदासीन मतके अनुसार दीक्षित होकर अखाड़ेमें प्रविष्ट हो।

८—'पङ्गत' चार होते हैं—उत्तर, पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम।

९—'धूनी' : तीन निर्वाणों तथा एक वस्त्रधारीके समूहकी एक धूनी होगी।

१०—तंगतोड़ा : यह एक उपाधि है जो वस्त्रधारियोंको वयस्क होनेपर कुम्भ और अर्धकुम्भके अवसरपर प्रदान की जाती है।

११—पद्धत : पद्धतिका अभिप्राय अलमस्तजी, भगत भगवानजी, मीहाँजी तथा बालूहसनाजीकी पद्धतिसे होगा।

विधान

इस समय पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीनका प्रधान कार्यालय प्रयागमें है तथा उसकी शाखाएँ निम्नाङ्कित स्थानोंपर है। साधारण समिति साधारण सभामें निश्चय करके प्रधान कार्यालयको किसी दूसरे स्थानपर ले जा सकती है तथा नई शाखाएँ भी स्थापित की जा सकती है—

१—बनारस	मुहल्ला भदैनी
२—कनखल	जिला सहारनपुर, उ० प्र०
३—गया	मुहल्ला साहबगंज, बिहार
४—सुलतानगंज	जिला भागलपुर
५—असरगंज	जिला मुंगेर
६—प्रताप टाँडा	जिला मुजफ्फरपुर
७—गोपीगंज	बनारस स्टेट
८—बलिया	उत्तर प्रदेश
९—वृन्दावन	जिला मथुरा
१०—सुधासर	पटियाला स्टेट
११—कुरुक्षेत्र	थानेश्वर, पंजाब
१२—उज्जैन	ग्वालियर स्टेट
१३—त्र्यम्बक	नासिक
१४—निर्वाण अखाड़ा मुसा नदी	हैदराबाद स्टेट
१५—गुण्टूर	लाल तालाब
१६—शिवकांचीवरम्, विष्णुकंजीवरम्	मद्रास

१७—रामधुनी	नेपाल स्टेट
१८—दयालपुर	जिला गुड़गाँव, पंजाब
१९—संडीला	मुहल्ला खत्रीटोला, जिला हरदोई।

सम्पत्ति तथा पूँजी

अखाड़ेकी सम्पत्ति जमींदारी, मकानात, दूकानें, नगदी तथा अन्य चल सम्पत्तिके रूपमें है। अखाड़ेकी आमदनी १-जमींदारी, २-मकानों और दूकानोंका किराया, ३-बागोंके बेचने तथा महाजनी और लेन-देनके सूद, पूजाके चढ़ाव, गल्ला और लकड़ीकी बिक्री तथा अन्य जायज कारोबार और व्यवसायोंसे है।

अखाड़ेकी महाजनी और लेन-देनका कार्य स्थानीय महन्तों-द्वारा प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंमें होगा और उससे प्राप्त लाभ धन अखाड़ेके समस्त आयका एक भाग समझा जायगा जो स्थापना-पत्र अथवा मेमोरेण्डममें दिए हुए उद्देश्योंपर खर्च किया जायगा।

सम्पत्तिपर अधिकार

सारी वर्तमान तथा भविष्योपार्जित चल अथवा अचल सम्पत्तिका मौलिक वस्तुत: अखाड़ेकी प्रबन्धकारिणी समिति है लेकिन इससे प्रबन्धकारिणी समिति अथवा उसके सदस्योंको कोई व्यक्तिगत स्वत्व न प्राप्त होगा। सम्पत्तिपर वास्तविक तथा स्थायी स्वत्व उपर्युक्त संस्थाको ही होगा।

प्रबन्ध

अ—पंच परमेश्वर:—यह अखाड़ेका पर्यटनकारी भाग है जो निरन्तर भ्रमण करता है। प्राचीनतम परम्पराके अनुसार तीर्थ-यात्रा तथा उदासीन सम्प्रदायके स्थानोंका निरीक्षण करते हुए यात्रा पैदल की जाती है और ऐसे ही की जायगी। यात्रामें हाथी, ऊँट तथा घोड़े भी रहेंगे। इस यात्रामें पंच परमेश्वर उदासीन मतके धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचार करते हुए प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंमें भी

जायँगे। इष्टदेव (मूर्ति) हाथीपर रहेंगे। इसके साथ निम्नलिखित पदाधिकारी होंगे। समयके आवश्यकतानुसार जन-संख्यामें अन्तर हो सकता है लेकिन मुख्य महन्तोंकी संख्या सदैव वही रहेगी—

१—श्रीमहन्तको लेकर चार मुख्य महन्त।

२—६८ से अधिक निर्वाण तथा २४ से अधिक वस्त्रधारी न रहेंगे।

मुख्य महन्त तथा श्रीमहन्त निम्नांकित कार्यकर्ताओंको चुनेंगे—

पुजारी १	भण्डारी १
कोठारी १	कोतवाल १
कारबारी २	पटेल ४

उपर्युक्त कार्यकर्तागण मुख्य महन्त तथा श्रीमहन्तके अधीनस्थ होंगे जिन्हें इनकी नियुक्ति तथा पृथक् करनेका भी अधिकार होगा।

ब–१—प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंका सारा प्रबन्ध निम्नलिखित रीतिसे स्थानीय महन्तों-द्वारा होगा जो नीचे लिखे ढंगपर चुने जायँगे। प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंके स्थानीय महन्तोंकी संख्या स्थान विशेषके महत्त्व तथा कार्यंकी आवश्यकतापर निर्भर होगा। किसी स्थानपर उनकी संख्या क्या होनी चाहिए इसका निश्चय श्रीमहन्त तथा मुख्य महन्तों-द्वारा समय-समयपर होता रहेगा।

२—स्थानीय महन्तोंका चुनाव निर्वाणोंमेंसे मुख्यतः पद्धत अलमस्त साहब, बालूहसना साहब, भगत भगवान साहब तथ मीहाँ साहबकी पद्धतसे होगा। चुननेका अधिकार श्रीमहन्त तथा मुख्य महन्तोंको रहेगा और उन्हें यह भी अधिकार है कि पद्धत फूलशाह साहब व पद्धत दीवाना साहब व पद्धत जीतमल साहबके निर्वाणोंमेंसे भी स्थानीय महन्त चुन लें। इनके स्थानान्तरण तथा पृथक् करनेका भी अधिकार श्रीमहन्त तथा मुख्य महन्तोंको ही होगा।

३—प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंकी सारी चल और अचल सम्पत्ति तथा रुपये-पैसेका इन्तजाम तथा अन्य सारा प्रबन्ध उस

जगहके स्थानीय महन्तोंकी रायसे व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूपमें होगा। स्थानीय विशेषताओंको ध्यानमें रखते हुए निम्न रीतिसे प्रबन्ध किया जायगा—

अ—स्थानीय महन्तोंके बहुमतसे एक कोठारी चुना जायगा। कोठारीपर सम्पूर्ण रुपये-पैसे तथा चल सम्पत्तिका भार और उत्तर-दायित्व होगा। उसे सारे आय-व्ययका बाकायदा हिसाब भी रखना होगा। स्थानीय महन्त यदि चाहें तो हिसाब आदि लिखनेके लिये वैतनिक मुनीम अथवा किसी ऐसे कार्यके लिये भी कोई आदमी वेतनपर रख सकते हैं।

ब—प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंके स्थानीय महन्तगण गाँवोंमें लगानके वसूल-तहसीलके लिये तथा अखाड़ेकी तरफसे रसीद काटनेके लिये अपनेमेंसे ही एक या अधिक स्थानीय महन्त नियुक्त कर सकते हैं और यदि वे चाहें तो इस कार्यके लिये कारिन्दे भी रख सकते हैं। वसूल किया हुआ सारा धन प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंके कोठारी-के पास जमा होगा।

स—अखाड़ेकी चल अथवा अचल सम्पत्तिके सम्बन्धमें अथवा महाजनी और लेन-देनके निमित्त सारे मुकदमे अखाड़ेकी तरफसे प्रधान कार्यालय अथवा शाखाओंके किसी स्थानीय महन्त-द्वारा दायर किए जायँगे। जिस जगह विवादित सम्पत्ति स्थित हो या जहाँ रुपयेका लेन-देन हो, प्रधान कार्यालय और शाखाओंके स्थानीय महन्तोंको ऐक्ट २१ सन् १८६० दफा ६ के अन्तर्गत सारे अधिकार दिए जाते हैं। प्रधान कार्यालय अथवा किसी शाखा-संबन्धी सारे कानूनी या अन्य मामलोंमें स्थान विशेषका एक या उससे अधिक स्थानीय महन्त अखाड़ेके प्रतिनिधि-स्वरूप सब आवश्यक कार्य कर सकेगा।

द—लेन-देन-सम्बन्धी प्रोनोट, रेहननामा, हुण्डी आदि हर तरहके दस्तावेजातका तकमीना पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीनके हकमें होगा। लेकिन ये स्थानीय महन्त, मुख्य महन्त तथा श्रीमहन्तके नाममें भी लिखे जा सकते हैं। यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि

स्थानीय महन्त, मुख्य महन्त अथवा श्रीमहन्तके नाममें दस्तावेजोंके लिखे जानेसे उनमें उनको कोई व्यक्तिगत स्वत्त्व नहीं प्राप्त होगा। अखाड़ेके हकमें दस्तावेज किसी भी भाषा या बोलीमें ही लिखा जा सकता है लेकिन उसमें किसी स्थानीय मुख्य अथवा श्रीमहन्तका नाम आ जानेसे अखाड़ेके स्वत्वोंमें कोई असर या कमी न होगी। अखाड़ेका कोई भी स्थानीय महन्त अखाड़ेकी ओरसे रजिस्ट्रीके लिये दस्तावेज सब-रजिस्ट्रार अथवा एतदर्थ किसी अन्य अफसरके समक्ष पेश कर सकता है और उसका यह कार्य आखाड़े-द्वारा सम्पादित किया हुआ समझा जायगा।

य—स्थानीय महन्तोंको अखाड़ेके सब प्रकारके पावनेकी रकम सब सरकारी मुहकमों, स्थानीय प्रबन्धकारिणी संस्थाओं, दीवानी तथा मालकी अदालतों तथा रजिस्ट्री-शुदा अथवा बिला रजिस्ट्री-शुदा कम्पनियोंसे वसूल करने और उसके लिये और अखाड़ेकी तरफसे रसीद भरपाई लिखनेका अधिकार प्राप्त होगा। इस प्रकारके अधिकारका उपयोग कोई भी स्थानीय महन्त कर सकता है।

कमेटियाँ, समितियाँ

समितियाँ दो प्रकारकी होंगी—

१—प्रबन्ध-समिति, २—स्थानीय समिति

प्रबन्ध-समिति : श्रीमहन्तको मिलाकर चारों मुख्य महन्तों तथा प्रधान कार्यालय और शाखाओंके समस्त स्थानीय महन्त प्रबन्ध-समितिके सदस्य होंगे।

अधिकार

१—साधारण समितिको समय-समयपर आवश्यकतानुसार अखाड़ेके उत्तम प्रबन्ध तथा स्थानीय महन्तोंके संचालनके लिये उपनियमोंके बनानेका अधिकार होगा। प्रबन्धकारिणी समिति ही अखाड़ेकी साधारण समिति भी होगी।

२—प्रबन्धकारिणी समितिकी बैठक वर्षमें कमसे कम एक दफा होगी। इस बैठकके समय तथा स्थानका निश्चय मंत्री करेगा,

वह प्रोग्रामकी विषय-सूची बनाकर उसकी एक प्रतिलिपि प्रत्येक सदस्यके पास भेज देगा ।

३—प्रबन्धकारिणी समितिकी वार्षिक बैठकमें उसके सदस्योंमेंसे एक सदस्य आडीटर चुना जायगा जो प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंके हिसाबकी जाँच करके अपनी रिपोर्ट देगा । प्रबन्धकारिणी समिति उसपर जो कार्यवाही उचित समझे कर सकती है ।

४—अखाड़ेके लक्ष्यों और उद्देश्योंके प्रतिकूल न होते हुए भी प्रबन्धकारिणी समितिको अधिकार है कि वह अखाड़ेके किसी नियम या कायदेमें परिवर्तन, संशोधन या काटछाँट करे अथवा उसमें नये नियमका समावेश करे और उसी तरह स्थापना-पत्रमें परिवर्तन हो सकेगा ।

५—इसकी बैठकका कोरम २५ मेम्बरोंका होगा । बैठकके सभापति श्रीमहन्त होंगे और उनकी अनुपस्थितिमें कोई भी पुराना मुख्य महन्त सभापतिका आसन ग्रहण करेगा ।

स्थानीय समिति

अखाड़ेके प्रधान कार्यालय तथा उसकी हर एक शाखाकी अपनी एक निजी स्थानीय कमेटी होगी जिसके सदस्य उस स्थानके सब स्थानीय महन्त होंगे । प्रत्येक स्थानीय समिति, प्रधान कार्यालय तथा अपनी-अपनी शाखाके प्रबन्धके लिये पृथक्-पृथक् जिम्मेदार होगी । स्थानीय समिति जितनी बैठकोंकी आवश्यकता पड़े कर सकती है । इन बैठकोंका कोरम पाँच सदस्योंका होगा । लेकिन यदि किसी शाखामें ५ या उससे कम स्थानीय महन्त हों तो बैठकमें प्रत्येक स्थानीय महन्तकी प्रस्तुति आवश्यक होगी । प्रत्येक शाखामें स्थानीय महन्त-समितिकी बैठकोंके विवरणके निमित्त एक रजिस्टर रक्खा जायगा और हर बैठककी कार्यवाहीकी एक प्रतिलिपि उसके १५ दिनके अन्दर सेक्रेटरीके पास भेज देनी होगी ।

मुख्य महन्त, उनका निर्वाचन तथा अधिकार

निर्वाचन : प्रबन्धकारिणी समितिके सब सदस्य, पंच परमेश्वरके सब निर्वाण तथा निर्वाचनके समय प्रस्तुत उदासीन मतके अन्य

महन्तगण बहुमतसे चार मुख्य महन्त चुनेंगे। मुख्य महन्त प्रबन्ध-कारिणी समितिके सदस्यों तथा निर्वाणोंमेंसे निर्वाचित होंगे, प्रत्येक चार पद्धत यानी अलमस्त साहब उत्तर धूना, भगत भगवान साहब पूर्व बख्शीश, मीहाँ साहब दक्षिण बख्शीश, बालू हसना साहब पश्चिम धूनामेंसे एक-एक मुख्य महन्त चुने जायँगे और निर्वाचनके ही तरीकेसे वे पृथक् भी किए जा सकेंगे।

अधिकार : अखाड़ेके विभिन्न नियमोंके अन्तर्गत उपर्युक्त अधिकारोंके अलावा मुख्य महन्तोंको निम्नलिखित अधिकार भी प्राप्त होंगे :—

१—श्रीमहन्त-सहित मुख्य महन्तगण अखाड़ेके प्रमुख पदाधिकारी हैं और उनका निरीक्षण प्रधान कार्यालय तथा अखाड़ेकी समस्त शाखाओंपर रहेगा।

२—किसी निर्वाणको अखाड़ेमें प्रविष्ट करनेका अन्तिम तथा निर्णयात्मक निश्चय केवल श्रीमहन्त तथा मुख्य महन्तोंका ही होगा।

३—अखाड़ेके समस्त पर्यटनका भाग पूर्णतः इन्हींके अधीन रहेगा।

४—पर्यटनकारी भागके कोठारकी कुंजी श्रीमहन्तके पास रहेगी।

५—श्रीमहन्त-सहित मुख्य महन्तगणको अधिकार है कि वे किसी ऐसे निर्वाणको जो अयोग्य हो अथवा अन्य निर्वाणोंसे लड़ता-झगड़ता हो उसे एकमतसे निकाल दें।

६—श्रीमहन्त तथा मुख्य महन्तोंके पास अखाड़ेकी मुहर रहेगी जिसकी छाप स्थानीय महन्तोंकी नियुक्ति, स्थानांतरण तथा निष्कासनकी आज्ञाओंपर तथा उनके द्वारा प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंमें भेजे गए प्रत्येक पत्र-व्यवहारपर रहेगी। मोहर लगनेपर भी उनपर उनके हस्ताक्षरका होना आवश्यक होगा।

७—श्रीमहन्त तथा मुख्य महन्तोंको स्थानीय महन्तोंमेंसे एक मंत्री तथा एक सहायक मंत्रीको नियुक्त करनेका अधिकार होगा तथा उनको इस तरहके अन्य सभी पदाधिकारियोंको पृथक् करनेका भी अधिकार होगा। मंत्री प्रधान कार्यालयमें रहेंगे।

मंत्री तथा सहायक मंत्रीके अधिकार

१—प्रबन्धकारिणी समितिकी वार्षिक साधारण सभा बुलाना।

२—साधारण सभाकी कार्यवाहियोंको दर्ज करनेके लिये एक रजिस्टर रखना तथा प्रबन्धकारिणी-समितिके सदस्योंका भी एक रजिस्टर रखना।

३—सेक्रेटरीकी हैसियतसे अखाड़ेकी तरफसे दूसरोंके विरुद्ध माल, फौजदारी अथवा दीवानीके मुकदमे दायर करना और अखाड़ेके विरुद्ध दूसरोंके द्वारा लाए हुए हर तरहके मुकदमेकी पैरवी करना। लेकिन यह अधिकार पूर्ण रूपसे स्थानीय महन्तोंको भी प्राप्त होगा।

४—हर प्रकारके सब कामोंके लिये अथवा किसी विशेषके लिये आवश्यकतानुसार दोनों मंत्री मिलकर अथवा पृथक्-पृथक् वैयक्तिक रूपसे मुख्तारामोंकी नियुक्ति कर सकते हैं।

५—सरकारी मुकदमों, स्थानीय संस्थाओं, माल तथा दीवानीकी अदालती और रजिस्ट्री-शुदा या गैर रजिस्ट्रीशुदा कम्पनियों तथा अन्य स्थानोंसे अखाड़ेको मिलनेवाली सारी रकम, याफतनीको वसूल करके अपने हस्ताक्षरसे रसीद या भरपाई देना।

६—श्रीमहन्त तथा मुख्य महन्त अथवा प्रबन्धकारिणी समिति-द्वारा प्रदत्त अन्य अधिकारोंका उपयोग करना।

साधारण

१—पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीन अत्यन्त प्राचीन कालसे स्थापित है। इसके सब पदाधिकारी सदस्यगण निर्वाण तथा वस्त्रधारी अवैतनिक रूपसे उदासीन अखाड़ेमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं। किसी भी अवस्थामें अथवा कारणसे प्रबन्धकारिणी समिति, इसके सदस्य या किसी भी अन्य समितिको जो भविष्यमें निर्माण की जाय उसे पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीनकी रजिस्ट्री-शुदा संस्थाको तोड़नेका अधिकार न होगा। उक्त अखाड़ा सदैव अटल रूपसे कायम रहेगा। अखाड़ेके सब सदस्योंका यह परम पवित्र नैतिक तथा

कानूनी कर्तव्य होगा कि वे अपना कार्य सच्चाई तथा ईमानदारीसे करें और सच्चे तथा निश्छल भावसे निरन्तर देशमें समय-समयपर स्थापित होनेवाले हर प्रकारके शासन-कालमें सदैव अखाड़ेके उद्देश्योंकी पूर्तिमें संलग्न रहें।

२—यदि कोई स्थानीय महन्त अखाड़ेके धन या सम्पत्तिकी चोरी या गबन करके जान-बूझकर बुरी नीयतसे उसकी किसी वस्तुको क्षति पहुँचावे या जाली दस्तावेजात, तमस्सुक, हुण्डी, रसीद अथवा ऐसे अन्य पत्रादिके द्वारा अखाड़ेके धनको हानि पहुँचावे तो उसके विरुद्ध भी अन्य व्यक्तियोंकी तरह अपराधोंके लिये एक समान कार्यवाही होगी।

३—अखाड़ेके मकानात तथा अचल सम्पत्तिका इन्द्रिराज सरकारी कागजातमें पंचायती अखाड़ा बड़ा उदासीनके नामसे होगा।

४—प्रधान कार्यालयमें एक रजिस्टर रहेगा जिसमें श्रीमहन्त-सहित सब मुख्य महन्तों और स्थानीय महन्तोंका नाम और पूरा पता लिखा जायगा। इस रजिस्टरमें प्रत्येक नामके सामने उसकी नियुक्ति, स्थानान्तरण, निष्कासन, पृथक्करण, त्यागपत्र अथवा उसकी मृत्यु-तिथिका भी उल्लेख होगा।

५—प्रबन्धकारिणी समिति अपनी साधारण बैठकमें यदि बहुमतसे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि अखाड़ेकी किसी अचल सम्पत्तिसे उसे कोई लाभ नहीं है तो उसे बेच सकती है और एतदर्थ अपने साधारण प्रस्ताव-द्वारा किसी स्थानीय महन्तको अथवा मंत्रियोंको अखाड़ेकी तरफसे उसका बैनामा लिखनेका अधिकार दे सकती है।

६—अखाड़ेके सब सदस्योंके भरण-पोषणका भार अखाड़ेपर होगा।

७—प्रत्येक स्थानीय समिति अपनी शाखाके हिसाबका ब्यौरा प्रति वर्ष चैत्रमें प्रधान कार्यालयमें भेज देगी।

प्रवेश

कोई भी उदासीन साधु किसी मुख्य महन्त अथवा श्रीमहन्तके समक्ष झाड़ा-अखाड़ाकी प्रक्रिया-द्वारा अपनी सारी चल और अचल सम्पत्ति अखाड़ेको सौंपनेके पश्चात् प्रविष्ट हो सकेगा।

जबतक किसी भी व्यवस्थामें उसका सम्पर्क अखाड़ेसे रहेगा वह निष्कपट तथा सच्चे भावसे अपना कर्त्तव्य-पालन करता रहेगा और अपने निजी परिश्रम तथा स्वतंत्र रूपसे अखाड़ेकी सदस्यता-पर्यन्त जो कुछ चल या अचल सम्पत्ति वह उपलब्ध करेगा सब अखाड़ेकी हो जायगी जिसपर उसे, उसके चेले या उत्तराधिकारियोंको अपना कोई स्वत्व कायम करनेका हक न होगा।

निषेध

१—अपने गुरु-स्थान, गद्दी या उसकी सम्पत्ति-सम्बन्धी किसी मुकदमे या कानूनी कार्यवाहीमें कोई मुख्य महन्त, श्रीमहन्त तथा स्थानीय महन्त जबतक वह अखाड़ेमें सदस्य रहे कोई मुकदमा न दाखिल कर सकेगा और न उसमें मुद्दई या मुद्दायलेह बन सकता है। यदि वह ऐसा करे तो उसके फलस्वरूप हानि या लाभका कोई उत्तरदायित्व अखाड़ेपर न होगा और न ऐसी कोई कार्यवाही अखाड़े-द्वारा की हुई मानी जायगी।

२—अखाड़ेकी किसी अचल सम्पत्तिको श्री महन्त या किसी मुख्य महन्त अथवा स्थानीय महन्तको पट्टेको छोड़कर दान-पत्र या बैनामा अथवा अन्य किसी भाँतिसे हस्तान्तरित करनेका अधिकार न होगा। केवल ऊपर बतलाए हुए नियमोंसे ही कोई सम्पत्ति बिक सकेगी।

३—किसी श्रीमहन्त, मुख्य महन्त या स्थानीय महन्तको अखाड़ेकी सम्पत्ति, धन या अन्य वस्तुओंको अनधिकार रूपसे नष्ट करने अथवा स्थापना-पत्रमें अङ्कित उद्देश्योंके अतिरिक्त अन्य तरीकों-पर खर्च करनेका अधिकार न होगा।

४—प्रधान कार्यालय तथा शाखाओंका व्यय उनकी आयसे अधिक न होगा।

५—समस्त मुख्य महन्त, श्रीमहन्त तथा स्थानीय महन्त और निर्वाण तथा वस्त्रधारी ब्रह्मचारी रहेंगे।

६—अपनी सदस्यताके समयमें किसी मुख्य महन्त, श्रीमहन्त अथवा स्थानीय महन्तको अपना कोई निजी व्यवसाय या कारोबार करनेका या उसमें भाग लेनेका अधिकार न होगा।

७—अखाड़ेमें रहते हुए किसी मुख्य महन्त, श्री महन्त अथवा स्थानीय महन्तको चेला बनानेका हक न होगा।

अपवाद : नेपालमें रामधुनी साहबके महन्त चेला बना सकते हैं।

८—सब मुख्य महन्तों, श्रीमहन्तों तथा स्थानीय महन्तोंको उदासीन मतके समस्त सिद्धान्तों, आचार तथा व्यवहारोंका अनुसरण करना होगा और किसीको अपना धर्म तथा मत परिवर्तन करनेका अधिकार न होगा।

९—ऊपर लिखे कारणोंसे किसी मुख्य महन्त, श्रीमहन्त अथवा स्थानीय महन्तको अखाड़ेके प्रधान कार्यालय अथवा किसी शाखाको तोड़नेका अधिकार न होगा।

१०—अखाड़ेकी किसी सम्पत्तिपर कोई मुख्य महन्त, श्रीमहन्त अथवा स्थानीय महन्त मालिककी हैसियतसे अपना नाम न दर्ज करा सकेंगे।

११—अखाड़ेकी तरफसे किसी मुख्य महन्त, श्रीमहन्त अथवा स्थानीय महन्तको कर्ज लेने या आर्थिक जिम्मेदारी ग्रहण करनेका अधिकार न होगा।

१२—अखाड़ेके मेम्बर किसी प्रकारका मादक द्रव्य सेवन नहीं कर सकते।

विविध विषय

१—विशेष आवश्यकतानुसार मंत्रियोंको अधिकार है कि वह साधारण जनरल समितिकी बैठक कुम्भ अथवा अर्धकुम्भियोंके अतिरिक्त अवसरोंपर भी बुला सकते है।

इस नियमावलीके पहले जो कार्यवाही हो चुकी है वह उसके अन्तर्गत समझी जायगी।

१०

श्री निर्वाण अखाड़ा संगलवाला

बाजार माई सेवाँ, अमृतसर

अखाड़ा संगलवालाके वर्तमान गद्दीनशीन महन्त नर्मदानन्दजी हैं और उनके गुरु महन्त सन्तरामजी थे।

इनका सम्बन्ध उदासीन बड़ा अखाड़ासे है और इनकी पद्धति दक्षिण पंगतकी है।

इनकी गुरुप्रणाली इस प्रकार है—

श्री श्रीचन्द्रजी महाराज
बाबा गोइन्द साहबजी
बाबा कमलनयनजी
बाबा चिन्तामणिजी
बाबा नन्दलाल सोहिनाजी
बाबा मीहाँ साहबजी
बाबा मजनू साहबजी
बाबा संगतदासजी

निर्वाण प्रियतमदासजी
बाबा ब्रह्मनिजरूपजी
बाबा नित्यानन्दजी
बाबा परमानन्दजी
बाबा चरणदासजी
बाबा बुद्धप्रकाशजी
बाबा हीरानन्दजी
बाबा सन्तरामजी
बाबा अमृतानन्दजी
महन्त नर्मदानन्दजी

वर्तमान महन्त स्वर्गीय महन्त अमृतानन्दजीके गुरुभाई और स्वर्गीय महन्त सन्तरामजीके शिष्य हैं।

स्थानकी संस्थापना

नासिक तथा रामेश्वरम् आदि तीर्थ-स्थानोंकी यात्रा करनेके अनन्तर निर्वाण प्रियतमदासजी दक्षिणमें जब भावनगर पहुँचे तब वहाँके शासक लच्छीराम, नानकराम एवं नारायणदासको सुपात्र और श्रद्धावान् देखकर वि० सम्वत् १८२४ की उन्हें निर्वाणजीने 'साधु-सुमन-चन्द्रिका' का उपदेश दिया जिसका उल्लेख 'साधु-सुमन-चन्द्रिका' पृष्ठ १२–१३ पर मिलता है। नानकरामजीने निर्वाण-मण्डलीको भण्डारा दिया। भण्डारा तैयार करते समय भूलसे खीरमें खाँडके स्थानपर नमक डाल दिया गया तो भी निर्वाण-मण्डली चुपचाप भोजन कर गई। जब नानकरामने प्रसादके रूपमें भण्डारेसे भोजन स्वयं पाया तब उसे रसोइयेकी भूलका पता लगा और उसने निर्वाणजीसे क्षमा-याचना की। निर्वाणजीकी इस सहिष्णुता तथा ऋद्धि-सिद्धि एवं सदुपदेशसे नानकराम ऐसा प्रभावित हुआ कि उसने सात लाख रुपया निर्वाणजीको भेंट करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की। निर्वाणजीने वह रुपया लेनेसे इनकार कर दिया, परन्तु नानकरामके बारंबार आग्रहको देखकर निर्वाणजीने अनिच्छापूर्वक वह धन स्वीकार किया। उसी धनसे

निर्वाण प्रियतमदासजीने प्रयाग, हरिद्वार आदि तीर्थ-स्थानोंपर पंचायती अखाड़ेकी स्थापना की तथा अमृतसरमें रहते हुए दरबार साहबके समीप अखाड़ा संगलवालाकी स्थापना की जिसका पहला नाम निर्वाण अखाड़ा था और बादमें उसका नाम अखाड़ा संगलवाला रक्खा गया। निर्वाणजीने अमृतसरमें अखाड़ा निर्वाणसर बनवाया जिसके पास एक तालाब भी बनवाया जो अब भी निर्वाणजीके नामपर स्थित है।

सम्वत् १८२४ के पश्चात् निर्वाणजी अमृतसरमें आकर रहने लगे थे। यहाँपर रहते हुए उन्होंने निर्वाण-ग्रन्थ भी लिखवाया था जो अखाड़ा संगलवालामें वि० सम्वत् १८३३ में समाप्त हुआ और जिसका उल्लेख निर्वाण-ग्रन्थकी समाप्तिपर इस प्रकार है :—

"इति निर्वाणग्रन्थ श्री अमृतसर स्थानम्'
मिति माघवदी तैदसी संमत १८३३ वीरवार शुभ दिनम्"

इससे सिद्ध होता है कि अखाड़ा संगलवालाकी स्थापना विक्रमी सम्वत् १८२५ (निर्माणकार्य) के लगभग हुई। विक्रमी सम्वत् १८३८ में निर्वाणजीने अखाड़ेमें एक विशाल कूप लगवाया जिसका समय कूपपर लगे हुए प्रस्तरसे प्रकट है। इस अखाड़ेमें निर्वाण-मण्डलीकी तपस्यामें संलग्न देखकर तथा चल रहे लंगरको देखकर महाराजा रणजीतसिंहजीने लंगरके लिये जिला जालन्धर तहसील नवाँशहरका घटारों ग्राम जागीरके रूपमें दे दिया जिसकी जागीर प्रतिवर्ष अब भी आती है। उसके पश्चात् उनके उत्तराधिकारी महन्तोंने इमारतें आदि बनवाकर तथा हरिद्वारके समीप ऊद नामक एक ग्राम खरीदकर इसकी आयके साधन बढ़ाए जिसकी आयसे अखाड़ेमें साधु-महात्माओं एवं विद्यार्थियोंके लिये लंगर चलता है और धर्मोपदेशका कार्य तथा मन्दिरकी पूजा-प्रतिष्ठाका कार्य चलता है।

पंचायती अखाड़ेके संस्थापक

अखाड़ा संगलवाला, अखाड़ा निर्वाणसर तथा 'अद्वैत पंचायती बड़ा अखाड़ा उदासीन' की स्थापना निर्वाण प्रियतमदासजीने की जिसका उल्लेख निर्वाण-ग्रन्थमें इस प्रकार किया गया है:—

"आपे पूर्ण ब्रह्म अमृतसर है।
आपे पूर्ण ब्रह्म है रामदासपुर।
आप सतगुरु निर्वाणअखाड़ा,
आपे निर्वाणसर।
आप पूर्ण ब्रह्म सत्गुरु निर्वाण अखाड़ा थापिया'
आपे सत्गुरु निर्वाण लिया उठाय।"

'निर्वाण अखाड़ा'से अभिप्राय अखाड़ा संगलवाला है क्योंकि इसका आरम्भिक नाम निर्वाण अखाड़ा ही था। अखाड़ा संगलवाला तो इसका नाम कुछ समय पश्चात् प्रसिद्ध हुआ। निर्वाण अखाड़ा थापिया-से अभिप्राय निर्वाण उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ाकी स्थापना की है। उदासीन पंचायती बड़े अखाड़ेके नियमके सम्बन्धमें निर्वाण-ग्रन्थ-में इस प्रकार लिखा है:—

"सतगुर निर्वाण नानक अद्वैतदेवका अखाड़ा है। इस अखाड़ेके बैठनेवाले पंचपरमेश्वर जो हैं सो उनकी कैसी रीति है। सतपुरुष है, अवधूत है, त्यागी वैरागी विहंगम है। उनकी बरतनकी एह मर्यादा है—'धरी धराई, रखी रखाई, मेरी तेरी, पद्या पद्यी जो करे सत्गुर निर्वाण नानक अद्वैतदेवसे तफाओत पड़े' 'धरी धराई, रखी रखाई, मेरी तेरी, पद्या पद्यी जो न करे सत्गुर निर्वाण नानक अद्वैतदेवमें अद्वैतदेव होय रहे।'

विदित हो कि निर्वाणजी-द्वारा बनाए हुए उपर्युक्त नियमका पालन अबतक हो रहा है क्योंकि जब कोई साधु, उदासीन पंचायती बड़े अखाड़ेकी जमातमें सम्मिलित होता है, जिसको झाड़ा-अखाड़ा देना कहते हैं, उस समय उपर्युक्त वाक्योंका उच्चारण करके वह शपथ लेता है।

४—स्थानीय जनताके सार्वजनिक कार्योंमें स्थानके सहयोग—

विद्यालय: स्थानीय जनतामें विद्या-प्रसारके हेतु एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार और प्रसारके लिये स्थानकी ओरसे वर्षोंसे 'प्रियतम विद्यालय'का संचालन हो रहा है जिसमें योग्य और अनुभवी अध्यापक हिन्दी और संस्कृतकी शिक्षा निःशुल्क देते हैं। जरूरतमन्द छात्रोंके

लिये पुस्तकें, भोजन-वस्त्र और निवास आदिका प्रबंध स्थानकी ओरसे होता है।

औषधालय : स्थानीय जनता एवं निर्धन लोगोंकी सेवाके लिये स्थानकी ओरसे एक औषधालयका संचालन हो रहा है जिसका नाम 'प्रियतम औषधालय' है और जिसमेंसे लोगोंको निःशुल्क औषधि वितरित की जाती है। प्रियतम औषधालयमें अति सुयोग्य एवं अनुभवी महात्मा वैद्यका काम करते रहे हैं जिनमें स्वर्गीय श्री निर्वाण फलाहारीजी, महात्मा सुन्दरदासजी, स्वर्गीय श्री बिशनदास तथा श्री ब्रजमोहनदास-जीके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

स्थानीय जनतामें धर्म-प्रचार : उदासीनाचार्य जगद्गुरु भगवान श्रीचन्द्रजी महाराजकी वार्षिक जयन्तीपर तथा दीपावली आदि अन्य पर्वोंके समय स्थानकी ओरसे हवन, यज्ञ, ब्रह्मभोज, सन्त-समागम, वेदान्त एवं धर्मके उपदेशका आयोजन होता है जिसमें वीतराग, तपस्वी एवं मनीषी महात्माओं तथा विद्वानोंके सारगर्भित भाषण एवं उपदेश श्रवण करके स्थानीय जनता कृतकृत्य होती है।

मन्दिर श्री लौंगावाली देवीमें धर्मप्रचार : अखाड़ा संगलवाला-के संस्थापक श्री निर्वाण प्रियतमदासजीके परम शिष्य श्री निर्वाण लौंगदासजी-द्वारा निर्मित टाउन हालके समीप, अमृतसरमें स्थित मन्दिर श्री लौंगावाली देवीमें स्थानकी ओरसे धर्मप्रचार एवं कथा-संकीर्तन प्रायः होता रहता है। इस मन्दिरमें स्थानकी ओरसे चैत्र और आश्विन मासमें नवरात्रके दिनोंमें हवन, यज्ञ, भंडारा, कथा, संकीर्तन, पाठ, दुर्गास्तुति एवं धर्मोपदेशके हेतु विशेष उत्सवका आयोजन होता है जिसमें स्थानीय जनता प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें सम्मिलित होकर लाभ उठाती है।

इन कार्योंके अतिरिक्त स्थानके महन्त स्थानीय जनताके प्रत्येक धार्मिक कृत्यमें यथासम्भव सहायता एवं सहयोग प्रदान करते रहते हैं।

११

'उदासीन सिक्ख नहीं'

जजोंका निर्णय, जनवरी १९२९।

वादी : उदासी।

प्रतिवादी : गुरुद्वारा प्रबन्धक शिरोमणि कमेटी।

जज : फैसला करनेसे पहिले यह उचित होगा कि एक विशेष प्रश्नपर विचार किया जाय कि गुरुद्वारा-कानूनके अनुसार उदासीन सिक्ख हैं अथवा नहीं है ? यहाँपर पहला प्रश्न है कि सिक्ख कहते किसे हैं ?

प्रतिवादी निम्नलिखित रूपसे सिक्ख शब्दकी व्याख्या करते हैं— 'सिक्ख वह है जो आदि ग्रन्थ सिक्खधर्मकी पुस्तकों और दसों गुरुओंपर या कमसे कम नौ गुरुओंपर विश्वास करता हो।'

वादी सिक्ख शब्दकी इस परिभाषाको माननेके लिये तैयार नहीं। उनका कहना है कि यह परिभाषा सिक्खोंकी इसलिये बनाई गई है कि कानूनकी दफा ७ के अनुसार प्रार्थनापत्र देनेवाले स्थानीय कमेटीके प्रबंधकोंके रूपमें चुनाव लड़नेवाले और सदस्य सिक्ख हैं या नहीं ?

तब उदासियोंके प्रति प्रतिवादियोंका यह कहना है कि उदासीन पंथ साधारण रूपसे दसों गुरुओंसे पहले गुरु नानकजीने स्थापित किया है। श्रीगुरु नानक उदासीन फिरकेके मूल थे, बाबा श्रीचन्द्रजी प्रचारक थे और बाबा गुरुदित्ता संगठन करनेवाले थे। श्रीचन्द्र गुरु नानकके बड़े लड़के और बाबा गुरुदित्ता, छठे गुरु, श्री हरगोविन्दके पुत्र थे। गुरु गोविन्दसिंह, गुरुदित्तासमेत एक बार बाबा श्रीचन्द्रजीसे मिले। उन्होंने गुरुसे एक लड़का माँगा। गुरुने गुरुदित्ताको ही उपस्थित कर दिया और श्रीचन्द्रजीने उसको अपनी सेली और टोपी पहना दी। सेली-टोपी उदासीन भेपके लिये हैं। सेली काली उनकी माला है और टोपी सिरका वस्त्र है।

पर वादीका कहना है कि उदासीन भेप आदि कालसे चला आ रहा है जैसा कि रामायण और कूर्मपुराण आदिमें इसका वर्णन मिलता है। बाबा श्रीचन्द्रजीने पुनः इस संप्रदायका उत्थान किया है। बाबा श्रीचन्द्रजी और लक्ष्मीचन्द्र अपने पितासे आरम्भसे ही विद्रोही थे।

और दूसरी बात यह है कि उदासियोंके पूजा-पाठ या नित्यकर्म आदिके साधन भिन्न हैं। सिक्खोंके साथ उनका कोई मेल नहीं बैठता। उदासी जिन वस्तुओंकी पूजा करते हैं वे हैं—

१ – पूज्य पुरुषोंकी समाधियाँ।
२ – बाबा श्रीचन्द्रजीकी मूर्ति।
३ – गोला साहब।

पहले यह भी निवेदन किया गया है कि उदासीन स्वाभाविक रूपसे हिन्दू रीति-रिवाजोंको मानते हैं और हिन्दू रस्मोरिवाजके अनुगामी हैं, जो कि नवीन सभ्यताके सिक्खोंके लिये निषेध किए गए हैं।

गुरु गोविन्दसिंहके समयमें आकर सिक्ख धर्मने एक नई रंगत पकड़ी। गोविन्दसिंहने यह घोषित किया कि यदि कोई हिन्दू धर्म और रीति-रिवाजोंके अनुसार चलेगा, तो वह मेरा सिक्ख नहीं।

करतारसिंहने अपनी पुस्तक श्री गुरु दशमेश-प्रकाश पृ०– २१८ में उन अयोग्यताओंका वर्णन किया है, जो एक सिक्खको अपने धर्मसे च्युत करनेके लिये पर्याप्त हैं। सरदार काहनसिंहने भी ग० ४२ में उनको सही सिद्ध किया है। इसलिये मैं यहाँपर हूब-हू उनकी नकल पेश कर देना चाहता हूँ—

१—वह व्यक्ति, जो देवी-देवताओंके सामने जाकर याचना करता है।

२—वह व्यक्ति, जो गुरु-रीतिपर विश्वास नहीं रखता और गैरसिक्खों तथा अन्यान्य शास्त्रोंको पढ़ता है।

३—वह मेरा सिक्ख नहीं, जो दसों गुरुओंपर विश्वास नहीं रखता और नहीं वह इन गुरुओंके अतिरिक्त और किसी गुरुको धारण कर सकता है।

४—जो गुरुका खालसा न रहकर उदासी आदि भेखोंके पीछे दौड़ता है, वह मेरा शिष्य नहीं।

५—वह जो कि सिक्ख-रहित मर्यादाका पावन्द नहीं, पर फिर भी अपने आपको सिक्ख कहलाता है।

६—वह मेरा सिक्ख नहीं, जो गूगा, सखी, सरोवर अथवा मढ़ी-श्मशान आदिको मानता है।

७—वह, जो व्यक्ति सिक्ख तीर्थस्थानोंको छोड़कर गंगा, गोदावरी आदि जाता है और जो जड़ पदार्थोंको ईश्वरका स्थान देता है अथवा उनकी पूजा करता है, मेरा सिक्ख नहीं।

८—जो स्वयं बड़ा बनकर, दूसरे सिक्खोंसे अपनी पूजा करवाता है, मेरा सिक्ख नहीं।

९—जो गलेमें यज्ञोपवीत और कच्छेकी जगह धोती पहनता है, मेरा सिक्ख नहीं।

१०—वह जो विवाह-शादीके समय देवी-देवताओंकी पूजा करता है, मेरा सिक्ख नहीं।

११—वह जो अपने बच्चों तथा कुटुम्बवालोंको अमृत नहीं पिलाता, मेरा सिक्ख नहीं ।

१२—मरे हुएका श्राद्ध करनेवाला, अस्थियोंको गंगामें प्रवाहित करने वाला मेरा सिक्ख नहीं ।

१३—पंचदेव याग करनेवाला मेरा सिक्ख नहीं ।

१४—अन्न त्यागकर, व्रत रखकर, शरीरको सुखानेवाला मेरा शिष्य नहीं ।

[उदासीन सिक्ख नहीं, पृष्ठ ४७–४८ ।]

उपर्युक्त प्रमाणोंसे प्रकट होता है कि पक्का सिक्ख ही इन नियमोंका पालन करेगा ।

जज : कुछ भी हो, प्रतिज्ञा-पत्रकी ये शर्तें ऐसी हैं, जो सिक्खों और उदासियोंमें काफी भेद सिद्ध करती हैं । सम्भवतः उदासीन दसों गुरुओं और ग्रन्थ साहबमें श्रद्धा रखते हैं, पर हम यह माननेके लिये तैयार नहीं कि उनका और कोई मजहब नहीं । इसलिये उदासी मजहबधारी सिक्ख नहीं कहे जा सकते । वे ग्रन्थ साहबसे अधिक गोला साहब और समाधोंकी पूजा करते हैं । द्रष्टव्यः—पन्थप्रकाश, पृष्ठ ६६६ और मिसल पृष्ठ २४६ ।

उदासी तीन प्रकारके सिक्खोंमें भी नहीं गिने जा सकते । तीन प्रकारके सिक्ख हैं जैसे—तीन प्रकार मम सिप इन सहजे चरणी खण्ड ।

और फिर प्रतिवादी ऐसा कोई प्रमाण पेश नहीं कर सके कि कोई उदासी सिक्खोंकी स्थानीय कमेटीका कभी पदाधिकारी रहा हो । प्रोफेसर जोधसिंह मानते हैं कि कोई उदासी चीफ खालसा दीवानका भी कभी मैम्बर नहीं रहा । द्रष्टव्य : मिसल पृ० १३६ ।

ह्वैट्सनकी रिपोर्ट–मर्दुमशुमारी, सन् १८८१ के भाग १; पृष्ठ २८६ में लिखा है कि उदासियोंको सिक्ख नहीं माना जा सकता । यह विशेष महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि यह उस समय की गई थी जब उदासियों और सिक्खोंमें किसी प्रकारका झगड़ा नहीं था, यह विचार कि उदासी ग्रन्थ साहबको मानते हैं, रखते हैं, पढ़ते हैं, कोई महत्त्व नहीं रखता । गुरु ग्रन्थसाहब केवल सिक्खोंकी ही सम्पत्ति

नहीं। इसमें केवल छह गुरुओंकी वाणी है। शेष वाणियाँ हिन्दू मुसलमान सन्तोंकी है। इसलिये यह पुस्तक हिन्दुओंको भी उतनी ही प्यारी है जितनी कि सिक्खोंको। इसलिये यह कहना उचित नहीं कि 'चूँकि उदासी ग्रन्थ साहबको मानते हैं इसलिये उन्हें सिक्ख [illegible] जाय।'

इसलिये उदासीन हिन्दू साधु अपनी पूजाके कारण, अपनी विशेषताओंके कारण, सिक्खोंमें सम्मिलित नहीं किए जा सकते।

मेरा अन्तिम फैसला यह है कि उदासी सिक्ख नहीं, और यह डेरा सिक्ख गुरुद्वारा नहीं। वादीका २०० रुपया खर्चा में प्रतिवादीपर, वकीलोंकी फीसका डालता हूँ क्योंकि परलोकवासी महन्तने विरोधी पार्टी-द्वारा काफ़ी नुकसान उठाया है।

'उदासीन सिक्ख नहीं' पुस्तकसे साभार उद्धृत

प्रकाशक : सन्त-समाचार, पुस्तक भंडार,

अमृतसर

निम्नांकित सामग्री भी देखिए—

प्रिवी कौंसिलमें अपील नं० १०, १०८-१०६ सन् १६३२

अपील नं० १८६ वर्ष १६३२

निर्णय १२ जनवरी १६३३

अदालत ट्रिब्यूनल, लाहौर : ११ फ़रवरी १६३३

इंडियन लॉ रिपोर्ट १५, लाहौर सन् १६३४ पृ० २४७

ऑल इंडिया रिपोर्ट १६३४ पृ० १३

निर्णय २१ जनवरी सन् १६३६

